

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ॥ २१

प्रत्यादिष्टं^१ मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते ।
तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ ॥ २२

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥ २३

ब्रह्मोवाच

भगवन् सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् ।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम् ॥ २४

तथापि^२ नाथमानस्य नाथ^३ नाथय नाथितम् ।
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः ॥ २५

यथाऽऽत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम् ।
विलुप्यन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना ॥ २६

क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि^४ माधव ॥ २७

भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥ २८

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भो जनम् ।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः ॥ २९

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥ ३०

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥ ३१

हैं। ब्रह्माजी! जीवके समस्त कल्याणकारी साधनोंका विश्राम—पर्यवसान मेरे दर्शनमें ही है ॥ २० ॥ तुमने मुझे देखे बिना ही उस सूने जलमें मेरी वाणी सुनकर इतनी घोर तपस्या की है, इसीसे मेरी इच्छासे तुम्हें मेरे लोकका दर्शन हुआ है ॥ २१ ॥ तुम उस समय सृष्टिरचनाका कर्म करनेमें किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। इसीसे मैंने तुम्हें तपस्या करनेकी आज्ञा दी थी। क्योंकि निष्पाप! तपस्या मेरा हृदय है और मैं स्वयं तपस्याका आत्मा हूँ ॥ २२ ॥ मैं तपस्यासे ही इस संसारकी सृष्टि करता हूँ, तपस्यासे ही इसका धारण-पोषण करता हूँ और फिर तपस्यासे ही इसे अपनेमें लीन कर लेता हूँ। तपस्या मेरी एक दुर्लभ शक्ति है ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीरूपसे विराजमान रहते हैं। आप अपने अप्रतिहत ज्ञानसे यह जानते ही हैं कि मैं क्या करना चाहता हूँ ॥ २४ ॥ नाथ! आप कृपा करके मुझ याचककी यह माँग पूरी कीजिये कि मैं रूपरहित आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको जान सकूँ ॥ २५ ॥ आप मायाके स्वामी हैं, आपका सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपनी मायाका आश्रय लेकर इस विविध-शक्तिसम्पन्न जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेके लिये अपने-आपको ही अनेक रूपोंमें बना देते हैं और क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार आप कैसे करते हैं—इस मर्मको मैं जान सकूँ, ऐसा ज्ञान आप मुझे दीजिये ॥ २६-२७ ॥ आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सजग रहकर सावधानीसे आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ और सृष्टिकी रचना करते समय भी कर्तापन आदिके अभिमानसे बंध न जाऊँ ॥ २८ ॥ प्रभो! आपने एक मित्रके समान हाथ पकड़कर मुझे अपना मित्र स्वीकार किया है। अतः जब मैं आपकी इस सेवा—सृष्टि-रचनामें लगूँ और सावधानीसे पूर्वसृष्टिके गुण-कर्मनुसार जीवोंका विभाजन करने लगूँ, तब कहीं अपनेको जन्म-कर्मसे स्वतन्त्र मानकर प्रबल अभिमान न कर बैठूँ ॥ २९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—अनुभव, प्रेमाभक्ति और साधनोंसे युक्त अत्यन्त गोपनीय अपने स्वरूपका ज्ञान मैं तुम्हें कहता हूँ; तुम उसे ग्रहण करो ॥ ३० ॥ मेरा जितना विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण और लीलाएँ हैं—मेरी कृपासे तुम उनका तत्त्व ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव करो ॥ ३१ ॥

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ ३२

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥ ३३

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूद्यावचेष्टुनु^१ ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥ ३४

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥ ३५

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥ ३६

श्रीशुक^२ उवाच

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् ।
पश्यतस्तस्य तद् रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ॥ ३७

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः ।
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जदं स पूर्ववत् ॥ ३८

प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान् यमान् ।
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत् स्वार्थकाम्यया ॥ ३९

तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः ।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥ ४०

मायां विविदिषन् विष्णोर्मयेशस्य महामुनिः ।
महाभागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत् ॥ ४१

तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् ।
देवर्षिः परिप्रच्छ भवान् यन्मानुपृच्छति^३ ॥ ४२

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम् ।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत् ॥ ४३

सृष्टिके पूर्व केवल मैं-ही-मैं था । मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनोंका कारण अज्ञान । जहाँ यह सृष्टि नहीं है, वहाँ मैं-ही-मैं हूँ और इस सृष्टिके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ ॥ ३२ ॥ वास्तवमें न होनेपर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मामें दो चन्द्रमाओंकी तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है, अथवा विद्यमान होनेपर भी आकाश-मण्डलके नक्षत्रोंमें राहुकी भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिये ॥ ३३ ॥ जैसे प्राणियोंके पञ्चभूतरचित छोटे-बड़े शरीरोंमें आकाशादि पञ्चमहाभूत उन शरीरोंके कार्यरूपसे निर्मित होनेके कारण प्रवेश करते भी हैं और पहलेसे ही उन स्थानों और रूपोंमें कारणरूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते, वैसे ही उन प्राणियोंके शरीरोंमें दृष्टिसे मैं उनमें आत्माके रूपसे प्रवेश किये हुए हूँ और आत्मदृष्टिसे अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ ॥ ३४ ॥ यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं—इस प्रकार निषेधकी पद्धतिसे, और यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है—इस अन्वयकी पद्धतिसे यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं, वही वास्तविक तत्त्व हैं । जो आत्मा अथवा परमात्माका तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जाननेकी आवश्यकता है ॥ ३५ ॥ ब्रह्माजी ! तुम अविचल समाधिके द्वारा मेरे इस सिद्धान्तमें पूर्ण निष्ठा कर लो । इससे तुम्हें कल्प-कल्पमें विविध प्रकारकी सृष्टिरचना करते रहनेपर भी कभी मोह नहीं होगा ॥ ३६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—लोकपितामह ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेश देकर अजन्मा भगवान्ने उनके देखते-ही-देखते अपने उस रूपको छिपा लिया ॥ ३७ ॥ जब सर्वभूतस्वरूप ब्रह्माजीने देखा कि भगवान्ने अपने इन्द्रियगोचर स्वरूपको हमारे नेत्रोंके सामनेसे हटा लिया है, तब उन्होंने अञ्जलि बाँधकर उन्हें प्रणाम किया और पहले कल्पमें जैसी सृष्टि थी, उसी रूपमें इस विश्वकी रचना की ॥ ३८ ॥ एक बार धर्मपति, प्रजापति ब्रह्माजीने सारे जनताका कल्याण हो, अपने इस स्वार्थकी पूर्तिके लिये विधि-पूर्वक यम-नियमोंको धारण किया ॥ ३९ ॥ उस समय उनके पुत्रोंमें सबसे अधिक प्रिय, परम भक्त देवर्षि नारदजीने मायापति भगवान्की मायाका तत्त्व जाननेकी इच्छासे बड़े संयम, विनय और सौम्यतासे अनुगत होकर उनकी सेवा की और उन्होंने सेवासे ब्रह्माजीको बहुत ही सन्तुष्ट कर लिया ॥ ४०-४१ ॥ परीक्षित ! जब देवर्षि नारदने देखा कि मेरे लोकपितामह पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, तब उन्होंने उनसे यही प्रश्न किया, जो तुम मुझसे कर रहे हो ॥ ४२ ॥ उनके प्रश्नसे ब्रह्माजी और भी प्रसन्न हुए । फिर उन्होंने यह दस लक्षणवाला भागवतपुराण अपने पुत्र नारदको सुनाया,

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप ।
 ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे ॥ ४४
 यदुताहं त्वया पृष्ठो वैराजात् पुरुषादिदम् ।
 यथाऽऽसीत्तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः ॥ ४५

जिसका स्वयं भगवान् ने उन्हें उपदेश किया था ॥ ४३ ॥ परीक्षित ! जिस समय मैं परमतेजस्वी पिता सरस्वतीके तटपर बैठकर परमात्माके ध्यानमें मग्न थे, उस समय देवर्षि नारदजीने वही भागवत उन्हें सुनाया ॥ ४४ ॥ तुमने मुझसे जो यह प्रश्न किया है कि विराट्पुरुषसे इस जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई तथा दूसरे भी जो बहुत-से प्रश्न किये हैं, उन सबका उत्तर मैं उसी भागवतपुराणके रूपमें देता हूँ ॥ ४५ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे^१ नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



अथ दशमोऽध्यायः

भागवतके दस लक्षण

श्रीशुक^२ उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
 मन्वन्तरेऽशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥ १

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
 वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥ २

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
 ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥ ३

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
 मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥ ४

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्^३ ।
 सतापीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ ५

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
 मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥ ६

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते^४ ।
 स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दते^५ ॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! इस भावगतपुराणमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दस विषयोंका वर्णन है ॥ १ ॥ इनमें जो दसवाँ आश्रय-तत्त्व है, उसका ठीक-ठीक निश्चय करनेके लिये कहीं श्रुतिसे, कहीं तात्पर्यसे और कहीं दोनोंके अनुकूल अनुभवसे महात्माओंने अन्य नौ विषयोंका बड़ी सुगम रीतिसे वर्णन किया है ॥ २ ॥ ईश्वरकी प्रेरणासे गुणोंमें क्षोभ होकर रूपात्तर होनेसे जो आकाशादि पञ्चभूत, शब्दादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहङ्कार और महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, उसको 'सर्ग' कहते हैं। उस विराट् पुरुषसे उत्पन्न ब्रह्माजीके द्वारा जो विभिन्न चराचर सृष्टियोंका निर्माण होता है, उसका नाम है 'विसर्ग' ॥ ३ ॥ प्रतिपद नाशकी ओर बढ़नेवाली सृष्टिको एक मर्यादामें स्थिर रखनेसे भगवान् विष्णुको जो श्रेष्ठता सिद्ध होती है, उसका नाम 'स्थान' है। अपने द्वारा सुरक्षित सृष्टिमें भक्तोंके ऊपर उनकी जो कृपा होती है, उसका नाम है 'पोषण'। मन्वन्तरोंके अधिपति जो भगवद्धक्ति और प्रजापालनरूप शुद्ध धर्मका अनुष्ठान करते हैं, उसे 'मन्वन्तर' कहते हैं। जीवोंकी वे वासनाएँ, जो कर्मके द्वारा उन्हें बन्धनमें डाल देती हैं, 'ऊति' नामसे कही जाती हैं ॥ ४ ॥ भगवान् के विभिन्न अवतारोंके और उनके प्रेमी भक्तोंकी विविध आख्यानोंसे युक्त गाथाएँ 'ईशकथा' हैं ॥ ५ ॥ जब भगवान् योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब इस जीवका अपनी उपाधियोंके साथ उसमें लीन हो जाना 'निरोध' है। अज्ञानकल्पित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्मभावका परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मामें स्थित होना ही 'मुक्ति' है ॥ ६ ॥ परीक्षित ! इस चराचर जगत्की उत्पत्ति और प्रलय जिस तन्त्रमें प्रकाशित होते हैं, वह परम ब्रह्म ही

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो^१ ह्याधिभौतिकः ॥ ८

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥ ९

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः^२ ।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्त्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥ १०

तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान् ।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥ ११

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥ १२

एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः ।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा ॥ १३

अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः ।
यथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु ॥ १४

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः ।
ओजः सहो बलं जज्ञे^३ ततः प्राणो महानसुः ॥ १५

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु ।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः ॥ १६

प्राणेन क्षिपता क्षुत् तृडन्तरा जायते प्रभोः^४ ।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥ १७

मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते ।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥ १८

विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग् व्याहतं तयोः ।
जले वै तस्य^५ सुचिरं निरोधः समजायत ॥ १९

‘आश्रय’ है। शास्त्रोंमें उसीको परमात्मा कहा गया है ॥ ७ ॥ जो नेत्र आदि इन्द्रियोंका अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता सूर्य आदिके रूपमें भी है और जो नेत्रगोलक आदिसे युक्त दृश्य देह है, वही उन दोनोंको अलग-अलग करता है ॥ ८ ॥ इन तीनोंमें यदि एकका भी अभाव हो जाय तो दूसरे दोकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः जो इन तीनोंको जानता है, वह परमात्मा ही सबका अधिष्ठान ‘आश्रय’ तत्त्व है। उसका आश्रय वह स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं ॥ ९ ॥

जब पूर्वोक्त विराट् पुरुष ब्रह्माण्डको फोड़कर निकला, तब वह अपने रहनेका स्थान ढूँढने लगा और स्थानकी इच्छासे उस शुद्ध-सङ्कल्प पुरुषने अत्यन्त पवित्र जलकी सृष्टि की ॥ १० ॥ विराट् पुरुषरूप ‘नर’ से उत्पन्न होनेके कारण ही जलका नाम ‘नार’ पड़ा और उस अपने उत्पन्न किये हुए ‘नार’में वह पुरुष एक हजार वर्षोंतक रहा, इसीसे उसका नाम ‘नारायण’ हुआ ॥ ११ ॥ उन नारायणभगवान्की कृपासे ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव आदिकी सत्ता है। उनके उपेक्षा कर देनेपर और किसीका अस्तित्व नहीं रहता ॥ १२ ॥ उन अद्वितीय भगवान् नारायणने योगनिद्रासे जगकर अनेक होनेकी इच्छा की तब अपनी मायासे उन्होंने अखिल ब्रह्माण्डके बीजस्वरूप अपने सुवर्णमय वीर्यको तीन भागोंमें विभक्त कर दिया— अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत। परीक्षित् ! विराट् पुरुषका एक ही वीर्य तीन भागोंमें कैसे विभक्त हुआ, सो सुनो ॥ १३-१४ ॥

विराट् पुरुषके हिलने-डोलनेपर उनके शरीरमें रहनेवाले आकाशसे इन्द्रियबल, मनोबल और शरीरबलकी उत्पत्ति हुई। उनसे इन सबका राजा प्राण उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥ जैसे सेवक अपने स्वामी राजाके पीछे-पीछे चलते हैं, वैसे ही सबके शरीरोंमें प्राणके प्रबल रहनेपर ही सारी इन्द्रियाँ प्रबल रहती हैं और जब वह सुस्त पड़ जाता है, तब सारी इन्द्रियाँ भी सुस्त हो जाती हैं ॥ १६ ॥ जब प्राण जोरसे आने-जाने लगा, तब विराट् पुरुषको भूख-प्यासका अनुभव हुआ। खाने-पीनेकी इच्छा करते ही सबसे पहले उनके शरीरमें मुख प्रकट हुआ ॥ १७ ॥ मुखसे तालु और तालुसे रसनेन्द्रिय प्रकट हुई। इसके बाद अनेकों प्रकारके रस उत्पन्न हुए, जिन्हें रसना ग्रहण करती है ॥ १८ ॥ जब उनकी इच्छा बोलनेकी हुई तब वाक्-इन्द्रिय, उसके अधिष्ठातृ-देवता अग्नि और उनका विषय बोलना—ये तीनों प्रकट हुए। इसके बाद बहुत दिनोंतक उस जलमें ही वे रुके रहे ॥ १९ ॥

नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति ।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥ २०

यदाऽऽत्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः ।
निर्भिन्ने हाक्षिणी^१ तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः ॥ २१

बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः ।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः ॥ २२

वस्तुनो मृदुकाठिन्यलघुगुर्वोष्णशीतताम् ।
जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः ।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्धगुणो वृतः ॥ २३

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया ।
तयोस्तु बलमिन्द्रश्च^२ आदानमुभयाश्रयम् ॥ २४

गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् ।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः^३ ॥ २५

निरभिद्यत शिश्रो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः ।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥ २६

उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम् ।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥ २७

आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः ।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ॥ २८

आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः ।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ॥ २९

श्वासके वेगसे नासिका-छिद्र प्रकट हो गये । जब उन्हें सूँघनेकी इच्छा हुई, तब उनकी नाक घ्राणेन्द्रिय आकर बैठ गयी और उसके देवता गन्धको फैलानेवाले वायुदेव प्रकट हुए ॥ २० ॥ पहले उनके शरीरमें प्रकाश नहीं था; फिर जब उन्हें अपनेको तथा दूसरी वस्तुओंको देखनेकी इच्छा हुई, तब नेत्रोंके छिद्र, उनका अधिष्ठाता सूर्य और नेत्रेन्द्रिय प्रकट हो गये । इन्हींसे रूपका ग्रहण होने लगा ॥ २१ ॥ जब वेदरूप ऋषि विराट् पुरुषको स्तुतियोंके द्वारा जगाने लगे, तब उन्हें सुननेकी इच्छा हुई । उसी समय कान, उनकी अधिष्ठाता-देवता दिशाएँ और श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हुई । इसीसे शब्द सुनायी पड़ता है ॥ २२ ॥ जब उन्होंने वस्तुओंकी कोमलता, कठिनता, हलकापन, भारीपन, उष्णता और शीतलता आदि जाननी चाही तब उनके शरीरमें चर्म प्रकट हुआ । पृथ्वीमेंसे जैसे वृक्ष निकल आते हैं, उसी प्रकार उस चर्ममें रोएँ पैदा हुए और उसके भीतर-बाहर रहनेवाला वायु भी प्रकट हो गया । स्पर्श ग्रहण करनेवाली त्वचा-इन्द्रिय भी साथ-ही-साथ शरीरमें चारों ओर लिपट गयी और उससे उन्हें स्पर्शका अनुभव होने लगा ॥ २३ ॥ जब उन्हें अनेकों प्रकारके कर्म करनेकी इच्छा हुई, तब उनके हाथ उग आये । उन हाथोंमें ग्रहण करनेकी शक्ति हस्तेन्द्रिय तथा उनके अधिदेवता इन्द्र प्रकट हुए और दोनोंके आश्रयसे होनेवाला ग्रहणरूप कर्म भी प्रकट हो गया ॥ २४ ॥ जब उन्हें अभीष्ट स्थानपर जानेकी इच्छा हुई, तब उनके शरीरमें पैर उग आये । चरणोंके साथ ही चरण-इन्द्रियके अधिष्ठातारूपमें वहाँ स्वयं यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु स्थित हो गये और उन्हींमें चलनारूप कर्म प्रकट हुआ । मनुष्य इसी चरणेन्द्रियसे चलकर यज्ञ-सामग्री एकत्र करते हैं ॥ २५ ॥ सन्तान, रति और स्वर्ग-भोगकी कामना होनेपर विराट् पुरुषके शरीरमें लिङ्गकी उत्पत्ति हुई । उसमें उपस्थेन्द्रिय और प्रजापति देवता तथा इन दोनोंके आश्रय रहनेवाले कामसुखका आविर्भाव हुआ ॥ २६ ॥ जब उन्हें मलत्यागकी इच्छा हुई, तब गुदाद्वार प्रकट हुआ । तत्पश्चात् उसमें पायु-इन्द्रिय और मित्र-देवता उत्पन्न हुए । इन्हीं दोनोंके द्वारा मलत्यागकी क्रिया सम्पन्न होती है ॥ २७ ॥ अपानमार्ग-द्वारा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी इच्छा होनेपर नाभिद्वार प्रकट हुआ । उससे अपान और मृत्यु देवता प्रकट हुए । इन दोनोंके आश्रयसे ही प्राण और अपानका बिछोह यानी मृत्यु होती है ॥ २८ ॥ जब विराट् पुरुषको अन्न-जल ग्रहण करनेकी इच्छा हुई, तब कोख, अर्ति और नाड़ियाँ उत्पन्न हुई । साथ ही कुक्षिके देवता समुद्र, नाड़ियोंके देवता नदियाँ एवं तुष्टि और पुष्टि—ये दोनों उनके आश्रित विषय उत्पन्न

निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत ।
ततो मनस्ततश्चन्द्रः^१ सङ्कल्पः काम एव च ॥ ३०

त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः ।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः ॥ ३१

गुणात्मकानीन्द्रियाणि^२ भूतादिप्रभवा गुणाः ।
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी ॥ ३२

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया ।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥ ३३

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् ।
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥ ३४

अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते ।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः ॥ ३५

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् ।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥ ३६

प्रजापतीन्मनून् देवानृषीन् पितृगणान् पृथक् ।
सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान् ॥ ३७

किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषोरगान् ।
मातृ^३ रक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान् ॥ ३८

कूष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि ।
खगान्मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्पशून् सरीसृपान् ॥ ३९

द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः ।
कुशलाकुशला^४ मिश्राः कर्मणां गतयस्त्रिधा ॥ ४०

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः ।
तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ।

यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते ॥ ४१

हुए ॥ २९ ॥ जब उन्होंने अपनी मायापर विचार करना चाहा, तब हृदयकी उत्पत्ति हुई। उससे मनरूप इन्द्रिय और मनसे उसका देवता चन्द्रमा तथा विषय कामना और सङ्कल्प प्रकट हुए ॥ ३० ॥ विराट्पुरुषके शरीरमें पृथ्वी, जल और तेजसे सात धातुएँ प्रकट हुई—त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि। इसी प्रकार आकाश, जल और वायुसे प्राणोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ३१ ॥ श्रोत्रादि सब इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाली हैं। वे विषय अहङ्कारसे उत्पन्न हुए हैं। मन सब विकारोंका उत्पत्तिस्थान है और बुद्धि समस्त पदार्थोंका बोध करानेवाली है ॥ ३२ ॥ मैंने भगवान्के इस स्थूलरूपका वर्णन तुम्हें सुनाया है। यह बाहरकी ओरसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति—इन आठ आवरणोंसे घिरा हुआ है ॥ ३३ ॥ इससे परे भगवान्का अत्यन्त सूक्ष्मरूप है। वह अव्यक्त, निर्विशेष, आदि, मध्य और अन्तसे रहित एवं नित्य है। वाणी और मनकी वहाँतक पहुँच नहीं है ॥ ३४ ॥

मैंने तुम्हें भगवान्के स्थूल और सूक्ष्म—व्यक्त और अव्यक्त जिन दो रूपोंका वर्णन सुनाया है, ये दोनों ही भगवान्की मायाके द्वारा रचित हैं। इसलिये विद्वान् पुरुष इन दोनोंको ही स्वीकार नहीं करते ॥ ३५ ॥ वास्तवमें भगवान् निष्क्रिय हैं। अपनी शक्तिसे ही वे सक्रिय बनते हैं। फिर तो वे ब्रह्माका या विराट् रूप धारण करके वाच्य और वाचक—शब्द और उसके अर्थके रूपमें प्रकट होते हैं और अनेकों नाम, रूप तथा क्रियाएँ स्वीकार करते हैं ॥ ३६ ॥ परीक्षित् ! प्रजापति, मनु, देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष, किन्नर, अप्सराएँ, नाग, सर्प, किम्पुरुष, उरग, मातृकाएँ, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्माण्ड, उन्माद, वेताल, यातुधान, ग्रह, पक्षी, मृग, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसृप इत्यादि जितने भी संसारमें नाम-रूप हैं, सब भगवान्के ही हैं ॥ ३७—३९ ॥ संसारमें चर और अचर भेदसे दो प्रकारके तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेदसे चार प्रकारके जितने भी जलचर, थलचर तथा आकाशचारी प्राणी हैं, सब-के-सब शुभ-अशुभ और मिश्रित कर्मोंके तदनुरूप फल हैं ॥ ४० ॥ सत्त्वकी प्रधानतासे देवता, रजोगुणकी प्रधानतासे मनुष्य और तमोगुणकी प्रधानतासे नारकीय योनियाँ मिलती हैं। इन गुणोंमें भी जब एक गुण दूसरे दो गुणोंसे अभिभूत हो जाता है, तब प्रत्येक गतिके तीन-तीन भेद और हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक् ।
पुष्पाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्मनसुरात्मभिः^१ ॥४२॥

ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः ।
संनियच्छति कालेन^२ घनानीकमिवानिलः ॥४३॥

इत्थंभावेन कथितो भगवान् भगवत्तमैः ।
नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ॥४४॥

नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते ।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत् ॥४५॥

अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः ।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः ॥४६॥

परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम् ।
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पादं कल्पमथो^३ शृणु ॥ ४७॥

शौनक उवाच

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।
चचारतीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून्^४ सुदुस्त्यजान् ॥४८॥

कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः^५ ।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥४९॥

ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम् ।
बन्धुत्यागनिमित्तं च तथैवागतवान् पुनः ॥५०॥

सूत उवाच

राजा परीक्षिता पृष्ठो यदवोचन्महामुनिः ।
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥५१॥

वे भगवान् जगत्के धारण-पोषणके लिये धर्ममय विष्णुरूप स्वीकार करके देवता, मनुष्य और पशु, पक्षी आदि रूपोंमें अवतार लेते हैं तथा विश्वका पालन-पोषण करते हैं ॥ ४२ ॥ प्रलयका समय आनेपर वे ही भगवान् अपने बनाये हुए इस विश्वको कालाग्निस्वरूप रुद्रका रूप ग्रहण करके अपनेमें वैसे ही लीन कर लेते हैं, जैसे वायु मेघमालाको ॥ ४३ ॥

परीक्षित् ! महात्माओंने अचिन्त्यैश्वर्य भगवान्का इसी प्रकार वर्णन किया है । परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुषोंको केवल इस सृष्टि, पालन और प्रलय करनेवाले रूपमें ही उनका दर्शन नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे तो इससे परे भी हैं ॥ ४४ ॥ सृष्टिकी रचना आदि कर्मोंका निरूपण करके पूर्ण परमात्मासे कर्म या कर्तापनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है । वह तो मायासे आरोपित होनेके कारण कर्तृत्वका निषेध करनेके लिये ही है ॥ ४५ ॥ यह मैंने ब्रह्माजीके महाकल्पका अवान्तर कल्पोंके साथ वर्णन किया है । सब कल्पोंमें सृष्टि-क्रम एक-सा ही है । अन्तर है तो केवल इतना ही कि महाकल्पके प्रारम्भमें प्रकृतिसे क्रमशः महत्तत्त्वादिकी उत्पत्ति होती है और कल्पोंके प्रारम्भमें प्राकृत सृष्टि तो ज्यों-की-त्यों रहती ही है, चराचर प्राणियोंकी वैकृत सृष्टि नवीन रूपसे होती है ॥ ४६ ॥ परीक्षित् ! कालका परिमाण, कल्प और उसके अन्तर्गत मन्वन्तरोका वर्णन आगे चलकर करेंगे । अब तुम पादकल्पका वर्णन सावधान होकर सुनो ॥ ४७ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतजी ! आपने हमलोगोंसे कहा था कि भगवान्के परम भक्त विदुरजीने अपने अति दुस्त्वज कुटुम्बियोंको भी छोड़कर पृथ्वीके विभिन्न तीर्थोंमें विचरण किया था ॥ ४८ ॥ उस यात्रामें मैत्रेय ऋषिके साथ अध्यात्मके सम्बन्धमें उनकी बातचीत कहाँ हुई तथा मैत्रेयजीने उनके प्रश्न करनेपर किस तत्त्वका उपदेश किया ? ॥ ४९ ॥ सूतजी ! आपका स्वभाव बड़ा सौम्य है । आप विदुरजीका वह चरित्र हमें सुनाइये । उन्होंने अपने भाई-बन्धुओंको क्यों छोड़ा और फिर उनके पास क्यों लौट आये ? ॥ ५० ॥

सूतजीने कहा—शौनकादि ऋषियो ! राजा परीक्षित्ने भी यही बात पूछी थी । उनके प्रश्नोके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी महाराजने जो कुछ कहा था, वही मैं आपलोगोंसे कहता हूँ । सावधान होकर सुनिये ॥ ५१ ॥

—★—

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां^६ पारमहंस्यां संहितायां

द्वितीयस्कन्धे पुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

—::X::—

इति द्वितीयः स्कन्धः समाप्तः ।

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

—★—
तृतीयः स्कन्धः
—★—

अथ प्रथमोऽध्यायः

उद्धव और विदुरकी भेंट

श्रीशुक उवाच

एवमेतत्पुरा पृष्ठो मैत्रेयो भगवान् किल ।
क्षत्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥ १

यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥ २

राजोवाच

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः ।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो ॥ ३

न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः ।
तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः ॥ ४

सूत उवाच

स एवमृषिवर्योऽयं पृष्ठो राजा परीक्षिता ।
प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ५

श्रीशुक उवाच

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्
पुष्पन्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः ।
भ्रातुर्यविष्टस्य सुतान् विबन्धून्
प्रवेश्य लाक्षाभवनं ददाह ॥ ६

यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः
केशाभिमर्शं सुतकर्म गह्वरम् ।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः
स्वास्त्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥ ७

श्रीशुकदेवजीने कहा — परीक्षित ! जो बात तुमने पूछी है, वही पूर्वकालमें अपने सुख-समृद्धिसे पूर्ण घरको छोड़कर वनमें गये हुए विदुरजीने भगवान् मैत्रेयजीसे पूछी थी ॥ १ ॥ जब सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके दूत बनकर गये थे, तब वे दुर्योधनके महलोंको छोड़कर, उसी विदुरजीके घरमें उसे अपना ही समझकर बिना बुलाये चले गये थे ॥ २ ॥

राजा परीक्षितने पूछा — प्रभो ! यह तो बतलाइये कि भगवान् मैत्रेयके साथ विदुरजीका समागम कहाँ और किस समय हुआ था ? ॥ ३ ॥ पवित्रात्मा विदुरने महात्मा मैत्रेयजीसे कोई साधारण प्रश्न नहीं किया होगा; क्योंकि उसे तो मैत्रेयजी-जैसे साधुशिरोमणिने अभिनन्दनपूर्वक उत्तर देकर महिमान्वित किया था ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं — सर्वज्ञ शुकदेवजीने राजा परीक्षितके इस प्रकार पूछनेपर अति प्रसन्न होकर कहा — सुनो ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहने लगे — परीक्षित ! यह उन दिनोंकी बात है, जब अन्धे राजा धृतराष्ट्रने अन्यायपूर्वक अपने दुष्ट पुत्रोंका पालन-पोषण करते हुए अपने छोटे भाई पाण्डुके अनाथ बालकोंको लाक्षाभवनमें भेजकर आग लगवा दी ॥ ६ ॥ जब उनकी पुत्रवधू और महाराज युधिष्ठिरकी पटरानी द्रौपदीके केश दुःशासनने भरी सभामें खींचे, उस समय द्रौपदीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और उस प्रवाहसे उसके वक्षःस्थलपर लगा हुआ केसर भी बह चला; किन्तु धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको उस कुकर्मसे नहीं रोका ॥ ७ ॥

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः
सत्यावलम्बस्य वनागतस्य ।
न याचतोऽदात्समयेन दायं
तमो जुषाणो यदजातशत्रोः ॥ ८

यदा च पार्थप्रहितः सभायां
जगदुर्यानि जगाद कृष्णः ।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः ॥ ९

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो
मन्त्राय पृष्ठः किल पूर्वजेन ।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥ १०

अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं
तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः ।
सहानुजो^१ यत्र वृकोदराहिः
श्वसन् रुषा यत्त्वमलं बिभेषि ॥ ११

पार्थास्तु देवो भगवान्मुकुन्दो
गृहीतवान् सक्षितिदेवदेवः ।
आस्ते स्वपुर्या यदुदेवदेवो
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥ १२

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।
पुष्पासि कृष्णाद्विमुखो गतश्री-
स्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ॥ १३

इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन
प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः^२
क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ॥ १४

दुर्योधनने सत्यपरायण और भोले-भाले युधिष्ठिरका राज्य जूएमें अन्यायसे जीत लिया और उन्हें वनमें निकाल दिया । किन्तु वनसे लौटनेपर प्रतिज्ञानुसार जब उन्होंने अपना न्यायोचित पैतृक भाग माँगा, तब भी मोहवश उन्होंने उन अजातशत्रु युधिष्ठिरको उनका हिस्सा नहीं दिया ॥ ८ ॥ महाराज युधिष्ठिरके भेजनेपर जब जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने कौरवोंकी सभामें हितभरे सुमधुर वचन कहे, जो भीष्मादि सज्जनोंको अमृत-से लगे, पर कुरुराजने उनके कथनको कुछ भी आदर नहीं दिया । देते कैसे ? उनके तो सारे पुण्य नष्ट हो चुके थे ॥ ९ ॥ फिर जब सलाहके लिये विदुरजीको बुलाया गया, तब मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ विदुरजीने राज्यभवनमें जाकर बड़े भाई धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें वह सम्मति दी, जिसे नीति-शास्त्रके जाननेवाले पुरुष 'विदुरनीति' कहते हैं ॥ १० ॥

उन्होंने कहा — 'महाराज ! आप अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिरको उनका हिस्सा दे दीजिये । वे आपके न सहनेयोग्य अपराधको भी सह रहे हैं । भीमरूप काले नागसे तो आप भी बहुत डरते हैं; देखिये, वह अपने छोटे भाइयोंके सहित बदला लेनेके लिये बड़े क्रोधसे फुफ्फुआँ मार रहा है ॥ ११ ॥ आपको पता नहीं, भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंको अपना लिया है । वे यदुवीरोंके आराध्यदेव इस समय अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें विराजमान हैं । उन्होंने पृथ्वीके सभी बड़े-बड़े राजाओंको अपने अधीन कर लिया है तथा ब्राह्मण और देवता भी उन्हींके पक्षमें हैं ॥ १२ ॥ जिसे आप पुत्र मानकर पाल रहे हैं तथा जिसकी हाँ-में-हाँ मिलाते जा रहे हैं, उस दुर्योधनके रूपमें तो मूर्तिमान् दोष ही आपके घरमें घुसा बैठा है । यह तो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष करनेवाला है । इसीके कारण आप भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख होकर श्रीहीन हो रहे हैं । अतएव यदि आप अपने कुलकी कुशल चाहते हैं तो इस दुष्टको तुरन्त ही त्याग दीजिये' ॥ १३ ॥

विदुरजीका ऐसा सुन्दर स्वभाव था कि साधुजन भी उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते थे । किन्तु उनकी यह बात सुनते ही कर्ण, दुःशासन और शकुनिके सहित दुर्योधनके होठ अत्यन्त क्रोधसे फड़कने लगे और उसने उनका तिरस्कार करते हुए कहा — 'अरे ! इस कुटिल दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया है ? यह जिनके टुकड़े

क एनमत्रोपजुहाव जिह्वां
दास्याः सुतं यद्वलिनैव पुष्टः ।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते
निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः ॥ १५

स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-
भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां
गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ॥ १६

स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो
गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि ।
अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्या
स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः ॥ १७

पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-
ष्वपङ्क्तोयेषु सरित्सरःसु ।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु
चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ॥ १८

गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाऽऽप्नुतोऽधःशयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चरे हरितोषणानि ॥ १९

इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्ष
कालेन यावद्गतवान् प्रभासम् ।
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रा-
मेकातपत्रामजितेन पार्थः ॥ २०

तत्राथ^१ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं
वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम्^२ ।
संस्पर्धया दग्धमथानुशोचन्
सरस्वतीं प्रत्यगियाय^३ तूष्णीम् ॥ २१

खा-खाकर जीता है, उन्हींके प्रतिकूल होकर शत्रुका काम बनाना चाहता है। इसके प्राण तो मत लो, परंतु इसे हमारे नगरसे तुरन्त बाहर निकाल दो' ॥ १४-१५ ॥ भाईके सामने ही कानोंमें बाणके समान लगानेवाले इन अत्यन्त कटोर वचनोंसे मर्माहत होकर भी विदुरजीने कुछ बुरा न माना और भगवान्की मायाको प्रबल समझकर अपना धनुष राजद्वारपर रख वे हस्तिनापुरसे चल दिये ॥ १६ ॥ कौरवोंको विदुर-जैसे महात्मा बड़े पुण्यसे प्राप्त हुए थे। वे हस्तिनापुरसे चलकर पुण्य करनेकी इच्छासे भूमण्डलमें तीर्थपाद भगवान्के क्षेत्रोंमें विचरने लगे, जहाँ श्रीहरि, ब्रह्मा, रुद्र, अनन्त आदि अनेकों मूर्तियोंके रूपमें विराजमान हैं ॥ १७ ॥ जहाँ-जहाँ भगवान्की प्रतिमाओंसे सुशोभित तीर्थस्थान, नगर, पवित्र वन, पर्वत, निकुञ्ज और निर्मल जलसे भरे हुए नदी-सरोवर आदि थे, उन सभी स्थानोंमें वे अकेले ही विचरते रहे ॥ १८ ॥ वे अवधूत-वेषमें स्वच्छन्दता-पूर्वक पृथ्वीपर विचरते थे, जिससे आत्मीय-जन उन्हें पहचान न सकें। वे शरीरको सजाते न थे, पवित्र और साधारण भोजन करते, शुद्धवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते, प्रत्येक तीर्थमें स्नान करते, जमीनपर सोते और भगवान्को प्रसन्न करनेवाले व्रतोंका पालन करते रहते थे ॥ १९ ॥

इस प्रकार भारतवर्षमें ही विचरते-विचरते जबतक वे प्रभासक्षेत्रमें पहुँचे, तबतक भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे महाराज युधिष्ठिर पृथ्वीका एकच्छत्र अखण्ड राज्य करने लगे थे ॥ २० ॥ वहाँ उन्होंने अपने कौरव बन्धुओंके विनाशका समाचार सुना, जो आपसकी कलहके कारण परस्पर लड़-भिड़कर उसी प्रकार नष्ट हो गये थे, जैसे अपनी ही रगड़से उत्पन्न हुई आगसे बाँसोंका सारा जंगल जलकर खाक हो जाता है। यह सुनकर वे शोक करते हुए चुपचाप सरस्वतीके तीरपर आये ॥ २१ ॥

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च
पृथोरथाग्रेरसितस्य वायोः ।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य
यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ॥२२॥

अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः
कृतानि नानायतनानि विष्णोः ।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि
यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ॥२३॥

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं
सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ॥२४॥

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक् तनयं प्रतीतम् ।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं
स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥२५॥

कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाथ्य-
पाद्यानुवृत्त्येह किलावन्तीणौ ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय
कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ॥२६॥

कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः ।
यो वै स्वसृणां पितृवद्ददाति
वरान् वदान्यो वरतर्पणेन ॥२७॥

कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां
प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः ।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे
आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे ॥२८॥

कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोज-
दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते ।
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो
नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ॥२९॥

वहाँ उन्होंने त्रित, उशना, मनु, पृथु, अग्रि, असित, वायु, सुदास, गौ, गुह और श्राद्धदेवके नामोंसे प्रसिद्ध ग्यारह तीर्थोंका सेवन किया ॥ २२ ॥ इनके सिवा पृथ्वीमें ब्राह्मण और देवताओंके स्थापित किये हुए जो भगवान् विष्णुके और भी अनेकों मन्दिर थे, जिनके शिखरोंपर भगवान्के प्रधान आयुध चक्रके चिह्न थे और जिनके दर्शनमात्रसे श्रीकृष्णका स्मरण हो आता था, उनका भी सेवन किया ॥ २३ ॥ वहाँसे चलकर वे धन-धान्यपूर्ण सौराष्ट्र, सौवीर, मत्स्य और कुरुजाङ्गल आदि देशोंमें होते हुए जब कुछ दिनोंमें यमुना-तटपर पहुँचे, तब वहाँ उन्होंने परमभागवत उद्धवजीका दर्शन किया ॥ २४ ॥ वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रख्यात सेवक और अत्यन्त शान्तस्वभाव थे। वे पहले बृहस्पतिजीके शिष्य रह चुके थे। विदुरजीने उन्हें देखकर प्रेमसे गाढ़ आलिङ्गन किया और उनसे अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

विदुरजी कहने लगे—उद्धवजी! पुराणपुरुष बलरामजी और श्रीकृष्णने अपने ही नाभिकमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे इस जगत्में अवतार लिया है। वे पृथ्वीका भार उतारकर सबको आनन्द देते हुए अब श्रीवसुदेवजीके घर कुशलसे रह रहे हैं न? ॥ २६ ॥ प्रियवर! हम कुरुवंशियोंके परम सुहृद् और पूज्य वसुदेवजी, जो पिताके समान उदारतापूर्वक अपनी कुन्ती आदि बहिनोंको उनके स्वामियोंका सन्तोष कराते हुए उनकी सभी मनचाही वस्तुएँ देते आये हैं, आनन्दपूर्वक हैं न? ॥ २७ ॥ प्यारे उद्धवजी! यादवोंके सेनापति वीरवर प्रद्युम्नजी तो प्रसन्न हैं न, जो पूर्वजन्ममें कामदेव थे तथा जिन्हें देवी रुक्मिणीजीने ब्राह्मणोंकी आराधना करके भगवान्से प्राप्त किया था ॥ २८ ॥ सात्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्हवंशी यादवोंके अधिपति महाराज उग्रसेन तो सुखसे हैं न, जिन्होंने राज्य पानेकी आशाका सर्वथा परित्याग कर दिया था किंतु कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने जिन्हें फिरसे राजसिंहासनपर बैठाया ॥ २९ ॥

कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या
देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे ॥ ३०

क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।
लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ॥ ३१

कच्चिद् बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते
श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसु-
ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ॥ ३२

कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या
विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं
त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ॥ ३३

अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो
यः सात्वतां कामदुधोऽनिरुद्धः ।
यमामनन्ति स्म ह^१ शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ॥ ३४

अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-
मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण-
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ॥ ३५

अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ॥ ३६

सौम्य ! अपने पिता श्रीकृष्णके समान समस्त रथियोंमें अग्रगण्य श्रीकृष्णतनय साम्ब सकुशल तो हैं ? ये पहले पार्वतीजीके द्वारा गर्भमें धारण किये हुए स्वामिकार्तिक हैं । अनेकों व्रत करके जाम्बवतीने इन्हें जन्म दिया था ॥ ३० ॥ जिन्होंने अर्जुनसे रहस्ययुक्त धनुर्विद्याकी शिक्षा पायी है, वे सात्यकि तो कुशलपूर्वक हैं ? वे भगवान् श्रीकृष्णकी सेवासे अनायास ही भगवज्जनोंकी उस महान् स्थितिपर पहुँच गये हैं, जो बड़े-बड़े योगियोंको भी दुर्लभ है ॥ ३१ ॥ भगवान्के शरणागत निर्मल भक्त बुद्धिमान् अक्रूरजी भी प्रसन्न हैं न, जो श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंसे अङ्कित व्रजके मार्गकी रजमें प्रेमसे अधीर होकर लोटने लगे थे ? ॥ ३२ ॥ भोजवंशी देवककी पुत्री देवकीजी अच्छी तरह हैं न, जो देवमाता अदितिके समान ही साक्षात् विष्णुभगवान्की माता हैं ? जैसे वेदत्रयी यज्ञविस्ताररूप अर्थको अपने मन्त्रोंमें धारण किये रहती है, उसी प्रकार उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको अपने गर्भमें धारण किया था ॥ ३३ ॥ आप भक्तजनोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले भगवान् अनिरुद्धजी सुखपूर्वक हैं न, जिन्हें शास्त्र वेदोंके आदिकारण और अन्तःकरणचतुष्टयके चौथे अंश मनके अधिष्ठाता बतलाते हैं* ॥ ३४ ॥ सौम्यस्वभाव उद्धवजी ! अपने हृदयेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका अनन्यभावसे अनुसरण करनेवाले जो हृदीक, सत्यभामानन्दन चारुदेष्ण और गद आदि अन्य भगवान्के पुत्र हैं, वे सब भी कुशलपूर्वक हैं न ? ॥ ३५ ॥

महाराज युधिष्ठिर अपनी अर्जुन और श्रीकृष्णरूप दोनों भुजाओंकी सहायतासे धर्ममर्यादाका न्यायपूर्वक पालन करते हैं न ? मयदानवकी बनायी हुई सभामें इनके राज्यवैभव और दबदबेको देखकर दुर्योधनको बड़ा डाह हुआ था ॥ ३६ ॥

किं वा कृताघेष्वधमत्यमर्षी
भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे
मार्गं गदायाश्चस्तो विचित्रम् ॥ ३७

कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ॥ ३८

यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः
पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव ।
रेमात उद्वाय मृधे स्वरिक्थं
परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ॥ ३९

अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे
राजर्षिवर्येण विनापि तेन ।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये
धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ॥ ४०

सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं
भ्रात्रे परेताय विदुद्गृहे यः ।
निर्यापितो येन सुहृत्स्वपूर्या
अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन ॥ ४१

सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन
दृशो नृणां चालयतो विधातुः ।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-
च्चरामि पश्यन् गतविस्मयोऽत्र ॥ ४२

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां
महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः ।
वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशो-
ऽप्युपैक्षताघं भगवान् कुरूणाम् ॥ ४३

अपराधियोंके प्रति अत्यन्त असहिष्णु भीमसेनने सर्पके समान दीर्घकालीन क्रोधको छोड़ दिया है क्या ? जब वे गदायुद्धमें तरह-तरहके पैतरे बदलते थे, तब उनके पैरोंकी धमकसे धरती डोलने लगती थी ॥ ३७ ॥ जिनके बाणोंके जालसे छिपकर किरातवेषधारी, अतएव किसीकी पहचानमें न आनेवाले भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो गये थे, वे रथी और यूथपतियोंका सुयश बढ़ानेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन तो प्रसन्न हैं न ? अब तो उनके सभी शत्रु शान्त हो चुके होंगे ? ॥ ३८ ॥ पलक जिस प्रकार नेत्रोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिरादि जिनकी सर्वदा सँभाल रखते हैं और कुन्तीने ही जिनका लालन-पालन किया है, वे माद्रीके यमज पुत्र नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न ? उन्होंने युद्धमें शत्रुसे अपना राज्य उसी प्रकार छीन लिया, जैसे दो गरुड़ इन्द्रके मुखसे अमृत निकाल लाये ॥ ३९ ॥ अहो ! बेचारी कुन्ती तो राजर्षिश्रेष्ठ पाण्डुके वियोगमें मृतप्राय-सी होकर भी इन बालकोंके लिये ही प्राण धारण किये हुए है । रथियोंमें श्रेष्ठ महाराज पाण्डु ऐसे अनुपम वीर थे कि उन्होंने केवल एक धनुष लेकर ही अकेले चारों दिशाओंको जीत लिया था ॥ ४० ॥ सौम्यस्वभाव उद्धवजी ! मुझे तो अधः-पतनकी ओर जानेवाले उन धृतराष्ट्रके लिये बार-बार शोक होता है, जिन्होंने पाण्डवोंके रूपमें अपने परलोकवासी भाई पाण्डुसे ही द्रोह किया तथा अपने पुत्रोंकी हाँ-में-हाँ मिलाकर अपने हितचिन्तक मुझको भी नगरसे निकलवा दिया ॥ ४१ ॥ किंतु भाई ! मुझे इसका कुछ भी खेद अथवा आश्चर्य नहीं है । जगद्विधाता भगवान् श्रीकृष्ण ही मनुष्योंकी-सी लीलाएँ करके लोगोंकी मनोवृत्तियोंको भ्रमित कर देते हैं । मैं तो उन्हींकी कृपासे उनकी महिमाको देखता हुआ दूसरोंकी दृष्टिसे दूर रहकर सानन्द विचर रहा हूँ ॥ ४२ ॥ यद्यपि कौरवोंने उनके बहुत-से अपराध किये, फिर भी भगवान्ने उनकी इसीलिये उपेक्षा कर दी थी कि वे उनके साथ उन दुष्ट राजाओंको भी मारकर अपने शरणागतोंका दुःख दूर करना चाहते थे, जो धन, विद्या और जातिके मदसे अंधे होकर कुमार्गगामी हो रहे थे और बार-बार अपनी सेनाओंसे पृथ्वीको कँपा रहे थे ॥ ४३ ॥

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय
कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं
परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम् ॥ ४४

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-
मवस्थितानामनुशासने स्वे ।
अर्थाय^१ जातस्य यदुष्वजस्य
वार्ता सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥ ४५

उद्धवजी ! भगवान् श्रीकृष्ण जन्म और कर्मसे रहित हैं, फिर भी दुष्टोंका नाश करनेके लिये और लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये उनके दिव्य जन्म-कर्म हुआ करते हैं । नहीं तो, भगवान्की तो बात ही क्या—दूसरे जो लोग गुणोंसे पार हो गये हैं, उनमें भी ऐसा कौन है, जो इस कर्माधीन देहके बन्धनमें पड़ना चाहेगा ॥ ४४ ॥ अतः मित्र ! जिन्होंने अजन्मा होकर भी अपनी शरणमें आये हुए समस्त लोकपाल और आज्ञाकारी भक्तोंका प्रिय करनेके लिये यदुकुलमें जन्म लिया है, उन पवित्रकीर्ति श्रीहरिकी बातें सुनाओ ॥ ४५ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीय-
स्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः

उद्धवजीद्वारा भगवान्की बाललीलाओंका वर्णन

श्रीशुक^२ उवाच

इति भागवतः पृष्ठः क्षत्रा वार्ता प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः ॥ १

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तत्रैच्छद्रचयन् यस्य सपर्या बाललीलया ॥ २

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं^३ गतः ।
पृष्ठो वार्ता प्रतिब्रूयाद्धर्तुः पादावनुस्मरन् ॥ ३

स मुहूर्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥ ४

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलदृशा शुचः ।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसम्प्लुतः ॥ ५

शनकैर्भगवल्लोकात्रूलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्समयन् ॥ ६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब विदुरजीने परम भक्त उद्धवसे इस प्रकार उनके प्रियतम श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें पूछीं, तब उन्हें अपने स्वामीका स्मरण हो आया और वे हृदय भर आनेके कारण कुछ भी उत्तर न दे सके ॥ १ ॥ जब ये पाँच वर्षके थे, तब बालकोंकी तरह खेलमें ही श्रीकृष्णकी मूर्ति बनाकर उसकी सेवा-पूजामें ऐसे तन्मय हो जाते थे कि कलेबेके लिये माताके बुलानेपर भी उसे छोड़कर नहीं जाना चाहते थे ॥ २ ॥ अब तो दीर्घकालसे उन्हींकी सेवामें रहते-रहते ये बड़े हो चले थे; अतः विदुरजीके पूछनेसे उन्हें अपने प्यारे प्रभुके चरणकमलोंका स्मरण हो आया—उनका चित्त विरहसे व्याकुल हो गया । फिर वे कैसे उत्तर दे सकते थे ॥ ३ ॥ उद्धवजी श्रीकृष्णके चरणारविन्द-मकरन्द-सुधासे सराबोर होकर दो घड़ीतक कुछ भी नहीं बोल सके । तीव्र भक्तियोगसे उसमें डूबकर वे आनन्द-मग्न हो गये ॥ ४ ॥ उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया तथा मुँदे हुए नेत्रोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा वहने लगी । उद्धवजीको इस प्रकार प्रेम-प्रवाहमें डूबे हुए देखकर विदुरजीने उन्हें कृतकृत्य माना ॥ ५ ॥ कुछ समय बाद जब उद्धवजी भगवान्के प्रेमधामसे उतरकर पुनः धीरे-धीरे संसारमें आये, तब अपने नेत्रोंको पोंछकर भगवल्लीलाओंका स्मरण हो आनेसे विस्मित हो विदुरजीसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ६ ॥

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह ।
किं नु^१ नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥ ७

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥ ८

इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः ।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत ॥ ९

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः ।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥ १०

प्रदर्शयति तप्तपसामवितृप्तदृशां नृणाम् ।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥ ११

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभाग्यं
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥ १२

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कात्स्न्येन चाद्येह गतं विधातु-
रवाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥ १३

यस्यानुरागप्लुतहासरास-
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त-
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥ १४

स्वशान्तरूपेष्वितरैः^३ स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेणो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः ॥ १५

उद्धवजी बोले—विदुरजी ! श्रीकृष्णरूप सूर्यके छिप जानेसे हमारे घरोंको कालरूप अजगरने खा डाला है, वे श्रीहीन हो गये हैं; अब मैं उनकी क्या कुशल सुनाऊँ ॥ ७ ॥ ओह ! यह मनुष्यलोक बड़ा ही अभागा है; इसमें भी यादव तो नितान्त भाग्यहीन हैं, जिन्होंने निरन्तर श्रीकृष्णके साथ रहते हुए भी उन्हें नहीं पहचाना—जिस तरह अमृतमय चन्द्रमाके समुद्रमें रहते समय मछलियाँ उन्हें नहीं पहचान सकी थीं ॥ ८ ॥ यादवलोग मनके भावको ताड़नेवाले, बड़े समझदार और भगवान्‌के साथ एक ही स्थानमें रहकर क्रीडा करनेवाले थे; तो भी उन सबने समस्त विश्वके आश्रय, सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णको एक श्रेष्ठ यादव ही समझा ॥ ९ ॥ किंतु भगवान्‌की मायासे मोहित इन यादवों और इनसे व्यर्थका वैर ठाननेवाले शिशुपाल आदिके अवहेलना और निन्दासूचक वाक्योंसे भगवत्प्राण महानुभावोंकी बुद्धि भ्रममें नहीं पड़ती थी ॥ १० ॥ जिन्होंने कभी तप नहीं किया, उन लोगोंको भी इतने दिनोंतक दर्शन देकर अब उनकी दर्शन-लालसाको तृप्त किये बिना ही वे भगवान् श्रीकृष्ण अपने त्रिभुवन-मोहन श्रीविग्रहको छिपाकर अन्तर्धान हो गये हैं और इस प्रकार उन्होंने मानो उनके नेत्रोंको ही छीन लिया है ॥ ११ ॥ भगवान्‌ने अपनी योगमायाका प्रभाव दिखानेके लिये मानवलीलाओंके योग्य जो दिव्य श्रीविग्रह प्रकट किया था, वह इतना सुन्दर था कि उसे देखकर सारा जगत् तो मोहित हो ही जाता था, वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। सौभाग्य और सुन्दरताकी पराकाष्ठा थी उस रूपमें। उससे आभूषण (अङ्गोंके गहन) भी विभूषित हो जाते थे ॥ १२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें जब भगवान्‌के उस नयनाभिराम रूपपर लोगोंकी दृष्टि पड़ी थी, तब त्रिलोकीने यही माना था कि मानवसृष्टिकी रचनामें विधाताकी जितनी चतुराई है, सब इसी रूपमें पूरी हो गयी है ॥ १३ ॥ उनके प्रेमपूर्ण हास्य-विनोद और लीलामय चितवनसे सम्मानित होनेपर व्रजवालाओंकी आँखें उन्हींकी ओर लग जाती थीं और उनका चित्त भी ऐसा तल्लीन हो जाता था कि वे घरके काम-धंधोंको अधूरा ही छोड़कर जड़ पुतलियोंकी तरह खड़ी रह जाती थीं ॥ १४ ॥ चराचर जगत् और प्रकृतिके स्वामी भगवान्‌ने जब अपने शान्त-रूप महात्माओंको अपने ही घोररूप असुरोंसे सताये जाते देखा, तब वे करुणाभावसे द्रवित हो गये और अजन्मा होनेपर भी अपने अंश बलरामजीके साथ काष्ठमें अग्निके समान प्रकट हुए ॥ १५ ॥

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-
 विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे ।
 ब्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं
 पुराद् व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥ १६
 दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्
 यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
 ताताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां
 प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ॥ १७
 को वा अमुष्याद्घिसरोजरेणुं
 विस्मर्तुमीशीत पुमान् विजिघ्रन् ।
 यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
 भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ॥ १८
 दृष्ट्वा भवद्भिर्ननु राजसूये
 चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
 यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्
 योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥ १९
 तथैव चान्ये नरलोकवीरा
 य आहवे कृष्णामुखारविन्दम् ।
 नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं
 पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य ॥ २०
 स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
 स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः^१ ।
 बलिं हरद्विश्चिरलोकपालैः
 किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥ २१
 तत्तस्य कैङ्कर्यमलं भूतान्नो
 विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम् ।
 तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ये
 न्यबोधयद्देव निधारयेति ॥ २२
 अहो बकी यं स्तनकालकूटं
 जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
 लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
 कं वा दयालुं शरणं ब्रजेम ॥ २३

अजन्मा होकर भी वसुदेवजीके यहाँ जन्म लेनेकी लीला करना, सबको अभय देनेवाले होनेपर भी मानो कंसके भयसे ब्रजमें जाकर छिप रहना और अनन्तपराक्रमी होनेपर भी कालयवनके सामने मथुरापुरीको छोड़कर भाग जाना—भगवान्की ये लीलाएँ याद आ-आकर मुझे बेचैन कर डालती हैं। ॥ १६ ॥ उन्होंने जो देवकी-वसुदेवकी चरण-वन्दना करके कहा था— 'पिताजी, माताजी ! कंसका बड़ा भय रहनेके कारण मुझसे आपको कोई सेवा न बन सकी, आप मेरे इस अपराधपर ध्यान न देकर मुझपर प्रसन्न हों।' श्रीकृष्णकी ये बातें जब याद आती हैं, तब आज भी मेरा चित्त अत्यन्त व्यथित हो जाता है ॥ १७ ॥ जिन्होंने कालरूप अपने भुकुटिविलाससे ही पृथ्वीका सारा भार उतार दिया था, उन श्रीकृष्णके पाद-पद्म-परागका सेवन करनेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उसे भूल सके ॥ १८ ॥ आपलोगोंने राजसूय यज्ञमें प्रत्यक्ष ही देखा था कि श्रीकृष्णसे द्वेष करनेवाले शिशुपालको वह सिद्धि मिल गयी, जिसकी बड़े-बड़े योगी भलीभाँति योग-साधना करके स्पृहा करते रहते हैं। उनका विरह भला कौन सह सकता है ॥ १९ ॥ शिशुपालके ही समान महाभारत-युद्धमें जिन दूसरे योद्धाओंने अपनी आँखोंसे भगवान् श्रीकृष्णके नयनाभिराम मुख-कमलका मकरन्द पान करते हुए अर्जुनके बाणोंसे बिंधकर प्राणत्याग किया, वे पवित्र होकर सब-के-सब भगवान्के परमधामको प्राप्त हो गये ॥ २० ॥ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकोंके अधीश्वर हैं। उनके समान भी कोई नहीं है, उनसे बढ़कर तो कौन होगा। वे अपने स्वतःसिद्ध ऐश्वर्यसे ही सर्वदा पूर्णकाम हैं। इन्द्रादि असंख्य लोकपालगण नाना प्रकारकी भेंटें ला-लाकर अपने-अपने मुकुटोंके अग्रभागसे उनके चरण रखनेकी चौकीको प्रणाम किया करते हैं ॥ २१ ॥ विदुरजी ! वे ही भगवान् श्रीकृष्ण राजसिंहासनपर बैठे हुए उग्रसेनके सामने खड़े होकर निवेदन करते थे, 'देव ! हमारी प्रार्थना सुनिये।' उनके इस सेवा-भावकी याद आते ही हम-जैसे सेवकोंका चित्त अत्यन्त व्यथित हो जाता है ॥ २२ ॥ पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नियतसे उन्हें दूध पिलाया था; उसको भी भगवान्ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें ॥ २३ ॥

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत ताक्ष्यपुत्र-
मंसेसुनाभायुधमापतन्तम् ॥ २४

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥ २५

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता ।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥ २६

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः^१ ।
यमुनोपवने कूजद्विजसंकुलिताङ्घ्रिपे ॥ २७

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥ २८

स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।
चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत् ॥ २९

प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः ।
लीलया व्यनुदत्तांस्तान् बालः क्रीडनकानिव ॥ ३०

विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् ।
उत्थाप्यापाययद्वावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ॥ ३१

अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः ।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन् सद्व्ययं विभुः ॥ ३२

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भ्रमानेऽतिविह्वलः ।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्यता ॥ ३३

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम् ।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥ ३४

मैं असुरोंको भी भगवान्का भक्त समझता हूँ; क्योंकि वैरभाव-जनित क्रोधके कारण उनका चित्त सदा श्रीकृष्णमें लगा रहता था और उन्हें रणभूमिमें सुदर्शन-चक्रधारी भगवान्को कंधेपर चढ़ाकर झपटते हुए गरुड़जीके दर्शन हुआ करते थे ॥ २४ ॥

ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे पृथ्वीका भार उतारकर उसे सुखी करनेके लिये कंसके कारागारमें वसुदेव-देवकीके यहाँ भगवान्ने अवतार लिया था ॥ २५ ॥ उस समय कंसके डरसे पिता वसुदेवजीने उन्हें नन्दबाबाके व्रजमें पहुँचा दिया था। वहाँ वे बलरामजीके साथ ग्यारह वर्षतक इस प्रकार छिपकर रहे कि उनका प्रभाव व्रजके बाहर किसीपर प्रकट नहीं हुआ ॥ २६ ॥ यमुनाके उपवनमें, जिसके हरे-भरे वृक्षोंपर कलरव करते हुए पक्षियोंके झुंड-के-झुंड रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्णने बछड़ोंको चराते हुए ग्वाल-बालोंकी मण्डलीके साथ विहार किया था ॥ २७ ॥ वे व्रजवासियोंकी दृष्टि आकृष्ट करनेके लिये अनेकों बाल-लीला उन्हें दिखाते थे। कभी रोने-से लगते, कभी हैसते और कभी सिंह-शावकके समान मुग्ध दृष्टिसे देखते ॥ २८ ॥ फिर कुछ बड़े होनेपर वे सफेद बैल और रंग-विरंगी शोभाकी मूर्ति गौओंको चराते हुए अपने साथी गोपोंको वाँसुरी बजा-बजाकर रझाने लगे ॥ २९ ॥ इसी समय जब कंसने उन्हें मारनेके लिये बहुत-से मायावी और मनमाना रूप धारण करनेवाले राक्षस भेजे, तब उनको खेल-ही-खेलमें भगवान्ने मार डाला—जैसे बालक खिलौनोंको तोड़-फोड़ डालता है ॥ ३० ॥ कालिय-नागका दमन करके विष मिला हुआ जल पीनेसे मरे हुए ग्वालबालों और गौओंको जीवितकर उन्हें कालियदहका निर्दोष जल पीनेकी सुविधा कर दी ॥ ३१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने बड़े हुए धनका सद्व्यय करानेकी इच्छासे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा नन्दबाबासे गोवर्धन-पूजारूप गोवत्स करवाया ॥ ३२ ॥ भद्र ! इससे अपना मानभङ्ग होनेके कारण जब इन्द्रने क्रोधित होकर व्रजका विनाश करनेके लिये मूसलधार जल बरसाना आरम्भ किया, तब भगवान्ने करुणावश खेल-ही-खेलमें छत्तेके समान गोवर्धन पर्वतको उठा लिया और अत्यन्त घबराये हुए व्रजवासियोंको तथा उनके पशुओंकी रक्षा की ॥ ३३ ॥ सन्ध्याके समय जब सारे वृन्दावनमें शरत्के चन्द्रमाकी चाँदनी छिटक जाती, तब श्रीकृष्ण उसका सम्मान करते हुए मधुर गान करते और गोपियोंके मण्डलकी शोभा बढ़ाते हुए उनके साथ रासविहार करते ॥ ३४ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥



अथ तृतीयोऽध्यायः

भगवान्के अन्य लीलाचरित्रोंका वर्णन

उद्धव उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः ।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद् व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥ १

सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥ २

समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जहे पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः^१ ॥ ३

ककुद्गतोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्रजितीमुवाह^२ ।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञा-
ञ्जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः ॥ ४

प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद् द्युतरुं यदर्थं ।
वज्र्याद्रवत्तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम् ॥ ५

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं^३
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश ॥ ६

तत्राहतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम् ।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः^४ ॥ ७

उद्धवजी कहते हैं—इसके बाद श्रीकृष्ण अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवको सुख पहुँचानेकी इच्छासे बलदेवजीके साथ मथुरा पधारे और उन्होंने शत्रुसमुदायके स्वामी कंसको ऊँचे सिंहासनसे नीचे पटककर तथा उसके प्राण लेकर उसकी लाशको बड़े जोरसे पृथ्वीपर घसीटा ॥ १ ॥ सान्दीपनि मुनिके द्वारा एक बार उच्चारण किये हुए साङ्गोपाङ्ग वेदका अध्ययन करके दक्षिणास्वरूप उनके मरे हुए पुत्रको पञ्चजन नामक राक्षसके पेटसे (यमपुरीसे) लाकर दे दिया ॥ २ ॥ भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणीके सौन्दर्यसे अथवा रुक्मीके बुलानेसे जो शिशुपाल और उसके सहायक वहाँ आये हुए थे, उनके सिरपर पैर रखकर गान्धर्व विधिके द्वारा विवाह करनेके लिये अपनी नित्यसंगिनी रुक्मिणीको वे वैसे ही हरण कर लाये, जैसे गरुड अमृत-कलशको ले आये थे ॥ ३ ॥ स्वयंवरमें सात बिना नथे हुए वेलोंको नाथकर नाग्रजिती (सत्या) से विवाह किया । इस प्रकार मानभङ्ग हो जानेपर मूर्ख राजाओंने शस्त्र उठाकर राजकुमारीको छीनना चाहा । तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं बिना घायल हुए अपने शस्त्रोंसे उन्हें मार डाला ॥ ४ ॥ भगवान् विषयी पुरुषोंकी-सी लीला करते हुए अपनी प्राणप्रिया सत्यभामाको प्रसन्न करनेकी इच्छासे उनके लिये स्वर्गसे कल्पवृक्ष उखाड़ लाये । उस समय इन्द्रने क्रोधसे अंधे होकर अपने सैनिकोंसहित उनपर आक्रमण कर दिया; क्योंकि वह निश्चय ही अपनी स्त्रियोंका क्रीडामृग बना हुआ है ॥ ५ ॥ अपने विशाल डीलडौलसे आकाशको भी ढक देनेवाले अपने पुत्र भौमासुरको भगवान्के हाथसे मरा हुआ देखकर पृथ्वीने जब उनसे प्रार्थना की, तब उन्होंने भौमासुरके पुत्र भगदत्तको उसका बचा हुआ राज्य देकर उसके अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ ६ ॥ वहाँ भौमासुरद्वारा हरकर लायी हुई बहुत-सी राजकन्याएँ थीं । वे दीनबन्धु श्रीकृष्णचन्द्रको देखते ही खड़ी हो गयीं और सबने महान् हर्ष, लज्जा एवं प्रेमपूर्ण चितवनसे तत्काल ही भगवान्को पतिरूपमें वरण कर लिया ॥ ७ ॥

आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम् ।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः^१ स्वमायया ॥ ८

तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः^२ ।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया ॥ ९

कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम् ।
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ॥ १०

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत्कांश्च घातयत्^३ ॥ ११

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितावृषान् ।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः ॥ १२

स कर्णदुःशासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्^४ ।
सुयोधनं सानुचरं^५ शयानं
भग्नोरुमूर्व्या न ननन्द पश्यन् ॥ १३

कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो
यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैः ।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशै-
रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ॥ १४

मिथो यदैषां भविता विवादो
मध्वामदाताम्रविलोचनानाम्^६ ।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो
मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ॥ १५

एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ॥ १६
उत्तरायां धृतः पूरोर्वशः साध्वभिमन्युना ।
स वै द्रौण्यस्त्रसंछिन्नः पुनर्भगवता धृतः ॥ १७

तब भगवान्ने अपनी निजशक्ति योगमायासे उन ललनाओंके अनुरूप उतने ही रूप धारणकर उन सबका अलग-अलग महलोंमें एक ही मुहूर्तमें विधिवत् पाणिग्रहण किया ॥ ८ ॥ अपनी लीलाका विस्तार करनेके लिये उन्होंने उनमेंसे प्रत्येकके गर्भसे सभी गुणोंमें अपने ही समान दस-दस पुत्र उत्पन्न किये ॥ ९ ॥ जब कालयवन, जरासन्ध और शाल्वादिने अपनी सेनाओंसे मथुरा और द्वारकापुरीको घेरा था, तब भगवान्ने निजजनोंको अपनी अलौकिक शक्ति देकर उन्हें स्वयं मरवाया था ॥ १० ॥ शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्वल तथा दन्तवक्त्र आदि अन्य योद्धाओंमेंसे भी किसीको उन्होंने स्वयं मारा था और किसीको दूसरोंसे मरवाया ॥ ११ ॥ इसके बाद उन्होंने आपके भाई धृतराष्ट्र और पाण्डुके पुत्रोंका पक्ष लेकर आये हुए राजाओंका भी संहार किया, जिनके सेनासहित कुरुक्षेत्रमें पहुँचनेपर पृथ्वी डगमगाने लगी थी ॥ १२ ॥ कर्ण, दुःशासन और शकुनिकी खोटी सलाहसे जिसकी आयु और श्री दोनों नष्ट हो चुकी थीं, तथा भीमसेनकी गदासे जिसकी जाँघ टूट चुकी थी, उस दुर्योधनको अपने साथियोंके सहित पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी उन्हें प्रसन्नता न हुई ॥ १३ ॥ वे सोचने लगे—यदि द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीमसेनके द्वारा इस अठारह अक्षौहिणी सेनाका विपुल संहार हो भी गया, तो इससे पृथ्वीका कितना भार हलका हुआ। अभी तो मेरे अंशरूप प्रद्युम्न आदिके बलसे बड़े हुए यादवोंका दुःसह दल बना ही हुआ है ॥ १४ ॥ जब ये मधु-पानसे मतवाले हो लाल-लाल आँखें करके आपसमें लड़ने लगेंगे, तब उससे ही इनका नाश होगा। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। असलमें मेरे संकल्प करनेपर ये स्वयं ही अन्तर्धान हो जायेंगे ॥ १५ ॥

यों सोचकर भगवान्ने युधिष्ठिरको अपनी पैतृक राजगद्दीपर बैठाया और अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंको सत्पुरुषोंका मार्ग दिखाकर आनन्दित किया ॥ १६ ॥ उत्तराके उदरमें जो अभिमन्युने पूरुवंशका बीज स्थापित किया था, वह भी अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे नष्ट-सा हो चुका था; किन्तु भगवान्ने उसे बचा लिया ॥ १७ ॥

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।
 सोऽपि क्षमामनुजै रक्षन् रेमे कृष्णमनुव्रतः ॥ १८
 भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः ।
 कामान् सिषेवे^१ द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमास्थितः ॥ १९
 स्निग्धस्मितावलोकनेन वाचा पीयूषकल्पया ।
 चरित्रेणानवद्येन^२ श्रीनिकेतेन चात्मना ॥ २०
 इमं लोकममुं चैव रमयन् सुतरां यदून् ।
 रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः ॥ २१
 तस्यैवं^३ रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् ।
 गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥ २२
 दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् ।
 को विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः ॥ २३
 पुर्या कदाचित्क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः ।
 कोपिता मुनयः शेषुर्भगवन्मतकोविदाः ॥ २४
 ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः ।
 ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः ॥ २५
 तत्र स्नात्वा पितृन्देवानृषींश्चैव तदम्भसा ।
 तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः ॥ २६
 हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् ।
 यानं^४ रथानिभान् कन्या धरां वृत्तिकरीमपि ॥ २७
 अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम् ।
 गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥ २८

उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेध-यज्ञ करवाये और वे भी श्रीकृष्णके अनुगामी होकर अपने छोटे भाइयोंकी सहायतासे पृथ्वीकी रक्षा करते हुए बड़े आनन्दसे रहने लगे ॥ १८ ॥ विश्वात्मा श्रीभगवान्ने भी द्वारकापुरीमें रहकर लोक और वेदकी मर्यादाका पालन करते हुए सब प्रकारके भोग भोगे, किन्तु सांख्ययोगकी स्थापना करनेके लिये उनमें कभी आसक्त नहीं हुए ॥ १९ ॥ मधुर मुसकान, स्नेहमयी चितवन, सुधामयी वाणी, निर्मल चरित्र तथा समस्त शोभा और सुन्दरताके निवास अपने श्रीविग्रहसे लोक-परलोक और विशेषतया यादवोंको आनन्दित किया तथा रात्रिमें अपनी प्रियाओंके साथ क्षणिक अनुरागयुक्त होकर समयोचित विहार किया और इस प्रकार उन्हें भी सुख दिया ॥ २०-२१ ॥ इस तरह बहुत वर्षोंतक विहार करते-करते उन्हें गृहस्थ-आश्रम-सम्बन्धी भोग-सामग्रियोंसे वैराग्य हो गया ॥ २२ ॥ ये भोग-सामग्रियाँ ईश्वरके अधीन हैं और जीव भी उन्हींके अधीन है। जब योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको ही उनसे वैराग्य हो गया तब भक्तियोगके द्वारा उनका अनुगमन करनेवाला भक्त तो उनपर विश्वास ही कैसे करेगा ? ॥ २३ ॥

एक बार द्वारकापुरीमें खेलते हुए यदुवंशी और भोजवंशी बालकोंने खेल-खेलमें कुछ मुनीश्वरोंको चिढ़ा दिया। तब यादवकुलका नाश ही भगवान्को अभीष्ट है—यह समझकर उन ऋषियोंने बालकोंको शाप दे दिया ॥ २४ ॥ इसके कुछ ही महीने बाद भावीवश वृष्णि, भोज और अन्धकवंशी यादव बड़े हर्षसे रथोंपर चढ़कर प्रभासक्षेत्रको गये ॥ २५ ॥ वहाँ स्नान करके उन्होंने उस तीर्थके जलसे पितर, देवता और ऋषियोंका तर्पण किया तथा ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ गौएँ दीं ॥ २६ ॥ उन्होंने सोना, चाँदी, शय्या, वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, पालकी, रथ, हाथी, कन्याएँ और ऐसी भूमि जिससे जीविका चल सके तथा नाना प्रकारके सरस अन्न भी भगवदर्पण करके ब्राह्मणोंको दिये। इसके पश्चात् गौ और ब्राह्मणोंके लिये ही प्राण धारण करनेवाले उन वीरोंने पृथ्वीपर सिर टेककर उन्हें प्रणाम किया ॥ २७-२८ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थोऽध्यायः

उद्धवजीसे विदा होकर विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना

उद्धव उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् ।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः ॥ १

तेषां मैत्रेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम् ।
निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम् ॥ २

भगवान् स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः ।
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत् ॥ ३

अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्तिहरेण ह ।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं संजिहीर्षुणा ॥ ४

अथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम ।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ॥ ५

अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन् दयितं पतिम् ।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् ॥ ६

श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् ।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ॥ ७

वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् ।
अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम् ॥ ८

तस्मिन्महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा ।
लोकाननुचरन् सिद्ध आससाद यदृच्छया ॥ ९

तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः
प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।
आशृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच ॥ १०

श्रीभगवानुवाच

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते
ददामि यत्तद् दुरवापमन्यैः ।
सत्त्वे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ॥ ११

उद्धवजीने कहा—फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा पाकर यादवोंने भोजन किया और वारुणी मदिरा पी। उससे उनका ज्ञान नष्ट हो गया और वे दुर्वचनोंसे एक-दूसरेके हृदयको चोट पहुँचाने लगे ॥ १ ॥ मदिराके नशेसे उनकी बुद्धि बिगड़ गयी और जैसे आपसकी रगड़से बाँसोंमें आग लग जाती है, उसी प्रकार सूर्यास्त होते-होते उनमें मार-काट होने लगी ॥ २ ॥ भगवान् अपनी मायाकी उस विचित्र गतिको देखकर सरस्वतीके जलसे आचमन करके एक वृक्षके नीचे बैठ गये ॥ ३ ॥ इससे पहले ही शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलका संहार करनेकी इच्छा होनेपर मुझसे कह दिया था कि तुम बदरिकाश्रम चले जाओ ॥ ४ ॥ विदुरजी ! इससे यद्यपि मैं उनका आशय समझ गया था, तो भी स्वामीके चरणोंका वियोग न सह सकनेके कारण मैं उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्रमें पहुँच गया ॥ ५ ॥ वहाँ मैंने देखा कि जो सबके आश्रय हैं किन्तु जिनका कोई और आश्रय नहीं है, वे प्रियतम प्रभु शोभाधाम श्यामसुन्दर सरस्वतीके तटपर अकेले ही बैठे हैं ॥ ६ ॥ दिव्य विशुद्ध-सत्त्वमय अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है, शान्तिसे भरी रतनारी आँखें हैं। उनकी चार भुजाएँ और रेशमी पीताम्बर देखकर मैंने उनको दूरसे ही पहचान लिया ॥ ७ ॥ वे एक पीपलके छोटे-से वृक्षका सहारा लिये बायीं जाँघपर दायीं चरणकमल रखे बैठे थे। भोजन-पानका त्याग कर देनेपर भी वे आनन्दसे प्रफुल्लित हो रहे थे ॥ ८ ॥ इसी समय व्यासजीके प्रिय मित्र परम भागवत सिद्ध मैत्रेयजी लोकोंमें स्वच्छन्द विचरते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ९ ॥ मैत्रेय मुनि भगवान्के अनुरागी भक्त हैं। आनन्द और भक्तिभावसे उनकी गर्दन झुक रही थी। उनके सामने ही श्रीहरिने प्रेम एवं मुसकानयुक्त चितवनसे मुझे आनन्दित करते हुए कहा ॥ १० ॥

श्रीभगवान् कहने लगे—मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा जानता हूँ; इसलिये मैं तुम्हें वह साधन देता हूँ, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। उद्धव ! तुम पूर्व-जन्ममें वसु थे। विश्वकी रचना करनेवाले प्रजापतियों और वसुओंके यज्ञमें मुझे पानेकी इच्छासे ही तुमने मेरी आराधना की थी ॥ ११ ॥

स एष साधो चरमो भवाना-
मासादितस्ते मदनुग्रहो यत्^१ ।
यन्मां नृलोकान्^२ रह उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या ॥ १२

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥ १३

इत्यादृतोक्तः परमस्य पुंसः
प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्वलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिराबभाषे ॥ १४

को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्^३
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥ १५

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः
स्वात्मनतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥ १६

मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्व-
मकुण्ठितारखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्त-
स्तन्नो मनो मोहयतीव देव ॥ १७

ज्ञानं परं स्वात्परहःप्रकाशं
प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम् ।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-
र्वदाञ्जसा यद् वृजिनं तरेम ॥ १८

साधुस्वभाव उद्धव ! संसारमें तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है; क्योंकि इसमें तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। अब मैं मर्त्यलोकको छोड़कर अपने धाममें जाना चाहता हूँ। इस समय यहाँ एकान्तमें तुमने अपनी अनन्य भक्तिके कारण ही मेरा दर्शन पाया है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ १२ ॥ पूर्वकाल-(पादकल्प-)के आरम्भमें मैंने अपने नाभि-कमलपर बैठे हुए ब्रह्माको अपनी महिमाके प्रकट करनेवाले जिस श्रेष्ठ ज्ञानका उपदेश किया था और जिसे विवेकी लोग 'भागवत' कहते हैं, वही मैं तुम्हें देता हूँ ॥ १३ ॥

विदुरजी ! मुझपर तो प्रतिक्षण उन परम पुरुषकी कृपा बरसा करती थी। इस समय उनके इस प्रकार आदरपूर्वक कहनेसे स्नेहवश मुझे रोमाञ्च हो आया, मेरी वाणी गदगद हो गयी और नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। उस समय मैंने हाथ जोड़कर उनसे कहा— ॥ १४ ॥ 'स्वामिन् ! आपके चरण-कमलोंकी सेवा करनेवाले पुरुषोंको इस संसारमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारोंमेंसे कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है; तथापि मुझे उनमेंसे किसीकी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल आपके चरणकमलोंकी सेवाके लिये ही लालायित रहता हूँ ॥ १५ ॥ प्रभो ! आप निःस्पृह होकर भी कर्म करते हैं, अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं, कालरूप होकर भी शत्रुके डरसे भागते हैं और द्वारकाके किलेमें जाकर छिप रहते हैं तथा स्वात्माराम होकर भी सोलह हजार स्त्रियोंके साथ रमण करते हैं—इन विचित्र चरित्रोंको देखकर विद्वानोंकी बुद्धि भी चक्करमें पड़ जाती है ॥ १६ ॥ देव ! आपका स्वरूपज्ञान सर्वथा अबाध और अखण्ड है। फिर भी आप सलाह लेनेके लिये मुझे बुलाकर जो भोले मनुष्योंकी तरह बड़ी सावधानीसे मेरी सम्मति पूछा करते थे, प्रभो ! आपकी वह लीला मेरे मनको मोहित-सा कर देती है ॥ १७ ॥ स्वामिन् ! अपने स्वरूपका गूढ़ रहस्य प्रकट करनेवाला जो श्रेष्ठ एवं समग्र ज्ञान आपने ब्रह्माजीको बतलाया था, वह यदि मेरे समझने योग्य हो तो मुझे भी सुनाइये, जिससे मैं भी इस संसार-दुःखको सुगमतासे पार कर जाऊँ' ॥ १८ ॥

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः ।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥ १९

स एवमाराधितपादतीर्था-
दधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-
मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा ॥ २०

सोऽहं तदर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो ।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम् ॥ २१

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः ।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥ २२

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम् ।
ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः ॥ २३

स तं महाभागवतं ब्रजन्तं कौरवर्षभः ।
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ॥ २४

विदुर उवाच

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते ।
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णो-
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥ २५

उद्धव उवाच

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे ।
साक्षाद्भगवताऽऽदिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ॥ २६

श्रीशुक उवाच

इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुप्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥ २७

जब मैंने इस प्रकार अपने हृदयका भाव निवेदित किया, तब परमपुरुष कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने मुझे अपने स्वरूपकी परम स्थितिका उपदेश दिया ॥ १९ ॥ इस प्रकार पूज्यपाद गुरु श्रीकृष्णसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका साधन सुनकर तथा उन प्रभुके चरणोंकी वन्दना और परिक्रमा करके मैं यहाँ आया हूँ। इस समय उनके विरहसे मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो रहा है ॥ २० ॥ विदुरजी ! पहले तो उनके दर्शन पाकर मुझे आनन्द हुआ था, किन्तु अब तो मेरे हृदयको उनकी विरहव्यथा अत्यन्त पीड़ित कर रही है। अब मैं उनके प्रिय क्षेत्र बदरिकाश्रमको जा रहा हूँ, जहाँ भगवान् श्रीनारायणदेव और नर—ये दोनों ऋषि लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये दीर्घकालीन सौम्य, दूसरोंको सुख पहुँचानेवाली एवं कठिन तपस्या कर रहे हैं ॥ २१-२२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार उद्धवजीके मुखसे अपने प्रिय बन्धुओंके विनाशका असह्य समाचार सुनकर परम ज्ञानी विदुरजीको जो शोक उत्पन्न हुआ, उसे उन्होंने ज्ञानद्वारा शान्त कर दिया ॥ २३ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णके परिकरोंमें प्रधान महाभागवत उद्धवजी बदरिकाश्रमकी ओर जाने लगे, तब कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने श्रद्धापूर्वक उनसे पूछा ॥ २४ ॥

विदुरजीने कहा—उद्धवजी ! योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपने स्वरूपके गूढ़ रहस्यको प्रकट करनेवाला जो परमज्ञान आपसे कहा था, वह आप हमें भी सुनाइये; क्योंकि भगवान्के सेवक तो अपने सेवकोंका कार्य सिद्ध करनेके लिये ही विचरा करते हैं ॥ २५ ॥

उद्धवजीने कहा—उस तत्त्वज्ञानके लिये आपको मुनिवर मैत्रेयजीकी सेवा करनी चाहिये। इस मर्त्यलोकको छोड़ते समय मेरे सामने स्वयं भगवान्ने ही आपको उपदेश करनेके लिये उन्हें आज्ञा दी थी ॥ २६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार विदुरजीके साथ विश्वमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंकी चर्चा होनेसे उस कथामृतके द्वारा उद्धवजीका वियोगजनित महान् ताप शान्त हो गया। यमुनाजीके तीरपर उनकी वह रात्रि एक क्षणके समान बीत गयी। फिर प्रातःकाल होते ही वे वहाँसे चल दिये ॥ २७ ॥

राजोवाच

निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
 ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः ।
 स तु कथमवशिष्ट उद्धवो य-
 द्भरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ॥ २८

श्रीशुक उवाच

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः ।
 संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन्देहमचिन्तयत् ॥ २९

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् ।
 अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ॥ ३०

नोद्धवोऽण्वपि मन्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः ।
 अतो मद्भयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥ ३१

एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना ।
 बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना ॥ ३२

विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।
 क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ॥ ३३

देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।
 अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विह्वलात्मनाम् ॥ ३४

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
 ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥ ३५

कालिन्द्याः^३ कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभः^४ ।
 प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥ ३६

राजा परीक्षितने पूछा—भगवन् ! वृष्णिकुल और भोजवंशके सभी रथी और यूथपतियोंके भी यूथपति नष्ट हो गये थे । यहाँतक कि त्रिलोकीनाथ श्रीहरिको भी अपना वह रूप छोड़ना पड़ा था । फिर उन सबके मुखिया उद्धवजी ही कैसे बच रहे ? ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—जिनकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती, उन श्रीहरिने ब्राह्मणोंके शापरूप कालके बहाने अपने कुलका संहार कर अपने श्रीविग्रहको त्यागते समय विचार किया ॥ २९ ॥ 'अब इस लोकसे मेरे चले जानेपर संयमीशिरोमणि उद्धव ही मेरे ज्ञानको ग्रहण करनेके सच्चे अधिकारी हैं ॥ ३० ॥ उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं हैं, क्योंकि वे आत्मजयी हैं, विषयोसे कभी विचलित नहीं हुए । अतः लोगोंको मेरे ज्ञानकी शिक्षा देते हुए वे यहीं रहें' ॥ ३१ ॥ वेदोंके मूल कारण जगद्गुरु श्रीकृष्णके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उद्धवजी बदरिकाश्रममें जाकर समाधियोगद्वारा श्रीहरिकी आराधना करने लगे ॥ ३२ ॥ कुरुश्रेष्ठ परीक्षित ! परमात्मा श्रीकृष्णने लीलासे ही अपना श्रीविग्रह प्रकट किया था और लीलासे ही उसे अन्तर्धान भी कर दिया । उनका वह अन्तर्धान होना भी धीर पुरुषोंका उत्साह बढ़ानेवाला तथा दूसरे पशुतुल्य अधीर पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था । परम भागवत उद्धवजीके मुखसे उनके प्रशंसनीय कर्म और इस प्रकार अन्तर्धान होनेका समाचार पाकर तथा यह जानकर कि भगवान्ने परमधाम जाते समय मुझे भी स्मरण किया था, विदुरजी उद्धवजीके चले जानेपर प्रेमसे विह्वल होकर रोने लगे ॥ ३३—३५ ॥ इसके पश्चात् सिद्धशिरोमणि विदुरजी यमुनातटसे चलकर कुछ दिनोंमें गङ्गाजीके किनारे जा पहुँचे, जहाँ श्रीमैत्रेयजी रहते थे ॥ ३६ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमोऽध्यायः

विदुरजीका प्रश्न और मैत्रेयजीका सृष्टिक्रमवर्णन

श्रीशुक उवाच

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभावशुद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥ १

विदुर उवाच

सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं^१ वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं
यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ॥ २

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
दधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥ ३

तत्साधुवर्यादिश वर्त्म^२ शं नः
संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥ ४

करोति कर्माणि कृतावतारो
यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः
संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ॥ ५

यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य
शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एत-
दनुप्रविष्टो बहुधा यथाऽऽसीत् ॥ ६

क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां
क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः^३ ।
मनो न तृप्यत्यपि^४ शृण्वतां नः
सुश्लोकमौलेश्वरितामृतानि ॥ ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परमज्ञानी मैत्रेय मुनि (हरिद्वारक्षेत्रमें) विराजमान थे। भगवद्भक्तिसे शुद्ध हुए हृदयवाले विदुरजी उनके पास जा पहुँचे और उनके साधुस्वभावसे आप्यायित होकर उन्होंने पूछा ॥ १ ॥

विदुरजीने कहा—भगवन्! संसारमें सब लोग सुखके लिये कर्म करते हैं; परन्तु उनसे न तो उन्हें सुख ही मिलता है और न उनका दुःख ही दूर होता है, बल्कि उससे भी उनके दुःखकी वृद्धि ही होती है। अतः इस विषयमें क्या करना उचित है, यह आप मुझे कृपा करके बतलाइये ॥ २ ॥ जो लोग दुर्भाग्यवश भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख, अधर्मपरायण और अत्यन्त दुःखी हैं, उनपर कृपा करनेके लिये ही आप-जैसे भाग्यशाली भगवद्भक्त संसारमें विचरा करते हैं ॥ ३ ॥ साधुशिरोमणे! आप मुझे उस शान्तिप्रद साधनका उपदेश दीजिये, जिसके अनुसार आराधना करनेसे भगवान् अपने भक्तोंके भक्तिपूत हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं और अपने स्वरूपका अपरोक्ष अनुभव करानेवाला सनातन ज्ञान प्रदान करते हैं ॥ ४ ॥ त्रिलोकीके नियन्ता और परम स्वतन्त्र श्रीहरि अवतार लेकर जो-जो लीलाएँ करते हैं; जिस प्रकार अकर्ता होकर भी उन्होंने कल्पके आरम्भमें इस सृष्टिकी रचना की, जिस प्रकार इसे स्थापित कर वे जगत्के जीवोंकी जीविकाका विधान करते हैं, फिर जिस प्रकार इसे अपने हृदयाकाशमें लीनकर वृत्तिशून्य हो योगमायाका आश्रय लेकर शयन करते हैं और जिस प्रकार वे योगेश्वरेश्वर प्रभु एक होनेपर भी इस ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे अनुप्रविष्ट होकर अनेकों रूपोंमें प्रकट होते हैं—वह सब रहस्य आप हमें समझाइये ॥ ५-६ ॥ ब्राह्मण, गौ और देवताओंके कल्याणके लिये जो अनेकों अवतार धारण करके लीलासे ही नाना प्रकारके दिव्य कर्म करते हैं, वे भी हमें सुनाइये। यशस्वियोंके मुकुटमणि श्रीहरिके लीलामृतका पान करते-करते हमारा मन तृप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो
 लोकानलोकान् सह लोकपालान् ।
 अचीकृपद्यत्र हि सर्वसत्त्व-
 निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ॥ ८
 येन प्रजानामुत आत्मकर्म-
 रूपाभिधानां च भिदां व्यधत् ।
 नारायणो विश्वसृडात्मयोनि-
 रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य ॥ ९
 परावरेषां भगवन् व्रतानि
 श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्ष्णम् ।
 अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
 तेषामृते कृष्णकथामृतौघात् ॥ १०
 कस्तृपुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
 सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।
 यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
 भवप्रदां रोहरति छिनत्ति ॥ ११
 मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां
 सखापि ते भारतमाह कृष्णः ।
 यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-
 र्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥ १२
 सा श्रद्धधानस्य विवर्धमाना
 विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः^१ ।
 हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
 समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते ॥ १३
 ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
 हरेः कथायां विमुखानघेन ।
 क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
 मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥ १४
 तदस्य कौषारव शर्मदातु-
 हरेः कथामेव कथासु सारम् ।
 उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो
 शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तैः ॥ १५

हमें यह भी सुनाइये कि उन समस्त लोकपतियोंके स्वामी श्रीहरिने इन लोकों, लोकपालों और लोकालोक-पर्वतसे बाहरके भागोंको, जिनमें ये सब प्रकारके प्राणियोंके अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न भेद प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु तत्त्वोंसे रचा है ॥ ८ ॥ द्विजवर ! उन विश्वकर्ता स्वयम्भू श्रीनारायणने अपनी प्रजाके स्वभाव, कर्म, रूप और नामोंके भेदकी किस प्रकार रचना की है ? भगवन् ! मैंने श्रीव्यासजीके मुखसे ऊँच-नीच वर्णोंके धर्म तो कई बार सुने हैं । किन्तु अब श्रीकृष्णकथामृतके प्रवाहको छोड़कर अन्य स्वल्पसुखदायक धर्मोंसे मेरा चित्त ऊब गया है ॥ ९-१० ॥ उन तीर्थपाद श्रीहरिके गुणानुवादसे तृप्त हो भी कौन सकता है । उनका तो नारदादि महात्मागण भी आप-जैसे साधुओंके समाजमें कीर्तन करते हैं तथा जब ये मनुष्योंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करते हैं, तब उनकी संसारचक्रमें डालनेवाली घर-गृहस्थोंकी आसक्तिको काट डालते हैं ॥ ११ ॥ भगवन् ! आपके सखा मुनिवर कृष्णद्वैपायनने भी भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेकी इच्छासे ही महाभारत रचा है । उसमें भी विषयसुखोंका उल्लेख करते हुए मनुष्योंकी बुद्धिको भगवान्‌की कथाओंकी ओर लगानेका ही प्रयत्न किया गया है ॥ १२ ॥ यह भगवत्कथाकी रुचि श्रद्धालु पुरुषके हृदयमें जब बढ़ने लगती है, तब अन्य विषयोंसे उसे विरक्त कर देती है । वह भगवच्चरणोंके निरन्तर चिन्तनसे आनन्दमग्न हो जाता है और उस पुरुषके सभी दुःखोंका तत्काल अन्त हो जाता है ॥ १३ ॥ मुझे तो उन शोचनीयोंके भी शोचनीय अज्ञानी पुरुषोंके लिये निरन्तर खेद रहता है, जो अपने पिछले पापोंके कारण श्रीहरिकी कथाओंसे विमुख रहते हैं । हाय ! कालभगवान् उनके अमूल्य जीवनको काट रहे हैं और वे वाणी, देह और मनसे व्यर्थ वाद-विवाद, व्यर्थ चेष्टा और व्यर्थ चिन्तनमें लगे रहते हैं ॥ १४ ॥ मैत्रेयजी ! आप दीनोंपर कृपा करनेवाले हैं; अतः भौंरा जैसे फूलोंमेंसे रस निकाल लेता है, उसी प्रकार इन लौकिक कथाओंमेंसे इनकी सारभूता परम कल्याणकारी पवित्रकीर्ति श्रीहरिकी कथाएँ छाँटकर हमारे कल्याणके लिये सुनाइये ॥ १५ ॥

स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थं
कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि
यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ॥ १६

श्रीशुक उवाच

स एवं भगवान् पृष्ठः क्षत्रा कौषारविर्मुनिः ।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहु मानयन् ॥ १७

मैत्रेय उवाच

साधु पृष्ठं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता ।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः ॥ १८

नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्वादरायणवीर्यजे ।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वया हरिरीश्वरः ॥ १९

माण्डव्यशापाद्भगवान् प्रजासंयमनो यमः ।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥ २०

भवान् भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य च ।
यस्य^१ ज्ञानोपदेशाय माऽऽदिशद्भगवान् ब्रजन् ॥ २१

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ॥ २२

भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मानानामत्युपलक्षणः ॥ २३

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥ २४

सा वा एतस्य सद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ॥ २५

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥ २६

उन सर्वेश्वरने संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये अपनी मायाशक्तिको स्वीकार कर राम-कृष्णादि अवतारोंके द्वारा जो अनेकों अलौकिक लीलाएँ की हैं, वे सब मुझे सुनाइये ॥ १६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब विदुरजीने जीवोंके कल्याणके लिये इस प्रकार प्रश्न किया, तब तो मुनिश्रेष्ठ भगवान् मैत्रेयजीने उनकी बहुत बड़ाई करते हुए यों कहा ॥ १७ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—साधुस्वभाव विदुरजी ! आपने सब जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह करके यह बड़ी अच्छी बात पूछी है । आपका चित्त तो सर्वदा श्रीभगवान्में ही लगा रहता है, तथापि इससे संसारमें भी आपका बहुत सुयश फैलेगा ॥ १८ ॥ आप श्रीव्यासजीके औरस पुत्र हैं; इसलिये आपके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है कि आप अनन्यभावसे सर्वेश्वर श्रीहरिके ही आश्रित हो गये हैं ॥ १९ ॥ आप प्रजाको दण्ड देनेवाले भगवान् यम ही हैं । माण्डव्य ऋषिका शाप होनेके कारण ही आपने श्रीव्यासजीके वीर्यसे उनके भाई विचित्रवीर्यकी भोगपत्नी दासीके गर्भसे जन्म लिया है ॥ २० ॥ आप सर्वदा ही श्रीभगवान् और उनके भक्तोंको अत्यन्त प्रिय हैं; इसीलिये भगवान् निजधाम पधारते समय मुझे आपको ज्ञानोपदेश करनेकी आज्ञा दे गये हैं ॥ २१ ॥ इसलिये अब मैं जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये योगमायाके द्वारा विस्तारित हुई भगवान्की विभिन्न लीलाओंका क्रमशः वर्णन करता हूँ ॥ २२ ॥

सृष्टिरचनाके पूर्व समस्त आत्माओंके आत्मा एक पूर्ण परमात्मा ही थे—न द्रष्टा था न दृश्य ! सृष्टिकालमें अनेक वृत्तियोंके भेदसे जो अनेकता दिखायी पड़ती है, वह भी वही थे; क्योंकि उनकी इच्छा अकेले रहनेकी थी ॥ २३ ॥ वे ही द्रष्टा होकर देखने लगे, परन्तु उन्हें दृश्य दिखायी नहीं पड़ा; क्योंकि उस समय वे ही अद्वितीय रूपसे प्रकाशित हो रहे थे । ऐसी अवस्थामें वे अपनेको असत्के समान समझने लगे । वस्तुतः वे असत् नहीं थे, क्योंकि उनकी शक्तियाँ ही सोयी थीं । उनके ज्ञानका लोप नहीं हुआ था ॥ २४ ॥ यह द्रष्टा और दृश्यका अनुसन्धान करनेवाली शक्ति ही—कार्यकारणरूपा माया है । महाभाग विदुरजी ! इस भावाभावरूप अनिर्वचनीय मायाके द्वारा ही भगवान्ने इस विश्वका निर्माण किया है ॥ २५ ॥ कालशक्तिसे जब यह त्रिगुणमयी माया क्षोभको प्राप्त हुई, तब उन इन्द्रियातीत चिन्मय परमात्माने अपने अंश पुरुषरूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया ॥ २६ ॥

ततोऽभवन् महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् ।
 विज्ञानात्माऽऽत्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥ २७

सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।
 आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥ २८

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत ।
 कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः^१ ॥ २९

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
 अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ।
 वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥ ३०

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ।
 तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥ ३१

कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः ।
 नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ॥ ३२

अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।
 ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥ ३३

अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् ।
 आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥ ३४

ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।
 महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ॥ ३५

भूतानां नभआदीनां यद्यद्ब्रव्यावरावरम्^२ ।
 तेषां परानुसंसर्गाद्यथासंख्यं गुणान् विदुः ॥ ३६

एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशल्लिङ्गिनः ।
 नानात्वात्स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम् ॥ ३७

तब कालकी प्रेरणासे उस अव्यक्त मायासे महत्तत्त्व प्रकट हुआ। वह मिथ्या अज्ञानका नाशक होनेके कारण विज्ञानस्वरूप और अपनेमें सूक्ष्मरूपसे स्थित प्रपञ्चकी अभिव्यक्ति करनेवाला था ॥ २७ ॥ फिर चिदाभास, गुण और कालके अधीन उस महत्तत्त्वने भगवान्की दृष्टि पड़नेपर इस विश्वकी रचनाके लिये अपना रूपान्तर किया ॥ २८ ॥ महत्तत्त्वके विकृत होनेपर अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई—जो कार्य (अधिभूत), कारण (अध्यात्म) और कर्ता (अधिदैव) रूप होनेके कारण भूत, इन्द्रिय और मनका कारण है ॥ २९ ॥ वह अहङ्कार वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और तामस-भेदसे तीन प्रकारका है; अतः अहंतत्त्वमें विकार होनेपर वैकारिक अहङ्कारसे मन और जिनसे विषयोंका ज्ञान होता है वे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता हुए ॥ ३० ॥ तैजस अहङ्कारसे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हुई तथा तामस अहङ्कारसे सूक्ष्म भूतोंका कारण शब्दतन्मात्र हुआ और उससे दृष्टान्तरूपसे आत्माका बोध करानेवाला आकाश उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥ भगवान्की दृष्टि जब आकाशपर पड़ी, तब उससे फिर काल, माया और चिदाभासके योगसे स्पर्शतन्मात्र हुआ और उसके विकृत होनेपर उससे वायुकी उत्पत्ति हुई ॥ ३२ ॥ अत्यन्त बलवान् वायुने आकाशके सहित विकृत होकर रूपतन्मात्रकी रचना की और उससे संसारका प्रकाशक तेज उत्पन्न हुआ ॥ ३३ ॥ फिर परमात्माकी दृष्टि पड़नेपर वायुयुक्त तेजने काल, माया और चिदंशके योगसे विकृत होकर रसतन्मात्रके कार्य जलको उत्पन्न किया ॥ ३४ ॥ तदनन्तर तेजसे युक्त जलने ब्रह्मका दृष्टिपात होनेपर काल, माया और चिदंशके योगसे गन्धगुणमयी पृथ्वीको उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥ विदुरजी ! इन आकाशादि भूतोंमेंसे जो-जो भूत पीछे-पीछे उत्पन्न हुए हैं, उनमें क्रमशः अपने पूर्व-पूर्व भूतोंके गुण भी अनुगत समझने चाहिये ॥ ३६ ॥ ये महत्तत्त्वादिके अभिमानी विकार, विक्षेप और चेतनांशविशिष्ट देवगण श्रीभगवान्के ही अंश हैं किन्तु पृथक्-पृथक् रहनेके कारण जब वे विश्वरचनारूप अपने कार्यमें सफल नहीं हुए, तब हाथ जोड़कर भगवान्से कहने लगे ॥ ३७ ॥

देवा ऊचुः

नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥ ३८

धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवा-
स्तापत्रयेणोपहता न शर्म ।
आत्मल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि-
च्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥ ३९

मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडै-
श्छन्दःसुपणैर्ऋषयो विविक्ते ।
यस्याधमर्षोदसरिद्वारायाः
पदं पदं तीर्थपदः^१ प्रपन्नाः ॥ ४०

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय ।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
ब्रजेम^२ तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ॥ ४१

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थं
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।
ब्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥ ४२

यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन् पदाब्जम् ॥ ४३

तान्^३ वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये
पराहतान्तर्मनसः परेश ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं
ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः ॥ ४४

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥ ४५

देवताओंने कहा—देव ! हम आपके चरण-
कमलोंकी वन्दना करते हैं। ये अपनी शरणमें आये
हुए जीवोंका ताप दूर करनेके लिये छत्रके समान हैं
तथा इनका आश्रय लेनेसे यतिजन अनन्त संसार-
दुःखको सुगमतासे ही दूर फेंक देते हैं ॥ ३८ ॥
जगत्कर्ता जगदीश्वर ! इस संसारमें तापत्रयसे व्याकुल
रहनेके कारण जीवोंको जरा भी शान्ति नहीं मिलती।
इसलिये भगवन् ! हम आपके चरणोंकी ज्ञानमयी
छायाका आश्रय लेते हैं ॥ ३९ ॥ मुनिजन एकान्त
स्थानमें रहकर आपके मुखकमलका आश्रय लेनेवाले
वेदमन्त्ररूप पक्षियोंके द्वारा जिनका अनुसन्धान करते
रहते हैं तथा जो सम्पूर्ण पापनाशिनी नदियोंमें श्रेष्ठ
श्रीगङ्गाजीके उद्गमस्थान हैं, आपके उन परम पावन
पादपद्मोंका हम आश्रय लेते हैं ॥ ४० ॥ हम आपके
चरणकमलोंकी उस चौकीका आश्रय ग्रहण करते हैं,
जिसे भक्तजन श्रद्धा और श्रवण-कीर्तनादिरूप भक्तिसे
परिमार्जित अन्तःकरणमें धारण करके वैराग्यपुष्ट ज्ञानके
द्वारा परम धीर हो जाते हैं ॥ ४१ ॥ ईश ! आप
संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये ही
अवतार लेते हैं; अतः हम सब आपके उन
चरणकमलोंकी शरण लेते हैं, जो अपना स्मरण
करनेवाले भक्तजनोंको अभय कर देते हैं ॥ ४२ ॥ जिन
पुरुषोंका देह, गेह तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य
तुच्छ पदार्थोंमें अहंता, ममताका दृढ़ दुराग्रह है, उनके
शरीरमें (आपके अन्तर्यामीरूपसे) रहनेपर भी जो
अत्यन्त दूर हैं; उन्हीं आपके चरणारविन्दोंको हम
भजते हैं ॥ ४३ ॥ परम यशस्वी परमेश्वर ! इन्द्रियोंके
विषयाभिमुख रहनेके कारण जिनका मन सर्वदा बाहर
ही भटका करता है, वे पामरलोग आपके विलासपूर्ण
पादविन्यासकी शोभाके विशेषज्ञ भक्तजनोंका दर्शन
नहीं कर पाते; इसीसे वे आपके चरणोंसे दूर
रहते हैं ॥ ४४ ॥ देव ! आपके कथामृतका पान
करनेसे उमड़ी हुई भक्तिके कारण जिनका अन्तः-
करण निर्मल हो गया है, वे लोग—वैराग्य ही
जिसका सार है—ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करके
अनायास ही आपके वैकुण्ठधामको चले जाते हैं ॥ ४५ ॥

तथापरे चात्मसमाधियोग-

बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।

त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति

तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥ ४६

तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाऽऽद्य

त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म ।

सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं

न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे^१ ते ॥ ४७

यावद्वलिं तेऽज हराम काले

यथा वयं चात्रमदाम यत्र ।

यथोभयेषां त इमे हि लोका

बलिं हरन्तोऽत्रमदन्यनूहाः ॥ ४८

त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां

कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।

त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनां

रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥ ४९

ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे

बभूविमात्मन् करवाम किं ते ।

त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या

देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम्^२ ॥ ५०

दूसरे धीर पुरुष चित्तनिरोधरूप समाधिके बलसे आपकी बलवती मायाको जीतकर आपमें ही लीन तो हो जाते हैं, पर उन्हें श्रम बहुत होता है; किन्तु आपकी सेवाके मार्गमें कुछ भी कष्ट नहीं है ॥ ४६ ॥

आदिदेव ! आपने सृष्टि-रचनाकी इच्छासे हमें त्रिगुणमय रचा है । इसलिये विभिन्न स्वभाववाले होनेके कारण हम आपसमें मिल नहीं पाते और इसीसे आपकी क्रीडाके साधनरूप ब्रह्माण्डकी रचना करके उसे आपको समर्पण करनेमें असमर्थ हो रहे हैं ॥ ४७ ॥ अतः जन्मरहित भगवन् ! जिससे हम ब्रह्माण्ड रचकर आपको सब प्रकारके भोग समयपर समर्पण कर सकें और जहाँ स्थित होकर हम भी अपनी योग्यताके अनुसार अन्न ग्रहण कर सकें तथा ये सब जीव भी सब प्रकारकी विघ्नवाधाओंसे दूर रहकर हम और आप दोनोंको भोग समर्पण करते हुए अपना-अपना अन्न भक्षण कर सकें, ऐसा कोई उपाय कीजिये ॥ ४८ ॥ आप निर्विकार पुराणपुरुष ही अन्य कार्यवर्गके सहित हम देवताओंके आदि कारण हैं । देव ! पहले आप अजन्माहीने सत्त्वादि गुण और जन्मादि कर्मोंकी कारणरूपा मायाशक्तिमें चिदाभासरूप वीर्य स्थापित किया था ॥ ४९ ॥ परमात्मदेव ! महत्तत्त्वादिरूप हम देवगण जिस कार्यके लिये उत्पन्न हुए हैं, उसके सम्बन्धमें हम क्या करें ? देव ! हमपर आप ही अनुग्रह करनेवाले हैं । इसलिये ब्रह्माण्डरचनाके लिये आप हमें क्रियाशक्तिके सहित अपनी ज्ञानशक्ति भी प्रदान कीजिये ॥ ५० ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



अथ षष्ठोऽध्यायः

विराट् शरीरकी उत्पत्ति

ऋषिरुवाच

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।

प्रसुप्तलोकतन्त्राणां^३ निशाम्य^४ गतिमीश्वरः ॥ १

मैत्रेय ऋषिने कहा—सर्वशक्तिमान् भगवान्ने

जब देखा कि आपसमें संगठित न होनेके कारण ये मेरी महत्तत्त्व आदि शक्तियाँ विश्व-रचनाके कार्यमें असमर्थ

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।
 त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥ २
 सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम् ।
 भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ॥ ३
 प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।
 प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम्^१ ॥ ४
 परेण विशता स्वस्मिन्मात्रया विश्वसृग्गणः ।
 चुक्षोभान्योन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः ॥ ५
 हिरण्यमयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
 आण्डकोश^२ उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ ६
 स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान् ।
 विबभाजात्मनाऽऽत्मानमेकधा दशधा त्रिधा ॥ ७
 एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।
 आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥ ८
 साध्यात्मः साधिदैवश्च^३ साधिभूत इति त्रिधा ।
 विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥ ९
 स्मरन्^४ विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।
 विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥ १०
 अथ तस्याभितप्तस्य कति चायतनानि ह ।
 निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ॥ ११
 तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम् ।
 वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते ॥ १२
 निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्भूरेः ।
 जिह्वांशेन च रसं^५ ययासौ प्रतिपद्यते ॥ १३

हो रही हैं, तब वे कालशक्तिको स्वीकार करके एक साथ ही महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ—इन तेईस तत्त्वोंके समुदायमें प्रविष्ट हो गये ॥ १-२ ॥ उनमें प्रविष्ट होकर उन्होंने जीवोंके सोये हुए अदृष्टको जाग्रत् किया और परस्पर विलग हुए। उस तत्त्वसमूहको अपनी क्रियाशक्तिके द्वारा आपसमें मिला दिया ॥ ३ ॥ इस प्रकार जब भगवान्ने अदृष्टको कार्योंमुख किया, तब उस तेईस तत्त्वोंके समूहने भगवान्की प्रेरणासे अपने अंशोंद्वारा अधिपुरुष—विराट्को उत्पन्न किया ॥ ४ ॥ अर्थात् जब भगवान्ने अंशरूपसे अपने उस शरीरमें प्रवेश किया, तब वह विश्वरचना करनेवाला महत्तत्त्वादिका समुदाय एक-दूसरेसे मिलकर परिणामको प्राप्त हुआ। यह तत्त्वोंका परिणाम ही विराट् पुरुष है, जिसमें चराचर जगत् विद्यमान है ॥ ५ ॥ जलके भीतर जो अण्डरूप आश्रयस्थान था, उसमें वह हिरण्यमय विराट् पुरुष सम्पूर्ण जीवोंको साथ लेकर एक हजार दिव्य वर्षोंतक रहा ॥ ६ ॥ वह विश्वरचना करनेवाले तत्त्वोंका गर्भ (कार्य) था तथा ज्ञान, क्रिया और आत्मशक्तिसे सम्पन्न था। इन शक्तियोंसे उसने स्वयं अपने क्रमशः एक (हृदयरूप), दस (प्राणरूप) और तीन (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) विभाग किये ॥ ७ ॥ यह विराट् पुरुष ही प्रथम जीव होनेके कारण समस्त जीवोंका आत्मा, जीवरूप होनेके कारण परमात्माका अंश और प्रथम अभिव्यक्त होनेके कारण भगवान्का आदि-अवतार है। यह सम्पूर्ण भूतसमुदाय इसीमें प्रकाशित होता है ॥ ८ ॥ यह अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवरूपसे तीन प्रकारका, प्राणरूपसे दस प्रकारका* और हृदयरूपसे एक प्रकारका है ॥ ९ ॥

फिर विश्वकी रचना करनेवाले महत्तत्त्वादिके अधिपति श्रीभगवान्ने उनकी प्रार्थनाको स्मरण कर उनकी वृत्तियोंको जगानेके लिये अपने चेतनरूप तेजसे उस विराट् पुरुषको प्रकाशित किया, उसे जगाया ॥ १० ॥ उसके जाग्रत् होते ही देवताओंके लिये कितने स्थान प्रकट हुए—यह मैं बतलाता हूँ, सुनो ॥ ११ ॥ विराट् पुरुषके पहले मुख प्रकट हुआ; उसमें लोकपाल अग्नि अपने अंश वागिन्द्रियके समेत प्रविष्ट हो गया, जिससे यह जीव बोलता है ॥ १२ ॥ फिर विराट्पुरुषके तालु उत्पन्न हुआ; उसमें लोकपाल वरुण अपने अंश रसनेन्द्रियके सहित स्थित हुआ, जिससे जीव रस ग्रहण करता है ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—प्रेरितो जनितस्ताभिर्मात्रा० । २. प्रा० पा०—अण्डकोश० । ३. प्रा० पा०—साधिभूतश्च साधिदैव इति । ४. प्रा० पा०—स्फु० । ५. प्रा० पा०—रसान् ।

* दस इन्द्रियोंसहित मन अध्यात्म है, इन्द्रियदिके विषय अधिभूत हैं, इन्द्रियाधिष्ठाता देव अधिदैव हैं तथा प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये दस प्राण हैं ।

निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम् ।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ १४

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः ।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ १५

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि^१ लोकपालोऽनिलोऽविशत् ।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते ॥ १६

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः ।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ॥ १७

त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः ।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते ॥ १८

मेढूं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत् ।
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते ॥ १९

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् ।
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते ॥ २०

हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत् ।
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ॥ २१

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत् ।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते ॥ २२

बुद्धिं चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत् ।
बोधेनांशेन बोद्धव्यप्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ २३

हृदयं चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत् ।
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते ॥ २४

आत्मानं चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्पदम् ।
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते ॥ २५

सत्त्वं चास्य विनिर्भिन्नं महाधिष्ण्यमुपाविशत् ।
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ॥ २६

इसके पश्चात् उस विराट् पुरुषके नथुने प्रकट हुए; उनमें दोनों अश्विनीकुमार अपने अंश घ्राणेन्द्रियके सहित प्रविष्ट हुए, जिससे जीव गन्ध ग्रहण करता है ॥ १४ ॥ इसी प्रकार जब उस विराट् देहमें आँखें प्रकट हुईं, तब उनमें अपने अंश नेत्रेन्द्रियके सहित—लोकपति सूर्यने प्रवेश किया, जिस नेत्रेन्द्रियसे पुरुषको विविध रूपोंका ज्ञान होता है ॥ १५ ॥ फिर उस विराट् विग्रहमें त्वचा उत्पन्न हुई; उसमें अपने अंश त्वगेन्द्रियके सहित वायु स्थित हुआ, जिस त्वगेन्द्रियसे जीव स्पर्शका अनुभव करता है ॥ १६ ॥ जब इसके कर्णछिद्र प्रकट हुए, तब उनमें अपने अंश श्रवणेन्द्रियके सहित दिशाओंने प्रवेश किया, जिस श्रवणेन्द्रियसे जीवको शब्दका ज्ञान होता है ॥ १७ ॥ फिर विराट् शरीरमें चर्म उत्पन्न हुआ; उसमें अपने अंश रोमोंके सहित ओषधियाँ स्थित हुईं, जिन रोमोंसे जीव खुजली आदिका अनुभव करता है ॥ १८ ॥ अब उसके लिङ्ग उत्पन्न हुआ। अपने इस आश्रयमें प्रजापतिने अपने अंश वीर्यके सहित प्रवेश किया, जिससे जीव आनन्दका अनुभव करता है ॥ १९ ॥ फिर विराट् पुरुषके गुदा प्रकट हुई; उसमें लोकपाल मित्रने अपने अंश पायु-इन्द्रियके सहित प्रवेश किया, इससे जीव मलत्याग करता है ॥ २० ॥ इसके पश्चात् उसके हाथ प्रकट हुए; उनमें अपनी ग्रहण-त्यागरूपा शक्तिके सहित देवराज इन्द्रने प्रवेश किया, इस शक्तिसे जीव अपनी जीविका प्राप्त करता है ॥ २१ ॥ जब इसके चरण उत्पन्न हुए, तब उनमें अपनी शक्ति गतिके सहित लोकेश्वर विष्णुने प्रवेश किया—इस गति-शक्तिद्वारा जीव अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है ॥ २२ ॥ फिर इसके बुद्धि उत्पन्न हुई; अपने इस स्थानमें अपने अंश बुद्धिशक्तिके साथ वाक्पति ब्रह्माने प्रवेश किया, इस बुद्धिशक्तिसे जीव ज्ञातव्य विषयोंको जान सकता है ॥ २३ ॥ फिर इसमें हृदय प्रकट हुआ; उसमें अपने अंश मनके सहित चन्द्रमा स्थित हुआ। इस मनःशक्तिके द्वारा जीव सङ्कल्प-विकल्पादिरूप विकारोंको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ तत्पश्चात् विराट् पुरुषमें अहङ्कार उत्पन्न हुआ; इस अपने आश्रयमें क्रियाशक्तिसहित अभिमान (रुद्र) ने प्रवेश किया। इससे जीव अपने कर्तव्यको स्वीकार करता है ॥ २५ ॥ अब इसमें चित्त प्रकट हुआ। उसमें चित्तशक्तिके सहित महत्तत्त्व (ब्रह्मा) स्थित हुआ; इस चित्तशक्तिसे जीव विज्ञान (चेतना) को उपलब्ध करता है ॥ २६ ॥

शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत ।
 गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ॥ २७
 आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे ।
 धरां रजःस्वभावेन पणयो^१ ये च ताननु ॥ २८
 तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिताः^२ ।
 उभयोरन्तरं व्योम ये^३ रुद्रपार्षदां गणाः ॥ २९
 मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरुद्वह ।
 यस्तून्मुखत्वाद्गणानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः ॥ ३०
 बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।
 यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥ ३१
 विशोऽवर्तन्त^४ तस्योर्वोलोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
 वैश्यस्तदुद्भवो वार्ता नृणां यः समवर्तयत् ॥ ३२
 पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।
 तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥ ३३
 एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम् ।
 श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्धयर्थं यज्जाताः सहवृत्तिभिः ॥ ३४
 एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।
 कः श्रद्धयादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ॥ ३५
 अथापि कीर्तयाम्यङ्गं यथामति यथाश्रुतम् ।
 कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम् ॥ ३६
 एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
 सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
 श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
 कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥ ३७

इस विराट् पुरुषके सिरसे स्वर्गलोक, पैरोसे पृथ्वी और नाभिसे अन्तरिक्ष (आकाश) उत्पन्न हुआ। इनमें क्रमशः सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके परिणामरूप देवता, मनुष्य और प्रेतादि देखे जाते हैं ॥ २७ ॥ इनमें देवतालोक सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण स्वर्गलोकमें, मनुष्य और उनके उपयोगी गौ आदि जीव रजोगुणकी प्रधानताके कारण पृथ्वीमें तथा तमोगुणी स्वभाववाले होनेसे रुद्रके पार्षदगण (भूत, प्रेत आदि) दोनोंके बीचमें स्थित भगवान्के नाभिस्थानीय अन्तरिक्षलोकमें रहते हैं ॥ २८-२९ ॥

विदुरजी ! वेद और ब्राह्मण भगवान्के मुखसे प्रकट हुए। मुखसे प्रकट होनेके कारण ही ब्राह्मण सब वर्णोंमें श्रेष्ठ और सबका गुरु है ॥ ३० ॥ उनकी भुजाओंसे क्षत्रियवृत्ति और उसका अवलम्बन करनेवाला क्षत्रिय वर्ण उत्पन्न हुआ, जो विराट् भगवान्का अंश होनेके कारण जन्म लेकर सब वर्णोंकी चार आदिके उपद्रवोंसे रक्षा करता है ॥ ३१ ॥ भगवान्की दोनों जाँघोंसे सब लोगोंका निर्वाह करनेवाली वैश्यवृत्ति उत्पन्न हुई और उन्हींसे वैश्य वर्णका भी प्रादुर्भाव हुआ। यह वर्ण अपनी वृत्तिसे सब जीवोंकी जीविका चलाता है ॥ ३२ ॥ फिर सब धर्मोंकी सिद्धिके लिये भगवान्के चरणोंसे सेवावृत्ति प्रकट हुई और उन्हींसे पहले-पहल उस वृत्तिक अधिकारी शूद्रवर्ण भी प्रकट हुआ, जिसकी वृत्तिसे ही श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं * ॥ ३३ ॥ ये चारों वर्ण अपनी-अपनी वृत्तियोंके सहित जिनसे उत्पन्न हुए हैं, उन अपने गुरु श्रीहरिका अपने-अपने धर्मोंसे चित्तशुद्धिके लिये श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं ॥ ३४ ॥ विदुरजी ! यह विराट् पुरुष काल, कर्म और स्वभावशक्तिसे युक्त भगवान्की योगमायाके प्रभावको प्रकट करनेवाला है। इसके स्वरूपका पूरा-पूरा वर्णन करनेका कौन साहस कर सकता है ॥ ३५ ॥ तथापि प्यारे विदुरजी ! अन्य व्यावहारिक चर्चाओंसे अपवित्र हुई अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये, जैसी मेरी बुद्धि है और जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना है वैसा, श्रीहरिका सुयश वर्णन करता हूँ ॥ ३६ ॥ महापुरुषोंका मत है कि

१. प्रा० पा०—प्राणयोगेन चैव तत् । २. प्रा० पा०—भगवान्नाभिमाश्रितः । ३. प्राचीन प्रतिमें इस श्लोकका चतुर्थ पाद इस प्रकार है—सरुद्राः पार्षदा गणाः । ४. प्रा० पा०—य० ।

* सब धर्मकी सिद्धिका मूल सेवा है, सेवा किये बिना कोई भी धर्म सिद्ध नहीं होता। अतः सब धर्मोंकी मूलभूता सेवा ही जिसका धर्म है, वह शूद्र सब वर्णोंमें महान् है। ब्राह्मणका धर्म मोक्षके लिये है, क्षत्रियका धर्म भोगनेके लिये है, वैश्यका धर्म अर्थके लिये है और शूद्रका धर्म धर्मके लिये है। इस प्रकार प्रथम तीन वर्णोंके धर्म अन्य पुरुषार्थोंके लिये हैं, किन्तु शूद्रका धर्म स्वपुरुषार्थके लिये है; अतः इसकी वृत्तिसे ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनाऽऽदिना ।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्वया ॥ ३८

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥ ३९

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह ।
अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥ ४०

पुण्यश्लोकशिरोमणि श्रीहरिके गुणोंका गान करना ही मनुष्योंकी वाणीका तथा विद्वानोंके मुखसे भगवत्कथामृतका पान करना ही उनके कानोंका सबसे बड़ा लाभ है ॥ ३७ ॥ वत्स ! हम ही नहीं, आदिकवि श्रीब्रह्माजीने एक हजार दिव्य वर्षोंतक अपनी योगपरिपक्व बुद्धिसे विचार किया; तो भी क्या वे भगवान्की अमित महिमाका पार पा सके ? ॥ ३८ ॥ अतः भगवान्की माया बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देनेवाली है। उसकी चक्करमें डालनेवाली चाल अनन्त है; अतएव स्वयं भगवान् भी उसकी थाह नहीं लगा सकते, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है ॥ ३९ ॥ जहाँ न पहुँचकर मनके सहित वाणी भी लौट आती है तथा जिनका पार पानेमें अहङ्कारके अभिमानी रुद्र तथा अन्य इन्द्रियाधिष्ठाता देवता भी समर्थ नहीं हैं, उन श्रीभगवान्को हम नमस्कार करते हैं ॥ ४० ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः

विदुरजीके प्रश्न

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः ।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत ॥ १

विदुर उवाच

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥ २

क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥ ३

अस्त्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया ।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः^१ प्रत्यपिधास्यति^२ ॥ ४

देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः ।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥ ५

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—मैत्रेयजीका यह भाषण सुनकर बुद्धिमान् व्यासनन्दन विदुरजीने उन्हें अपनी वाणीसे प्रसन्न करते हुए कहा ॥ १ ॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! भगवान् तो शुद्ध बोधस्वरूप, निर्विकार और निर्गुण हैं; उनके साथ लीलासे भी गुण और क्रियाका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ॥ २ ॥ बालकमें तो कामना और दूसरोंके साथ खेलनेकी इच्छा रहती है, इसीसे वह खेलनेके लिये प्रयत्न करता है; किन्तु भगवान् तो स्वतः नित्यतृप्त—पूर्णकाम और सर्वदा असङ्ग हैं, वे क्रीडाके लिये भी क्यों सङ्कल्प करेंगे ॥ ३ ॥ भगवान्ने अपनी गुणमयी मायासे जगत्की रचना की है, उसीसे वे इसका पालन करते हैं और फिर उसीसे संहार भी करेंगे ॥ ४ ॥ जिनके ज्ञानका देश, काल अथवा अवस्थासे, अपने-आप या किसी दूसरे निमित्तसे भी कभी लोप नहीं होता, उनका मायाके साथ किस प्रकार संयोग हो सकता है ॥ ५ ॥

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्वस्थितः ।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥ ६

एतस्मिन्मे मनो विद्वन् खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे ।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥ ७

श्रीशुक उवाच

स इत्थं चोदितः क्षत्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः ।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ॥ ८

मैत्रेय उवाच

सेयं भगवतो माया यत्रयेन विरुध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥ ९

यदर्थेन^१ विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः ।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥ १०

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनो नात्मनो गुणः ॥ ११

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥ १२

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्टृात्मनि परे हरौ ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥ १३

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते
गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।
कुतः^२ पुनस्तच्चरणारविन्द-
परागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १४

विदुर उवाच

संछिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो ।
उभयत्रापि भगवन्मनो मे सम्प्रधावति ॥ १५

साध्वेतद् व्याहतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः ।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्वहिः^३ ॥ १६

एकमात्र ये भगवान् ही समस्त क्षेत्रोंमें उनके साक्षीरूपसे स्थित हैं, फिर इन्हें दुर्भाग्य या किसी प्रकारके कर्मजनित क्लेशकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥ ६ ॥ भगवन् ! इस अज्ञानसङ्कटमें पड़कर मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा है, आप मेरे मनके इस महान् मोहको कृपा करके दूर कीजिये ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तत्त्वजिज्ञासु विदुरजीकी यह प्रेरणा प्राप्तकर अहङ्कारहीन श्रीमैत्रेयजीने भगवान्का स्मरण करते हुए मुसकराते हुए कहा ॥ ८ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—जो आत्मा सबका स्वामी और सर्वथा मुक्तस्वरूप है, वही दीनता और बन्धनको प्राप्त हो—यह बात युक्तिविरुद्ध अवश्य है; किन्तु वस्तुतः यही तो भगवान्को माया है ॥ ९ ॥ जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुषको अपना स्मि कटना आदि व्यापार न होनेपर भी अज्ञानके कारण सत्यवत् भासते हैं, उसी प्रकार इस जीवको बन्धनादि न होते हुए भी अज्ञानवश भास रहे हैं ॥ १० ॥ यदि यह कहा जाय कि फिर ईश्वरमें इनकी प्रतीति क्यों नहीं होती, तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जलमें होनेवाली कम्प आदि क्रिया जलमें दीखनेवाले चन्द्रमाके प्रतिबिम्बमें न होनेपर भी भासती है, आकाशस्थ चन्द्रमामें नहीं, उसी प्रकार देहाभिमानी जीवमें ही देहके मिथ्या धर्मोंकी प्रतीति होती है, परमात्मामें नहीं ॥ ११ ॥ निष्कामभावसे धर्मोंका आचरण करनेपर भगवत्कृपासे प्राप्त हुए भक्तियोगके द्वारा यह प्रतीति धीरे-धीरे निवृत्त हो जाती है ॥ १२ ॥ जिस समय समस्त इन्द्रियाँ विषयोंसे हटकर साक्षं परमात्मा श्रीहरिमें निश्चलभावसे स्थित हो जाती हैं, उस समय गाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यके समान जीवके राग-द्वेषादि सने क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन एवं श्रवण अशेष दुःखराशिको शान्त कर देता है; फिर यदि हमारे हृदयमें उनके चरणकमलकी रजके सेवनका प्रेम जग पड़े, तब तो कहना ही क्या है ? ॥ १४ ॥

विदुरजीने कहा—भगवन् ! आपके युक्तियुक्त वचनोंकी तलवारसे मेरे सन्देह छिन्न-भिन्न हो गये हैं। अब मेरा चित्त भगवान्की स्वतन्त्रता और जीवकी परतन्त्रता—दोनों ही विषयोंमें खूब प्रवेश कर रहा है ॥ १५ ॥ विद्वन् ! आपने यह बात बहुत ठीक कही कि जीवको जो क्लेशादिकी प्रतीति हो रही है, उसका आधार केवल भगवान्की माया ही है। वह क्लेश मिथ्या एवं निर्मूल ही है; क्योंकि इस विश्वका मूल कारण ही मायाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ॥ १६ ॥

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
 तावुभौ सुखमेधेते क्षिप्रत्यन्तरितो जनः ॥ १७
 अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः ।
 तां चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे ॥ १८
 यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।
 रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥ १९
 दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।
 यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥ २०
 सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।
 तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः ॥ २१
 यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्रयूरुबाहुकम् ।
 यत्र विश्व इमे लोकाः सविकासं समासते ॥ २२
 यस्मिन् दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।
 त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः ॥ २३
 यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः ।
 प्रजा विचित्राकृतय आसन् याभिरिदं ततम् ॥ २४
 प्रजापतीनां स पतिश्चकृपे कान् प्रजापतीन् ।
 सर्गाश्चैवानुसर्गाश्च मनून्मन्वन्तराधिपान् ॥ २५
 एतेषामपि वंशांश्च वंशानुचरितानि च ।
 उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते ॥ २६
 तेषां संस्थां प्रमाणं च भूलोकस्य च वर्णय ।
 तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्रिणाम् ।
 वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम् ॥ २७
 गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम्^२ ।
 सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ॥ २८
 वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः ।
 ऋषीणां जन्मकर्मादि^३ वेदस्य च विकर्षणम् ॥ २९

इस संसारमें दो ही प्रकारके लोग सुखी हैं—या तो जो अत्यन्त मूढ़ (अज्ञानग्रस्त) हैं या जो बुद्धि आदिसे अतीत श्रीभगवान्को प्राप्त कर चुके हैं। बीचकी श्रेणीके संशयापन्न लोग तो दुःख ही भोगते रहते हैं ॥ १७ ॥ भगवन् ! आपकी कृपासे मुझे यह निश्चय हो गया कि ये अनात्म पदार्थ वस्तुतः हैं नहीं, केवल प्रतीत ही होते हैं। अब मैं आपके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे उस प्रतीतिको भी हटा दूँगा ॥ १८ ॥ इन श्रीचरणोंकी सेवासे नित्यसिद्ध भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणकमलोंमें उत्कट प्रेम और आनन्दकी वृद्धि होती है, जो आवागमनकी यन्त्रणाका नाश कर देती है ॥ १९ ॥ महात्मा लोग भगवत्प्राप्तिके साक्षात् मार्ग ही होते हैं, उनके यहाँ सर्वदा देवदेव श्रीहरिके गुणोंका गान होता रहता है; अल्पपुण्य पुरुषको उनकी सेवाका अवसर मिलना अत्यन्त कठिन है ॥ २० ॥

भगवन् ! आपने कहा कि सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान्ने क्रमशः महदादि तत्त्व और उनके विकारोंको रचकर फिर उनके अंशोंसे विराट्को उत्पन्न किया और इसके पश्चात् वे स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गये ॥ २१ ॥ उन विराट्के हजारों पैर, जाँघें और बाँहें हैं; उन्हींको वेद आदिपुरुष कहते हैं; उन्हींमें ये सब लोक विस्तृतरूपसे स्थित हैं ॥ २२ ॥ उन्हींमें इन्द्रिय, विषय और इन्द्रियाभिमानी देवताओंके सहित दस प्रकारके प्राणोंका—जो इन्द्रियबल, मनोबल और शारीरिक बलरूपसे तीन प्रकारके हैं—आपने वर्णन किया है और उन्हींसे ब्राह्मणादि वर्ण भी उत्पन्न हुए हैं। अब आप मुझे उनकी ब्रह्मादि विभूतियोंका वर्णन सुनाइये—जिनसे पुत्र, पौत्र, नाती और कुटुम्बियोंके सहित तरह-तरहकी प्रजा उत्पन्न हुई और उससे यह सारा ब्रह्माण्ड भर गया ॥ २३-२४ ॥ वह विराट् ब्रह्मादि प्रजापतियोंका भी प्रभु है। उसने किन-किन प्रजापतियोंको उत्पन्न किया तथा सर्ग, अनुसर्ग और मन्वन्तरोके अधिपति मनुओंकी भी किस क्रमसे रचना की ? ॥ २५ ॥ मैत्रेयजी ! उन मनुओंके वंश और वंशधर राजाओंके चरित्रोंका, पृथ्वीके ऊपर और नीचेके लोकों तथा भूलोकके विस्तार और स्थितिका भी वर्णन कीजिये तथा यह भी बताइये कि तिर्यक्, मनुष्य, देवता, सरीसृप (सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु) और पक्षी तथा जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी किस प्रकार उत्पन्न हुए ॥ २६-२७ ॥ श्रीहरिने सृष्टि करते समय जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये अपने गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु और महादेवरूपसे जो कल्याणकारी लीलाएँ कीं, उनका भी वर्णन कीजिये ॥ २८ ॥ वेष, आचरण और स्वभावके अनुसार वर्णाश्रमका विभाग, ऋषियोंके जन्म-कर्मादि, वेदोंका विभाग, यज्ञोंका विस्तार, योगका मार्ग,

यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रथो ।
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम् ॥ ३०

पाखण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः ॥ ३१

धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः ।
वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ॥ ३२

श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् पितॄणां सर्गमेव च ।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम् ॥ ३३

दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् ।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि ॥ ३४

येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः ।
सम्प्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि चानघ ॥ ३५

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥ ३६

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः ।
तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते ॥ ३७

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च ।
ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥ ३८

निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ सूरिभिः ।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव वा ॥ ३९

एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविवित्सया ।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः ॥ ४०

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥ ४१

ज्ञानमार्ग और उसका साधन सांख्यमार्ग तथा भगवान्‌के कहे हुए नारदपाञ्चरात्र आदि तन्त्रशास्त्र, विभिन्न पाखण्डमार्गोंके प्रचारसे होनेवाली विषमता, नीचवर्णके पुरुषसे उच्चवर्णकी स्त्रीमें होनेवाली सन्तानोंके प्रकार तथा भिन्न-भिन्न गुण और कर्मोंके कारण जीवकी जैसी और जितनी गतियाँ होती हैं, वे सब हमें सुनाइये ॥ २९—३१ ॥

ब्रह्मन् ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिके परस्पर अविरोधी साधनोंका, वाणिज्य, दण्डनीति और शास्त्रश्रवणकी विधियोंका, श्राद्धकी विधिका, पितृगणोंकी सृष्टिका तथा कालचक्रमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणकी स्थितिका भी अलग-अलग वर्णन कीजिये ॥ ३२-३३ ॥

दान, तप तथा इष्ट और पूर्त कर्मोंका क्या फल हैं ? प्रवास और आपत्तिके समय मनुष्यका क्या धर्म होता है ? ॥ ३४ ॥ निष्पाप मैत्रेयजी ! धर्मके मूल कारण श्रीजनार्दनभगवान् किस आचरणसे सन्तुष्ट होते हैं और किनपर अनुग्रह करते हैं, यह वर्णन कीजिये ॥ ३५ ॥ द्विजवर ! दीनवत्सल गुरुजन अपने अनुगत शिष्यों और पुत्रोंको बिना पूछे भी उनके हितकी बात बतला दिया करते हैं ॥ ३६ ॥ भगवन् ! उन महदादि तत्त्वोंका प्रलय कितने प्रकारका है ? तथा जब भगवान् योगनिद्रामें शयन करते हैं, तब उनमेंसे कौन-कौन तत्त्व उनकी सेवा करते हैं और कौन उनमें लीन हो जाते हैं ? ॥ ३७ ॥ जीवका तत्त्व, परमेश्वरका स्वरूप, उपनिषद्-प्रतिपादित ज्ञान तथा गुरु और शिष्यका पारस्परिक प्रयोजन क्या है ? ॥ ३८ ॥

पवित्रात्मन् विद्वानोंने उस ज्ञानकी प्राप्तिके क्या-क्या उपाय बतलाये हैं ? क्योंकि मनुष्योंको ज्ञान, भक्ति अथवा वैराग्यकी प्राप्ति अपने-आप तो हो नहीं सकती ॥ ३९ ॥ ब्रह्मन् ! माया-मोहके कारण मेरी विचार-दृष्टि नष्ट हो गयी है । मैं अज्ञ हूँ, आप मेरे परम सुहृद् हैं; अतः श्रीहरिलीलाका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे मैंने जो प्रश्न किये हैं, उनका उत्तर मुझे दीजिये ॥ ४० ॥ पुण्यमय मैत्रेयजी ! भगवत्तत्त्वके उपदेशद्वारा जीवको जन्म-मृत्युसे छुड़ाकर उसे अभय कर देनेमें जो पुण्य होता है, समस्त वेदोंके अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादिसे होनेवाला पुण्य उस पुण्यके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः
 कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः ।
 प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां
 सञ्जोदितस्तं प्रहसन्निवाह ॥ ४२

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! जब कुरुश्रेष्ठ

विदुरजीने मुनिवर मैत्रेयजीसे इस प्रकार पुराणविषयक प्रश्न
 किये, तब भगवच्चर्चके लिये प्रेरित किये जानेके कारण वे
 बड़े प्रसन्न हुए और मुसकराकर उनसे कहने लगे ॥ ४२ ॥

— ★ —

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
 सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

— ★ —

अथाष्टमोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति

मैत्रेय उवाच

सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो
 यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः ।
 बभूविथेहाजितकीर्तिमालां
 पदे पदे नूतनयस्यभीक्षणम् ॥ १

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं
 महद्गतानां विरमाय तस्य^१ ।
 प्रवर्तये भागवतं पुराणं
 यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः ॥ २

आसीनमुर्व्या भगवन्तमाद्यं
 सङ्कर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम् ।
 विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य
 कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ॥ ३

स्वमेव धिष्यं बहु मानयन्तं
 यं वासुदेवाभिधमामनन्ति ।
 प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीष-
 दुन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ॥ ४

स्वर्धुन्युदारैः स्वजटाकलापै-
 रुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम् ।
 पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः
 सप्रेमनानाबलिभिर्वरार्थाः ॥ ५

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! आप

भगवद्भक्तोंमें प्रधान लोकपाल यमराज ही हैं; आपके
 पूरुवंशमें जन्म लेनेके कारण वह वंश साधुपुरुषोंके लिये
 भी सेव्य हो गया है। धन्य हैं ! आप निरन्तर पद-पदपर
 श्रीहरिकी कीर्तिमयी मालाको नित्य नूतन बना रहे
 हैं ॥ १ ॥ अब मैं, क्षुद्र विषय-सुखकी कामनासे महान्
 दुःखको मोल लेनेवाले पुरुषोंकी दुःखनिवृत्तिके लिये,
 श्रीमद्भागवतपुराण प्रारम्भ करता हूँ—जिसे स्वयं
 श्रीसङ्कर्षणभगवान्ने सनकादि ऋषियोंको सुनाया
 था ॥ २ ॥

अखण्ड ज्ञानसम्पन्न आदिदेव भगवान् सङ्कर्षण
 पाताललोकमें विराजमान थे। सनत्कुमार आदि ऋषियोंने
 परम पुरुषोत्तम ब्रह्मका तत्त्व जाननेके लिये उनसे प्रश्न
 किया ॥ ३ ॥ उस समय शेषजी अपने आश्रयस्वरूप उन
 परमात्माकी मानसिक पूजा कर रहे थे, जिनका वेद
 वासुदेवके नामसे निरूपण करते हैं। उनके कमलकोश-
 सरीखे नेत्र बंद थे। प्रश्न करनेपर सनत्कुमारादि
 ज्ञानीजनोंके आनन्दके लिये उन्होंने अधखुले नेत्रोंसे
 देखा ॥ ४ ॥

सनत्कुमार आदि ऋषियोंने मन्दाकिनीके जलसे भीगे
 अपने जटासमूहसे उनके चरणोंकी चौकीके रूपमें स्थित
 कमलका स्पर्श किया, जिसकी नागराजकुमारियाँ
 अभिलषित वरकी प्राप्तिके लिये प्रेमपूर्वक अनेकों
 उपहार-सामग्रियोंसे पूजा करती हैं ॥ ५ ॥

मुहुर्गुणन्तो वचसानुराग-
स्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः ।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक-
प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ॥ ६

प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन
निवृत्तिधर्माभिरताय तेन ।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्ठः
सांख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय ॥ ७

सांख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो
विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः ।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय
पराशरायाथ बृहस्पतेश्च ॥ ८

प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो
मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम् ।
सोऽहं तवैतत्कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय ॥ ९

उदाप्लुतं^१ विश्वमिदं तदाऽऽसीद्
यन्निद्रयामीलितदृङ् न्यमीलयत् ।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः
कृतक्षणः स्वात्मरतौ^२ निरीहः ॥ १०

सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः ।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रूद्धवीर्यः ॥ ११

चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु
स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या ।
कालारब्धयाऽऽसादितकर्मतन्त्रो^३
लोकानपीतान्ददृशे स्वदेहे ॥ १२

सनत्कुमारादि उनकी लीलाके मर्मज्ञ हैं। उन्होंने बार-बार प्रेम-गद्गद वाणीसे उनकी लीलाका गान किया। उस समय शेषभगवान्के उठे हुए सहस्रों फण किरीटोंकी सहस्र-सहस्र श्रेष्ठ मणियोंकी छिटकती हुई रश्मियोंसे जगमगा रहे थे ॥ ६ ॥ भगवान् सङ्कर्षणने निवृत्तिपरायण सनत्कुमारजीको यह भागवत सुनाया था—ऐसा प्रसिद्ध है। सनत्कुमारजीने फिर इसे परम व्रतशील सांख्यायन मुनिको, उनके प्रश्न करनेपर सुनाया ॥ ७ ॥ परमहंसोंमें प्रधान श्रीसांख्यायनजीको जब भगवान्की विभूतियोंका वर्णन करनेकी इच्छा हुई, तब उन्होंने इसे अपने अनुगत शिष्य, हमारे गुरु श्रीपराशरजीको और बृहस्पतिजीको सुनाया ॥ ८ ॥ इसके पश्चात् परम दयालु पराशरजीने पुलस्त्य मुनिके कहनेसे वह आदिपुराण मुझसे कहा। वत्स ! श्रद्धालु और सदा अनुगत देखकर अब वही पुराण मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ९ ॥

सृष्टिके पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व जलमें डूबा हुआ था। उस समय एकमात्र श्रीनारायणदेव शेषशय्यापर पौढ़े हुए थे। वे अपनी ज्ञानशक्तिको अक्षुण्ण रखते हुए ही, योगनिद्राका आश्रय ले, अपने नेत्र मूँदे हुए थे। सृष्टिकर्मसे अवकाश लेकर आत्मानन्दमें मग्न थे। उनमें किसी भी क्रियाका उन्मेष नहीं था ॥ १० ॥ जिस प्रकार अग्नि अपनी दाहिका आदि शक्तियोंको छिपाये हुए काष्ठमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार श्रीभगवान्ने सम्पूर्ण प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरोंको अपने शरीरमें लीन करके अपने आधारभूत उस जलमें शयन किया, उन्हें सृष्टिकाल आनेपर पुनः जगानेके लिये केवल कालशक्तिको जाग्रत् रखा ॥ ११ ॥ इस प्रकार अपनी स्वरूपभूता चिच्छक्तिके साथ एक सहस्र चतुर्युगपर्यन्त जलमें शयन करनेके अनन्तर जब उन्हींकी द्वारा नियुक्त उनकी कालशक्तिने उन्हें जीवोंके कर्मोंकी प्रवृत्तिके लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने अपने शरीरमें लीन हुए अनन्त लोक देखे ॥ १२ ॥

तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टे-

रन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान् ।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः
सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात् ॥ १३

स पद्मकोशः सहस्रोदतिष्ठत्
कालेन कर्मप्रतिबोधनेन ।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं
विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः ॥ १४

तल्लोकपद्मं स^१ उ एव विष्णुः
प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम् ।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥ १५

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया-
मवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥ १६

तस्माद्युगान्तश्चसनावधूर्ण-
जलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम् ।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं
नात्मानमद्धाविददादिदेवः ॥ १७

क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ
एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु ।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैत-
दधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ॥ १८

स इत्थमुद्दीक्ष्य तदब्जनाल-
नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश^२ ।
नार्वागतस्तत्स्वरनालनाल-^३
नाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः ॥ १९

जिस समय भगवान्की दृष्टि अपनेमें निहित लिङ्गशरीरादि सूक्ष्मतत्त्वपर पड़ी, तब वह कालाश्रित रजोगुणसे क्षुभित होकर सृष्टिरचनाके निमित्त उनके नाभिदेशसे बाहर निकला ॥ १३ ॥ कर्मशक्तिको जाग्रत् करनेवाले कालके द्वारा विष्णुभगवान्की नाभिसे प्रकट हुआ वह सूक्ष्मतत्त्व कमलकोशके रूपमें सहसा ऊपर उठा और उसने सूर्यके समान अपने तेजसे उस अपार जलराशिको देदीप्यमान कर दिया ॥ १४ ॥ सम्पूर्ण गुणोंको प्रकाशित करनेवाले उस सर्वलोकमय कमलमें वे विष्णुभगवान् ही अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो गये । तब उसमेंसे बिना पढ़ाये ही स्वयं सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाले साक्षात् वेदमूर्ति श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए, जिन्हें लोग स्वयम्भू कहते हैं ॥ १५ ॥ उस कमलकी कर्णिका (गद्दी)में बैठे हुए ब्रह्माजीको जब कोई लोक दिखायी नहीं दिया, तब वे आँखें फाड़कर आकाशमें चारों ओर गर्दन घुमाकर देखने लगे, इससे उनके चारों दिशाओंमें चार मुख हो गये ॥ १६ ॥ उस समय प्रलयकालीन पवनके थपेड़ोंसे उछलती हुई जलकी तरङ्गमालाओंके कारण उस जलराशिसे ऊपर उठे हुए कमलपर विराजमान आदिदेव ब्रह्माजीको अपना तथा उस लोकतत्त्वरूप कमलका कुछ भी रहस्य न जान पड़ा ॥ १७ ॥

वे सोचने लगे, 'इस कमलकी कर्णिकापर बैठा हुआ मैं कौन हूँ ? यह कमल भी बिना किसी अन्य आधारके जलमें कहाँसे उत्पन्न हो गया ? इसके नीचे अवश्य कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये, जिसके आधारपर यह स्थित है' ॥ १८ ॥

ऐसा सोचकर वे उस कमलकी नालके सूक्ष्म छिद्रोंमें होकर उस जलमें घुसे । किन्तु उस नालके आधारको खोजते-खोजते नाभिदेशके समीप पहुँच जानेपर भी वे उसे पा न सके ॥ १९ ॥ विदुरजी ! उस अपार अन्धकारमें

तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं
विचिन्वतोऽभूत्सुमहांस्त्रिणोमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः
परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ॥ २०

ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः
स्वधिष्यमासाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो
न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥ २१

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि-
प्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभात-
मपश्यतापश्यत यत्र पूर्वम् ॥ २२

मृणालगौरायतशेषभोग-
पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्न-
द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥ २३

प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः
सन्ध्याभ्रनीवेरुरुक्ममूर्धः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य-
वनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥ २४

आयामतो विस्तरतः स्वमान-
देहेन लोकत्रयसंग्रहेण ।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां
कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम् ॥ २५

पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु-
मयूरखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥ २६

अपने उत्पत्ति-स्थानको खोजते-खोजते ब्रह्माजीको बहुत काल बीत गया । यह काल ही भगवान्का चक्र है, जो प्राणियोंको भयभीत (करता हुआ उनकी आयुको क्षीण) करता रहता है ॥ २० ॥ अन्तमें विफलमनोरथ हो वे वहाँसे लौट आये और पुनः अपने आधारभूत कमलपर बैठकर धीरे-धीरे प्राणवायुको जीतकर चित्तको निःसङ्कल्प किया और समाधिमें स्थित हो गये ॥ २१ ॥ इस प्रकार पुरुषकी पूर्ण आयुके बराबर कालतक (अर्थात् दिव्य सौ वर्षतक) अच्छी तरह योगाभ्यास करनेपर ब्रह्माजीको ज्ञान प्राप्त हुआ; तब उन्होंने अपने उस अधिष्ठानको, जिसे वे पहले खोजनेपर भी नहीं देख पाये थे, अपने ही अन्तःकरणमें प्रकाशित होते देखा ॥ २२ ॥ उन्होंने देखा कि उस प्रलयकालीन जलमें शेषजीके कमलनालसदृश गौर और विशाल विग्रहकी शय्यापर पुरुषोत्तमभगवान् अकेले ही लेटे हुए हैं । शेषजीके दस हजार फण छत्रके समान फैले हुए हैं । उनके मस्तकोंपर किरीट शोभायमान हैं, उनमें जो मणियाँ जड़ी हुई हैं, उनकी कान्तिसे चारों ओरका अन्धकार दूर हो गया है ॥ २३ ॥ वे अपने श्याम शरीरकी आभासे मरकतमणिके पर्वतकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं । उनकी कमरका पीतपट पर्वतके प्रान्त देशमें छाये हुए सायंकालके पीले-पीले चमकीले मेघोंकी आभाको मलिन कर रहा है, सिरपर सुशोभित सुवर्णमुकुट सुवर्णमय शिखरोंका मान मर्दन कर रहा है । उनकी वनमाला पर्वतके रत्न, जलप्रपात, ओषधि और पुष्पोंकी शोभाको परास्त कर रही है तथा उनके भुजदण्ड वेणुदण्डका और चरण वृक्षोंका तिरस्कार करते हैं ॥ २४ ॥ उनका वह श्रीविग्रह अपने परिमाणसे लंबाई-चौड़ाईमें त्रिलोकीका संग्रह किये हुए है । वह अपनी शोभासे विचित्र एवं दिव्य वस्त्राभूषणोंकी शोभाको सुशोभित करनेवाला होनेपर भी पीताम्बर आदि अपनी वेष-भूषासे सुसज्जित है ॥ २५ ॥ अपनी-अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्गोंसे पूजा करनेवाले भक्तजनोंको कृपापूर्वक अपने भक्तवाञ्छाकल्पतरु चरणकमलोंका दर्शन दे रहे हैं, जिनके सुन्दर अंगुलिदल नखचन्द्रकी चन्द्रिकासे अलग-अलग स्पष्ट चमकते रहते हैं ॥ २६ ॥

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन
परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा
प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्रवा ॥ २७

कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा^१
स्वलंकृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चानन्तधनेन वत्स
श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥ २८

परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेक-
पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र-
महीन्द्रभोगैरधिवीतवल्गुम् ॥ २९

चराचरौको भगवन्महीध्र-
महीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम् ।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्ग-
माविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥ ३०

निवीतमाग्रायमधुव्रतश्रिया
स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम् ।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः
परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥ ३१

तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोज-^२
मात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च ।
ददर्श देवो जगतो विधाता
नातः परं लोकविसर्गदृष्टिः ॥ ३२

स कर्मबीजं रजसोपरक्तः
प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा ।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्य-
मव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥ ३३

सुन्दर नासिका, अनुग्रहवर्षी भौहैं, कानोंमें झिलमिलाते हुए कुण्डलोंकी शोभा, बिम्बाफलके समान लाल-लाल अधरोंकी कान्ति एवं लोकार्तिहारी मुसकानसे युक्त मुखारविन्दके द्वारा वे अपने उपासकोंका सम्मान—अभिनन्दन कर रहे हैं ॥ २७ ॥ वत्स ! उनके नितम्बदेशमें कदम्बकुसुमकी केसरके समान पीतवस्त्र और सुवर्णमयी मेखला सुशोभित है तथा वक्षःस्थलमें अमूल्य हार और सुनहरी रेखावाले श्रीवत्सचिह्नकी अपूर्व शोभा हो रही है ॥ २८ ॥ वे अव्यक्तमूल चन्दनवृक्षके समान हैं। महामूल्य केयूर और उत्तम-उत्तम मणियोंसे सुशोभित उनके विशाल भुजदण्ड ही मानो उसकी सहस्रों शाखाएँ हैं और चन्दनके वृक्षोंमें जैसे बड़े-बड़े साँप लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार उनके कंधोंको शेषजीके फणोंने लपेट रखा है ॥ २९ ॥ वे नागराज अनन्तके बन्धु श्रीनारायण ऐसे जान पड़ते हैं, मानो कोई जलसे घिरे हुए पर्वतराज ही हों। पर्वतपर जैसे अनेकों जीव रहते हैं, उसी प्रकार वे सम्पूर्ण चराचरके आश्रय हैं; शेषजीके फणोंपर जो सहस्रों मुकुट हैं वे ही मानो उस पर्वतके सुवर्णमण्डित शिखर हैं तथा वक्षःस्थलमें विराजमान कौस्तुभमणि उसके गर्भसे प्रकट हुआ रत्न है ॥ ३० ॥ प्रभुके गलेमें वेदरूप भौरोसे गुञ्जायमान अपनी कीर्तिमयी वनमाला विराज रही है; सूर्य, चन्द्र, वायु और अग्नि आदि देवताओंकी भी आपतक पहुँच नहीं है तथा त्रिभुवनमें बेरोक-टोक विचरण करनेवाले सुदर्शनचक्रादि आयुध भी प्रभुके आस-पास ही घूमते रहते हैं, उनके लिये भी आप अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ३१ ॥

तब विश्वरचनाकी इच्छावाले लोकविधाता ब्रह्माजीने भगवान्के नाभिसरोवरसे प्रकट हुआ वह कमल, जल, आकाश, वायु और अपना शरीर—केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे, इनके सिवा और कुछ उन्हें दिखायी न दिया ॥ ३२ ॥ रजोगुणसे व्याप्त ब्रह्माजी प्रजाकी रचना करना चाहते थे। जब उन्होंने सृष्टिके कारणरूप केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे, तब लोकरचनाके लिये उत्सुक होनेके कारण वे अचिन्त्यगति श्रीहरिमें चित्त लगाकर उन परमपूजनीय प्रभुकी स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

ब्रह्माजीद्वारा भगवान्की स्तुति

ब्रह्मोवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तत्र^१ शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद्यदुर्विभासि ॥ १

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्नवृत्ततमसः सदनग्रहाय ।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त^२ उपाश्रितोऽस्मि ॥ ३

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥ ४

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥ ५

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं^३
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥ ६

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्
सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया^४ ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥ ७

ब्रह्माजीने कहा—प्रभो ! आज बहुत समयके बाद मैं आपको जान सका हूँ । अहो ! कैसे दुर्भाग्यकी बात है कि देहधारी जीव आपके स्वरूपको नहीं जान पाते । भगवन् ! आपके सिवा और कोई वस्तु नहीं है । जो वस्तु प्रतीत होती है, वह भी स्वरूपतः सत्य नहीं है, क्योंकि मायाके गुणोंके क्षुभित होनेके कारण केवल आप ही अनेकों रूपोंमें प्रतीत हो रहे हैं ॥ १ ॥ देव ! आपकी चित् शक्तिके प्रकाशित रहनेके कारण अज्ञान आपसे सदा ही दूर रहता है । आपका यह रूप, जिसके नाभि-कमलसे मैं प्रकट हुआ हूँ, सैकड़ों अवतारोंका मूल कारण है । इसे आपने सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही पहले-पहल प्रकट किया है ॥ २ ॥ परमात्मन् ! आपका जो आनन्दमात्र, भेदरहित, अखण्ड तेजोमय स्वरूप है, उसे मैं इससे भिन्न नहीं समझता । इसलिये मैंने विश्वकी रचना करनेवाले होनेपर भी विश्वातीत आपके इस अद्वितीय रूपकी ही शरण ली है । यही सम्पूर्ण भूत और इन्द्रियोंका भी अधिष्ठान है ॥ ३ ॥ हे विश्वकल्याणमय ! मैं आपका उपासक हूँ, आपने मेरे हितके लिये ही मुझे ध्यानमें अपना यह रूप दिखलाया है । जो पापात्मा विषयासक्त जीव है, वे ही इसका अनादर करते हैं । मैं तो आपको इसी रूपमें बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥ मेरे स्वामी ! जो लोग वेदरूप वायुसे लायी हुई आपके चरणरूप कमलकोशकी गन्धको अपने कर्णपुटोंसे ग्रहण करते हैं, उन अपने भक्तजनोंके हृदय-कमलसे आप कभी दूर नहीं होते; क्योंकि वे पराभक्तिरूप डोरीसे आपके पादपद्मोंको बाँध लेते हैं ॥ ५ ॥ जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभीतक उसे धन, घर और बन्धुजनोंके कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभीतक उसे मैं-मेरेपनका दुराग्रह रहता है, जो दुःखका एकमात्र कारण है ॥ ६ ॥ जो लोग सब प्रकारके अमङ्गलोंको नष्ट करनेवाले आपके श्रवण-कीर्तनादि प्रसङ्गोंसे इन्द्रियोंको हटाकर लेशमात्र विषय-सुखके लिये दीन और मन-ही-मन लालायित होकर निरन्तर दुष्कर्मोंमें लगे रहते हैं, उन बेचारोंकी बुद्धि दैवने हर ली है ॥ ७ ॥

क्षुत्तृदत्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णावातवर्षैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरिण
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥ ८

यावत्पृथक्त्वमिदमात्मनः^१ इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि^२ दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥ ९

अह्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्रनिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥ १०

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद्विया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय^३ ॥ ११

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेषुवहितः सुहृदन्तरात्मा ॥ १२

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
र्दनिन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्ययते न यत्र ॥ १३

शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय^४ नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चक्रमेश्वराय ॥ १४

अच्युत ! उरुक्रम ! इस प्रजाको भूख-प्यास, वात, पित्त, कफ, सर्दी, गर्मी, हवा और वर्षासे, परस्पर एक-दूसरेसे तथा कामाग्नि और दुःसह क्रोधसे बार-बार कष्ट उठाते देखकर मेरा मन बड़ा खिन्न होता है ॥ ८ ॥ स्वामिन् ! जबतक मनुष्य इन्द्रिय और विषयरूपी मायाके प्रभावसे आपसे अपनेको भिन्न देखता है, तबतक उसके लिये इस संसारचक्रकी निवृत्ति नहीं होती । यद्यपि यह मिथ्या है, तथापि कर्मफल भोगका क्षेत्र होनेके कारण उसे नाना प्रकारके दुःखोंमें डालता रहता है ॥ ९ ॥

देव ! औरोंकी तो बात ही क्या—जो साक्षात् मुनि हैं, वे भी यदि आपके कथाप्रसङ्गसे विमुख रहते हैं तो उन्हें संसारमें फँसना पड़ता है । वे दिनमें अनेक प्रकारके व्यापारोंके कारण विक्षिप्तचित्त रहते हैं, रात्रिमें निद्रामें अचेत पड़े रहते हैं; उस समय भी तरह-तरहके मनोरथोंके कारण क्षण-क्षणमें उनकी नींद टूटती रहती है तथा दैववश उनकी अर्थसिद्धिके सब उद्योग भी विफल होते रहते हैं ॥ १० ॥ नाथ ! आपका मार्ग केवल गुण-श्रवणसे ही जाना जाता है । आप निश्चय ही मनुष्योंके भक्तियोगके द्वारा परिशुद्ध हुए हृदयकमलमें निवास करते हैं । पुण्यश्लोक प्रभो ! आपके भक्तजन जिस-जिस भावनासे आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं ॥ ११ ॥ भगवन् ! आप एक हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें स्थित उनके परम हितकारी अन्तरात्मा हैं । इसलिये यदि देवतालोक भी हृदयमें तरह-तरहकी कामनाएँ रखकर भाँति-भाँतिकी विपुल सामग्रियोंसे आपका पूजन करते हैं, तो उससे आप उतने प्रसन्न नहीं होते जितने सब प्राणियोंपर दया करनेसे होते हैं । किन्तु वह सर्वभूतदया असत् पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १२ ॥ जो कर्म आपको अर्पण कर दिया जाता है, उसका कभी नाश नहीं होता—वह अक्षय हो जाता है । अतः नाना प्रकारके कर्म—यज्ञ, दान, कठिन तपस्या और व्रतादिके द्वारा आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना ही मनुष्यका सबसे बड़ा कर्मफल है, क्योंकि आपकी प्रसन्नता होनेपर ऐसा कौन फल है जो सुलभ नहीं हो जाता ॥ १३ ॥ आप सर्वदा अपने स्वरूपके प्रकाशसे ही प्राणियोंके भेद-भ्रमरूप अन्धकारका नाश करते रहते हैं तथा ज्ञानके अधिष्ठान साक्षात् परमपुरुष हैं; मैं आपको नमस्कार करता हूँ । संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके निमित्तसे जो मायाकी लीला होती है, वह आपका ही खेल है; अतः आप परमेश्वरको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ १४ ॥

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं^१ सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥ १५

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्वृध एक उरुप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥ १६

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं^२ त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ १७

यस्माद्विभेम्यहमपि द्विपरार्थधिष्य-
मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुत्समान^३-
स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ॥ १८

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्ठात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥ १९

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां^४
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥ २०

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥ २१

जो लोग प्राणत्याग करते समय आपके अवतार, गुण और कर्मोंको सूचित करनेवाले देवकीनन्दन, जर्नादन, कंसनिकन्दन आदि नामोंका विवश होकर भी उच्चारण करते हैं, वे अनेकों जन्मोंके पापोंसे तत्काल छूटकर मायादि आवरणोंसे रहित ब्रह्मपद प्राप्त करते हैं। आप नित्य अजन्मा हैं, मैं आपकी शरण लेता हूँ ॥ १५ ॥ भगवन् ! इस विश्ववृक्षके रूपमें आप ही विराजमान हैं। आप ही अपनी मूलप्रकृतिको स्वीकार करके जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये मेरे, अपने और महादेवजीके रूपमें तीन प्रधान शाखाओंमें विभक्त हुए हैं और फिर प्रजापति एवं मनु आदि शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें फैलकर बहुत विस्तृत हो गये हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥ भगवन् ! आपने अपनी आराधनाको ही लोकोंके लिये कल्याणकारी स्वधर्म बताया है, किन्तु वे इस ओरसे उदासीन रहकर सर्वदा विपरीत (निषिद्ध) कर्मोंमें लगे रहते हैं। ऐसी प्रमादकी अवस्थामें पड़े हुए इन जीवोंकी जीवन-आशाको जो सदा सावधान रहकर बड़ी शीघ्रतासे काटता रहता है, वह बलवान् काल भी आपका ही रूप है; मैं उसे नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥ यद्यपि मैं सत्यलोकका अधिष्ठाता हूँ, जो दो परार्थपर्यन्त रहनेवाला और समस्त लोकोंका वन्दनीय है, तो भी आपके उस कालरूपसे डरता रहता हूँ। उससे बचने और आपको प्राप्त करनेके लिये ही मैंने बहुत समयतक तपस्या की है। आप ही अधियज्ञरूपसे मेरी इस तपस्याके साक्षी हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥ आप पूर्णकाम हैं, आपको किसी विषयसुखकी इच्छा नहीं है, तो भी आपने अपनी बनायी हुई धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता आदि जीवयोनियोंमें अपनी ही इच्छासे शरीर धारण कर अनेकों लीलाएँ की हैं। ऐसे आप पुरुषोत्तम-भगवान्को मेरा नमस्कार है ॥ १९ ॥ प्रभो ! आप अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश— पाँचोंमेंसे किसीके भी अधीन नहीं हैं; तथापि इस समय जो सारे संसारको अपने उदरमें लीनकर भयङ्कर तरङ्गमालाओंसे विशुद्ध प्रलयकालीन जलमें अनन्तविग्रहकी कोमल शय्यापर शयन कर रहे हैं, वह पूर्वकल्पकी कर्मपरम्परासे श्रमित हुए जीवोंको विश्राम देनेके लिये ही है ॥ २० ॥ आपके नाभिकमलरूप भवनसे मेरा जन्म हुआ है। यह सम्पूर्ण विश्व आपके उदरमें समाया हुआ है। आपकी कृपासे ही मैं त्रिलोकीकी रचनारूप उपकारमें प्रवृत्त हुआ हूँ। इस समय योगनिद्राका अन्त हो जानेके कारण आपके नेत्र-कमल विकसित हो रहे हैं, आपको मेरा नमस्कार है ॥ २१ ॥

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन ।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं
स्वक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ^१ ॥ २२

एष प्रपन्नवरदो रमयाऽऽत्मशक्त्या
यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः^२ ।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं^३ सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥ २३

नाभिहृदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥ २४

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध^४-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन् ।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः ॥ २५

मैत्रेय उवाच

स्वसम्भवं निशाम्यैवं^५ तपोविद्यासमाधिभिः ।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत् ॥ २६
अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य^६ ब्रह्मणो मधुसूदनः ।
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा ॥ २७

लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिरिखद्यतः ।
तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ॥ २८

श्रीभगवानुवाच

मा वेदगर्भं गास्तन्द्नीं सर्गं उद्यममावह ।
तन्मयाऽऽपादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान् ॥ २९
भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम् ।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान् ॥ ३०

आप सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र सुहृद् और आत्मा हैं तथा शरणागतोंपर कृपा करनेवाले हैं । अतः अपने जिस ज्ञान और ऐश्वर्यसे आप विश्वको आनन्दित करते हैं, उसीसे मेरी बुद्धिको भी युक्त करें—जिससे मैं पूर्वकल्पके समान इस समय भी जगत्की रचना कर सकूँ ॥ २२ ॥ आप भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं । अपनी शक्ति लक्ष्मीजीके सहित अनेकों गुणावतार लेकर आप जो-जो अद्भुत कर्म करेंगे, मेरा यह जगत्की रचना करनेका उद्यम भी उन्हींमेंसे एक है । अतः इसे रचते समय आप मेरे चित्तको प्रेरित करें—शक्ति प्रदान करें, जिससे मैं सृष्टिरचनाविषयक अभिमानरूप मलसे दूर रह सकूँ ॥ २३ ॥ प्रभो ! इस प्रलयकालीन जलमें शयन करते हुए आप अनन्तशक्ति परमपुरुषके नाभि-कमलसे मेरा प्रादुर्भाव हुआ है और मैं हूँ भी आपकी ही विज्ञानशक्ति; अतः इस जगत्के विचित्र रूपका विस्तार करते समय आपकी कृपासे मेरी वेदरूप वाणीका उच्चारण लुप्त न हो ॥ २४ ॥ आप अपार करुणामय पुराणपुरुष हैं । आप परम प्रेममयी मुसकानके सहित अपने नेत्रकमल खोलिये और शेष-शय्यासे उठकर विश्वके उद्भवके लिये अपनी सुमधुर वाणीसे मेरा विषाद दूर कीजिये ॥ २५ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार तप, विद्या और समाधिके द्वारा अपने उत्पत्तिस्थान श्रीभगवान्को देखकर तथा अपने मन और वाणीकी शक्तिके अनुसार उनकी स्तुति कर ब्रह्माजी थके-से होकर मौन हो गये ॥ २६ ॥ श्रीमधुसूदनभगवान्ने देखा कि ब्रह्माजी इस प्रलयजलराशिसे बहुत घबराये हुए हैं तथा लोकरचनाके विषयमें कोई निश्चित विचार न होनेके कारण उनका चित्त बहुत खिन्न है । तब उनके अभिप्रायको जानकर वे अपनी गम्भीर वाणीसे उनका खेद शान्त करते हुए कहने लगे ॥ २७-२८ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—वेदगर्भ ! तुम विषादके वशीभूत हो आलस्य न करो, सृष्टिरचनाके उद्यममें तत्पर हो जाओ । तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, उसे तो मैं पहले ही कर चुका हूँ ॥ २९ ॥ तुम एक बार फिर तप करो और भागवत-ज्ञानका अनुष्ठान करो । उनके द्वारा तुम सब लोकोंको स्पष्टतया अपने अन्तःकरणमें देखोगे ॥ ३० ॥

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः ।
 द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः ॥ ३१
 यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्नमिव स्थितम् ।
 प्रतिचक्षीत^१ मां लोको जह्यात्तर्ह्येव^२ कश्मलम् ॥ ३२
 यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः^३ ।
 स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति ॥ ३३
 नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः ।
 नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान्मदनुग्रहः^४ ॥ ३४
 ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः ।
 यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥ ३५
 ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् ।
 यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ॥ ३६
 तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे^५ दर्शितोऽबहिः ।
 नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ॥ ३७
 यच्चकथाङ्गं मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
 यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥ ३८
 प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया ।
 यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन् ॥ ३९
 य एतेन पुमान्त्रित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् ।
 तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवशेश्वरः ॥ ४०
 पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना ।
 राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्^६ ॥ ४१
 अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि ।
 अतो मयि रतिं कुर्याद्दिहादिर्यत्कृते प्रियः ॥ ४२
 सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना ।
 प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च^७ मय्यनुशेरते ॥ ४३

फिर भक्तियुक्त और समाहितचित्त होकर तुम सम्पूर्ण लोक और अपनेमें मुझको व्याप्त देखोगे तथा मुझमें सम्पूर्ण लोक और अपने-आपको देखोगे ॥ ३१ ॥ जिस समय जीव काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान समस्त भूतोंमें मुझे ही स्थित देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञानरूप मलसे मुक्त हो जाता है ॥ ३२ ॥ जब वह अपनेको भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरणसे रहित तथा स्वरूपतः मुझसे अभिन्न देखता है, तब मोक्षपद प्राप्त कर लेता है ॥ ३३ ॥ ब्रह्माजी ! नाना प्रकारके कर्मसंस्कारोंके अनुसार अनेक प्रकारकी जीवसृष्टिको रचनेकी इच्छा होनेपर भी तुम्हारा चित्त मोहित नहीं होता, यह मेरी अतिशय कृपाका ही फल है ॥ ३४ ॥ तुम सबसे पहले मन्त्रद्रष्टा हो । प्रजा उत्पन्न करते समय भी तुम्हारा मन मुझमें ही लगा रहता है, इसीसे पापमय रजोगुण तुमको बाँध नहीं पाता ॥ ३५ ॥ तुम मुझे भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरणसे रहित समझते हो; इससे जान पड़ता है कि यद्यपि देहधारी जीवोंको मेरा ज्ञान होना बहुत कठिन है, तथापि तुमने मुझे जान लिया है ॥ ३६ ॥ 'मेरा आश्रय कोई है या नहीं' इस सन्देहसे तुम कमलनालके द्वारा जलमें उसका मूल खोज रहे थे, सो मैंने तुम्हें अपना यह स्वरूप अन्तःकरणमें ही दिखलाया है ॥ ३७ ॥

प्यारे ब्रह्माजी ! तुमने जो मेरी कथाओंके वैभवसे युक्त मेरी स्तुति की है और तपस्यामें जो तुम्हारी निष्ठा है, वह भी मेरी ही कृपाका फल है ॥ ३८ ॥ लोक-रचनाकी इच्छासे तुमने सगुण प्रतीत होनेपर भी जो निर्गुणरूपसे मेरा वर्णन करते हुए स्तुति की है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ; तुम्हारा कल्याण हो ॥ ३९ ॥ मैं समस्त कामनाओं और मनोरथोंको पूर्ण करनेमें समर्थ हूँ । जो पुरुष नित्यप्रति इस स्तोत्रद्वारा स्तुति करके मेरा भजन करेगा, उसपर मैं शीघ्र ही प्रसन्न हो जाऊँगा ॥ ४० ॥ तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि पूर्व, तप, यज्ञ, दान, योग और समाधि आदि साधनोंसे प्राप्त होनेवाला जो परम कल्याणमय फल है, वह मेरी प्रसन्नता ही है ॥ ४१ ॥ विधाता ! मैं आत्माओंका भी आत्मा और स्त्री-पुत्रादि प्रियोंका भी प्रिय हूँ । देहादि भी मेरे ही लिये प्रिय हैं । अतः मुझसे ही प्रेम करना चाहिये ॥ ४२ ॥ ब्रह्माजी ! त्रिलोकीको तथा जो प्रजा इस समय मुझमें लीन है, उसे तुम पूर्वकल्पके समान मुझसे उत्पन्न हुए अपने सर्ववेदमय स्वरूपसे स्वयं ही रचो ॥ ४३ ॥

मैत्रेय उवाच

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः ।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ॥ ४४

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रकृति और पुरुषके स्वामी कमलनाभ भगवान् सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीको इस प्रकार जगत्की अभिव्यक्ति करवाकर अपने उस नारायणरूपसे अदृश्य हो गये ॥ ४४ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
तृतीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



अथ दशमोऽध्यायः

दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

विदुर उवाच

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः ।
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः ॥ १
ये च मे भगवन् पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम ।
तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ॥ २

सूत उवाच

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्रा कौषारवो मुनिः ।
प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थानथ भार्गव ॥ ३

मैत्रेय उवाच

विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यदाह भगवानजः ॥ ४
तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः ।
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम् ॥ ५
तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया ।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद् वायुं सहाम्भसा ॥ ६
तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम् ।
अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत् ॥ ७
पद्मकोशं तदाऽऽविश्य भगवत्कर्मचोदितः ।
एकं व्यभाङ्गीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा ॥ ८

विदुरजीने कहा—मुनिवर ! भगवान् नारायणके अन्तर्धान हो जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने अपने देह और मनसे कितने प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न की ? ॥ १ ॥ भगवन् ! इनके सिवा मैंने आपसे और जो-जो बातें पूछी हैं, उन सबका भी क्रमशः वर्णन कीजिये और मेरे सब संशयोंको दूर कीजिये; क्योंकि आप सभी बहुज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! विदुरजीके इस प्रकार पूछनेपर मुनिवर मैत्रेयजी बड़े प्रसन्न हुए और अपने हृदयमें स्थित उन प्रश्नोंका इस प्रकार उत्तर देने लगे ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—अजन्मा भगवान् श्रीहरिने जैसा कहा था, ब्रह्माजीने भी उसी प्रकार चित्तको अपने आत्मा श्रीनारायणमें लगाकर सौ दिव्य वर्षोंतक तप किया ॥ ४ ॥ ब्रह्माजीने देखा कि प्रलयकालीन प्रबल वायुके झकोरोंसे, जिससे वे उत्पन्न हुए हैं तथा जिसपर वे बैठे हुए हैं वह कमल तथा जल काँप रहे हैं ॥ ५ ॥ प्रबल तपस्या एवं हृदयमें स्थित आत्मज्ञानसे उनका विज्ञानबल बढ़ गया और उन्होंने जलके साथ वायुको पी लिया ॥ ६ ॥ फिर जिसपर स्वयं बैठे हुए थे, उस आकाशव्यापी कमलको देखकर उन्होंने विचार किया कि 'पूर्वकल्पमें लीन हुए लोकोंको मैं इसीसे रचूँगा' ॥ ७ ॥ तब भगवान्के द्वारा सृष्टिकार्यमें नियुक्त ब्रह्माजीने उस कमलकोशमें प्रवेश किया और उस एकके ही भूः, भुवः, स्वः—ये तीन भाग किये, यद्यपि वह कमल इतना बड़ा था कि उसके चौदह भुवन या इससे भी अधिक लोकोंके रूपमें विभाग किये जा सकते थे ॥ ८ ॥

एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः^१ ।
धर्मस्य हानिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ ॥ ९

विदुर उवाच

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन् यथा वर्णय नः प्रभो ॥ १०

मैत्रेय उवाच

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः^२ ।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत् ॥ ११

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥ १२

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ।
सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ॥ १३

कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः ।
आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ॥ १४

द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ।
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ॥ १५

चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ।
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं^३ मनः ॥ १६

षष्ठस्तु तमसः^४ सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो ।
षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ॥ १७

रजोभाजो भगवतो लीलेयं^५ हरिमेधसः ।
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ॥ १८

वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ।
उत्स्रोतसस्तमः प्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ॥ १९

जीवोंके भोगस्थानके रूपमें इन्हीं तीन लोकोंका शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है; जो निष्काम कर्म करनेवाले हैं, उन्हें महः, तपः, जनः और सत्यलोकरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

विदुरजीने कहा—ब्रह्मन् ! आपने अद्भुतकर्मा विश्वरूप श्रीहरिकी जिस काल नामक शक्तिकी बात कही थी, प्रभो ! उसका कृपया विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ १० ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विषयोंका रूपान्तर (बदलना) ही कालका आकार है। स्वयं तो वह निर्विशेष, अनादि और अनन्त है। उसीको निमित्त बनाकर भगवान् खेल-खेलमें अपने-आपको ही सृष्टिके रूपमें प्रकट कर देते हैं ॥ ११ ॥ पहले यह सारा विश्व भगवान्की मायासे लीन होकर ब्रह्मरूपसे स्थित था। उसीको अव्यक्तमूर्ति कालके द्वारा भगवान्ने पुनः पृथक्-रूपसे प्रकट किया है ॥ १२ ॥ यह जगत् जैसा अब है वैसा ही पहले था और भविष्यमें भी वैसा ही रहेगा। इसकी सृष्टि नौ प्रकारकी होती है तथा प्राकृत-वैकृत-भेदसे एक दसवीं सृष्टि और भी है ॥ १३ ॥ और इसका प्रलय काल, द्रव्य तथा गुणोंके द्वारा तीन प्रकारसे होता है। (अब पहले मैं दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन करता हूँ) पहली सृष्टि महत्तत्त्वकी है। भगवान्की प्रेरणासे सत्त्वादि गुणोंमें विषमता होना ही इसका स्वरूप है ॥ १४ ॥ दूसरी सृष्टि अहङ्कारकी है, जिससे पृथ्वी आदि पञ्चभूत एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। तीसरी सृष्टि भूतसर्ग है, जिसमें पञ्चमहाभूतोंको उत्पन्न करनेवाला तन्मात्रवर्ग रहता है ॥ १५ ॥ चौथी सृष्टि इन्द्रियोंकी है, यह ज्ञान और क्रियाशक्तिसे सम्पन्न होती है। पाँचवीं सृष्टि सात्त्विक अहङ्कारसे उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंकी है, मन भी इसी सृष्टिके अन्तर्गत है ॥ १६ ॥ छठी सृष्टि अविद्याकी है। इसमें तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—ये पाँच गाँठें हैं। यह जीवोंकी बुद्धिका आवरण और विक्षेप करनेवाली है। ये छः प्राकृत सृष्टियाँ हैं, अब वैकृत सृष्टियोंका भी विवरण सुनो ॥ १७ ॥

जो भगवान् अपना चिन्तन करनेवालोंके समस्त दुःखोंको हर लेते हैं, यह सारी लीला उन्हीं श्रीहरिकी है। वे ही ब्रह्माके रूपमें रजोगुणको स्वीकार करके जगत्की रचना करते हैं। छः प्रकारकी प्राकृत सृष्टियोंके बाद सातवीं प्रधान वैकृत सृष्टि इन छः प्रकारके स्थावर वृक्षोंकी होती है ॥ १८ ॥ वनस्पति,^१ ओषधि,^२ लता,^३ त्वक्सार,^४ वीरुध^५ और द्रुम^६ इनका संचार नीचे (जड़) से ऊपरकी ओर होता है, इनमें प्रायः ज्ञानशक्ति प्रकट नहीं रहती, ये

तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः^१ ॥ २०

गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः ।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्टश्च सत्तम ॥ २१

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून् ॥ २२

श्वा सृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।
सिंहः कर्पिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥ २३

कङ्कगृध्रवटश्येनभासभल्लूकबर्हिणः^२ ।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः ॥ २४

अर्वाक्त्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ॥ २५

वैकृतास्त्रय एवैते^३ देवसर्गश्च सत्तम ।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ॥ २६

देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥ २७

भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याधराः किन्नरादयः ।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥ २८

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान्मन्वन्तराणि च ।
एवं रजःप्लुतः स्त्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः ।
सृजत्यमोघसङ्कल्प आत्मैवात्मानमात्मना ॥ २९

भीतर-ही-भीतर केवल स्पर्शका अनुभव करते हैं तथा इनमेंसे प्रत्येकमें कोई विशेष गुण रहता है ॥ १९ ॥ आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु-पक्षियों) की है। वह अट्ठाईस प्रकारकी मानी जाती है। इन्हें कालका ज्ञान नहीं होता, तमोगुणकी अधिकताके कारण ये केवल खाना-पीना, मैथुन करना, सोना आदि ही जानते हैं, इन्हें सूँघनेमात्रसे वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है। इनके हृदयमें विचारशक्ति या दूरदर्शिता नहीं होती ॥ २० ॥ साधुश्रेष्ठ ! इन तिर्यकोंमें गौ, बकरा, भैंसा, कृष्ण-मृग, सूअर, नील-गाय, रुरु नामका मृग, भेड़ और ऊँट—ये द्विशफ (दो खुरोंवाले) पशु कहलाते हैं, ॥ २१ ॥ गधा, घोड़ा, खच्चर, गौरमृग, शरफ और चमरी—ये एकशफ (एक खुरवाले) हैं। अब पाँच नखवाले पशु-पक्षियोंके नाम सुनो ॥ २२ ॥ कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, साही, सिंह, बंदर, हाथी, कछुआ, गोह और मगर आदि (पशु) हैं ॥ २३ ॥ कंक (बगुला), गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि उड़नेवाले जीव पक्षी कहलाते हैं ॥ २४ ॥ विदुरजी ! नवीं सृष्टि मनुष्योंकी है। यह एक ही प्रकारकी है। इसके आहारका प्रवाह ऊपर (मँह) से नीचेकी ओर होता है। मनुष्य रजोगुणप्रधान, कर्मपरायण और दुःखरूप विषयोंमें ही सुख माननेवाले होते हैं ॥ २५ ॥ स्थावर, पशु-पक्षी और मनुष्य—ये तीनों प्रकारकी सृष्टियाँ तथा आगे कहा जानेवाला देवसर्ग वैकृत सृष्टि हैं तथा जो महत्तत्त्वादिरूप वैकारिक देवसर्ग है, उसकी गणना पहले प्राकृत सृष्टिमें की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त सनत्कुमार आदि ऋषियोंका जो कौमारसर्ग है वह प्राकृत-वैकृत दोनों प्रकारका है ॥ २६ ॥

देवता, पितर, असुर, गन्धर्व-अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध-चारण-विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच और किन्नर-किम्पुरुष-अश्वमुख आदि भेदसे देवसृष्टि आठ प्रकारकी है। विदुरजी ! इस प्रकार जगत्कर्ता श्रीब्रह्माजीकी रची हुई यह दस प्रकारकी सृष्टि मैंने तुमसे कही ॥ २७-२८ ॥ अब आगे मैं वंश और मन्वन्तरादिका वर्णन करूँगा। इस प्रकार सृष्टि करनेवाले सत्यसङ्कल्प भगवान् हरि ही ब्रह्माके रूपसे प्रत्येक कल्पके आदिमें रजोगुणसे व्याप्त होकर स्वयं ही जगत्के रूपमें अपनी ही रचना करते हैं ॥ २९ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥



अथैकादशोऽध्यायः

मन्वन्तरादि कालविभागका वर्णन

मैत्रेय उवाच

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥ १

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ॥ २

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये^१ स्थौल्ये च सत्तम ।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ॥ ३

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स^२ कालः परमो महान् ॥ ४

अणुद्वौ^३ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।
जालार्करश्म्यवगतः^४ खमेवानुपतन्नगात्^५ ॥ ५

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः ।
शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ॥ ६

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः ।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च ॥ ७

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका ।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ॥ ८

द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः^६ ।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम् ॥ ९

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे ।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ॥ १०

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! पृथ्वी आदि कार्यवर्गका जो सूक्ष्मतम अंश है—जिसका और विभाग नहीं हो सकता तथा जो कार्यरूपको प्राप्त नहीं हुआ है और जिसका अन्य परमाणुओंके साथ संयोग भी नहीं हुआ है उसे परमाणु कहते हैं । इन अनेक परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे ही मनुष्योंको भ्रमवश उनके समुदायरूप एक अवयवीको प्रतीति होती है ॥ १ ॥ यह परमाणु जिसका सूक्ष्मतम अंश है, अपने सामान्य स्वरूपमें स्थित उस पृथ्वी आदि कार्योंकी एकता (समुदाय अथवा समग्ररूप) का नाम परम महान् है । इस समय उसमें न तो प्रलयादि अवस्थाभेदकी स्फूर्ति होती है, न नवीन-प्राचीन आदि कालभेदका भान होता है और न घट-पटादि वस्तुभेदकी ही कल्पना होती है ॥ २ ॥ साधुश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह वस्तुके सूक्ष्मतम और महत्तम स्वरूपका विचार हुआ । इसीके सादृश्यसे परमाणु आदि अवस्थाओंमें व्याप्त होकर व्यक्त पदार्थोंको भोगनेवाले सृष्टि आदिमें समर्थ, अव्यक्त-स्वरूप भगवान् कालकी भी सूक्ष्मता और स्थूलताका अनुमान किया जा सकता है ॥ ३ ॥ जो काल प्रपञ्चकी परमाणु-जैसी सूक्ष्म अवस्थामें व्याप्त रहता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है और जो सृष्टिसे लेकर प्रलयपर्यन्त उसकी सभी अवस्थाओंका भोग करता है, वह परम महान् है ॥ ४ ॥

दो परमाणु मिलकर एक 'अणु' होता है और तीन अणुओंके मिलनेसे एक 'त्रसरेणु' होता है, जो झरोखेमेंसे होकर आयी हुई सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है ॥ ५ ॥ ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है, उसे 'त्रुटि' कहते हैं । इससे सौगुना काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेधका एक 'लव' होता है ॥ ६ ॥ तीन लवको एक 'निमेष' और तीन निमेषको एक 'क्षण' कहते हैं । पाँच क्षणकी एक 'काष्ठा' होती है और पन्द्रह काष्ठाका एक 'लघु' ॥ ७ ॥ पन्द्रह लघुकी एक 'नाडिका' (दण्ड) कही जाती है, दो नाडिकाका एक 'मुहूर्त' होता है और दिनके घटने-बढ़नेके अनुसार (दिन एवं रात्रिकी दोनों सन्धियोंके दो मुहूर्तोंको छोड़कर) छः या सात नाडिकाका एक 'प्रहर' होता है । यह 'याम' कहलाता है, जो मनुष्यके दिन या रातका चौथा भाग होता है ॥ ८ ॥ छः पल तविका एक ऐसा बरतन बनाया जाय जिसमें एक प्रस्थ जल आ सके और चार माशे सोनेकी चार अंगुल लंबी सलाई बनवाकर उसके द्वारा उस बरतनके पेंदेमें छेद करके उसे जलमें छोड़ दिया जाय । जितने समयमें एक प्रस्थ जल उस बरतनमें भर जाय, वह बरतन जलमें डूब जाय, उतने समयको एक 'नाडिका' कहते हैं ॥ ९ ॥ विदुरजी ! चार-चार पहरके मनुष्यके 'दिन' और 'रात' होते हैं और पन्द्रह दिन-रातका एक 'पक्ष' होता है, जो शुक्ल और कृष्ण भेदसे दो प्रकारका माना गया है ॥ १० ॥

तयोः समुच्चयो मासः पितृणां तदहर्निशम् ।
द्वौ तावृतुः^१ षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि ॥ ११

अयने चाहनी^२ प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः ।
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम् ॥ १२

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् ।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ॥ १३

संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च ।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते ॥ १४

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन् स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः ।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वं-
स्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय ॥ १५

विदुर उवाच

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम्^३ ।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद्बहिर्विदः ॥ १६

भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु ।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ॥ १७

मैत्रेय उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ॥ १८

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥ १९

संख्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः ।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ॥ २०

इन दोनों पक्षोंको मिलाकर एक 'मास' होता है, जो पितरोंका एक दिन-रात है। दो मासका एक 'ऋतु' और छः मासका एक 'अयन' होता है। अयन 'दक्षिणायन' और 'उत्तरायण' भेदसे दो प्रकारका है ॥ ११ ॥ ये दोनों अयन मिलकर देवताओंके एक दिन-रात होते हैं तथा मनुष्यलोकमें ये 'वर्ष' या बारह मास कहे जाते हैं। ऐसे सौ वर्षकी मनुष्यकी परम आयु बतायी गयी है ॥ १२ ॥ चन्द्रमा आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र और समस्त तारामण्डलके अधिष्ठाता कालस्वरूप भगवान् सूर्य परमाणुसे लेकर संवत्सरपर्यन्त कालमें द्वादश राशिरूप सम्पूर्ण भुवनकोशकी निरन्तर परिक्रमा किया करते हैं ॥ १३ ॥ सूर्य, बृहस्पति, शक्र, चन्द्रमा और नक्षत्रसम्बन्धी महीनोंके भेदसे यह वर्ष ही संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर कहा जाता है ॥ १४ ॥ विदुरजी ! इन पाँच प्रकारके वर्षोंकी प्रवृत्ति करनेवाले भगवान् सूर्यकी तुम उपहारादि समर्पित करके पूजा करो। ये सूर्यदेव पञ्चभूतोंमेंसे तेजःस्वरूप है और अपनी कालशक्तिसे बीजादि पदार्थोंकी अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिको अनेक प्रकारसे कार्योंन्मुख करते हैं। ये पुरुषोंकी मोहनवृत्तिके लिये उनकी आयुका क्षय करते हुए आकाशमें विचरते रहते हैं तथा ये ही सकाम-पुरुषोंको यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि मङ्गलमय फलोंका विस्तार करते हैं ॥ १५ ॥

विदुरजीने कहा—मुनिवर ! आपने देवता, पितर और मनुष्योंकी परमायुका वर्णन तो किया। अब जो सनकादि ज्ञानी मुनिजन त्रिलोकीसे बाहर कल्पसे भी अधिक कालतक रहनेवाले हैं, उनकी भी आयुका वर्णन कीजिये ॥ १६ ॥ आप भगवान् कालकी गति भलीभाँति जानते हैं, क्योंकि ज्ञानीलोग अपनी योगसिद्ध दिव्य दृष्टिसे सारे संसारको देख लेते हैं ॥ १७ ॥

मैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग अपनी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंके सहित देवताओंके बारह सहस्र वर्षतक रहते हैं, ऐसा बतलाया गया है ॥ १८ ॥ इन सत्यादि चारों युगोंमें क्रमशः चार, तीन, दो और एक सहस्र दिव्य वर्ष होते हैं और प्रत्येकमें जितने सहस्र वर्ष होते हैं उससे दुगुने सौ वर्ष उनकी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंमें होते हैं * ॥ १९ ॥ युगकी आदिमें सन्ध्या होती है और अन्तमें सन्ध्यांश। इनकी वर्ष-गणना सैकड़ोंकी संख्यामें बतलायी गयी है। इनके बीचका जो काल होता है, उसीको कालवेत्ताओंने युग कहा है। प्रत्येक युगमें एक-एक विशेष धर्मका विधान पाया जाता है ॥ २० ॥

धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्तते ।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ॥ २१

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम् ।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्^१ ॥ २२

निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते^२ ।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश ॥ २३

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्तिम् ।
मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः ।
भवन्ति चैव^३ युगपत्सुरेशाश्चानु ये च तान् ॥ २४

एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः ।
तिर्यङ्मृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः ॥ २५

मन्वन्तरेषु भगवान् बिभ्रत्सत्त्वं स्वमूर्तिभिः ।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः ॥ २६

तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः ।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये ॥ २७

तमेवान्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः ।
निशायामनुवृत्तायां^४ निर्मुक्तशशिभास्करम् ॥ २८

त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना ।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाजनं भृग्वादयोऽर्दिताः ॥ २९

तावन्निभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः ।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मयः ॥ ३०

अन्तः स तस्मिन् सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः ।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः ॥ ३१

एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः ।
अपक्षितमिवास्यापि^५ परमायुर्वयःशतम् ॥ ३२

यदर्थमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते ।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥ ३३

सत्ययुगके मनुष्योंमें धर्म अपने चारों चरणोंसे रहता है; फिर अन्य युगोंमें अधर्मकी वृद्धि होनेसे उसका एक-एक चरण क्षीण होता जाता है ॥ २१ ॥ प्यारे विदुरजी ! त्रिलोकीसे बाहर महर्लोकसे ब्रह्मलोकपर्यन्त यहाँकी एक सहस्र चतुर्युगीका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है, जिसमें जगत्कर्ता ब्रह्माजी शयन करते हैं ॥ २२ ॥ उस रात्रिका अन्त होनेपर इस लोकका कल्प आरम्भ होता है; उसका क्रम जबतक ब्रह्माजीका दिन रहता है तबतक चलता रहता है । उस एक कल्पमें चौदह मनु हो जाते हैं ॥ २३ ॥ प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक काल (७१ ६/१४ चतुर्युगी) तक अपना अधिकार भोगता है । प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न मनुवंशी राजालोग, सप्तर्षि, देवगण, इन्द्र और उनके अनुयायी गन्धर्वादि साथ-साथ ही अपना अधिकार भोगते हैं ॥ २४ ॥ यह ब्रह्माजीकी प्रतिदिनकी सृष्टि है, जिसमें तीनों लोकोंकी रचना होती है । उसमें अपने-अपने कर्मानुसार पशु-पक्षी, मनुष्य, पितर और देवताओंकी उत्पत्ति होती है ॥ २५ ॥ इन मन्वन्तरोंमें भगवान् सत्त्वगुणका आश्रय ले, अपनी मनु आदि मूर्तियोंके द्वारा पौरुष प्रकट करते हुए इस विश्वका पालन करते हैं ॥ २६ ॥ कालक्रमसे जब ब्रह्माजीका दिन बीत जाता है, तब वे तमोगुणके सम्पर्कको स्वीकार कर अपने सृष्टिरचनारूप पौरुषको स्थगित करके निश्चेष्टभावसे स्थित हो जाते हैं ॥ २७ ॥ उस समय सारा विश्व उन्हींमें लीन हो जाता है । जब सूर्य और चन्द्रमादिसे रहित वह प्रलयरात्रि आती है, तब वे भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोक उन्हीं ब्रह्माजीके शरीरमें छिप जाते हैं ॥ २८ ॥ उस अवसरपर तीनों लोक शेषजीके मुखसे निकली हुई अग्निरूप भगवान्की शक्तिसे जलने लगते हैं । इसलिये उसके तापसे व्याकुल होकर भृगु आदि मुनीश्वरगण महर्लोकसे जनलोकको चले जाते हैं ॥ २९ ॥ इतनेमें ही सातों समुद्र प्रलयकालके प्रचण्ड पवनसे उमड़कर अपनी उछलती हुई उताल तरङ्गोंसे त्रिलोकीको डुबो देते हैं ॥ ३० ॥ तब उस जलके भीतर भगवान् शेषशायी योगनिद्रासे नेत्र मूँदकर शयन करते हैं । उस समय जनलोकनिवासी मुनिगण उनकी स्तुति किया करते हैं ॥ ३१ ॥ इस प्रकार कालकी गतिसे एक-एक सहस्र चतुर्युगके रूपमें प्रतीत होनेवाले दिन-रातके हेर-फेरसे ब्रह्माजीकी सौ वर्षकी परमायु भी बीती हुई-सी दिखायी देती है ॥ ३२ ॥

ब्रह्माजीकी आयुके आधे भागको परार्ध कहते हैं । अबतक पहला परार्ध तो बीत चुका है, दूसरा चल रहा है ॥ ३३ ॥

पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।
 कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥ ३४
 तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद् यं पादामभिचक्षते ।
 यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ॥ ३५
 अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि^१ भारत ।
 वाराह इति विख्यातो यत्रासीत्सूकरो हरिः ॥ ३६
 कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते ।
 अव्याकृतस्यानन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः ॥ ३७
 कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः ।
 नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम् ॥ ३८
 विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः ।
 आण्डकोशो^२ बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ॥ ३९
 दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ।
 लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ॥ ४०
 तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ।
 विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः ॥ ४१

पूर्व परार्धके आरम्भमें ब्राह्म नामक महान् कल्प हुआ था । उसीमें ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई थी । पण्डितजन इन्हें शब्दब्रह्म कहते हैं ॥ ३४ ॥ उसी परार्धके अन्तमें जो कल्प हुआ था, उसे पादकल्प कहते हैं । इसमें भगवान्‌के नाभिसरोवरसे सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ था ॥ ३५ ॥ विदुरजी ! इस समय जो कल्प चल रहा है, वह दूसरे परार्धका आरम्भक बतलाया जाता है । यह वाराहकल्प-नामसे विख्यात है, इसमें भगवान्‌ने सूकररूप धारण किया था ॥ ३६ ॥ यह दो परार्धका काल अव्यक्त, अनन्त, अनादि, विश्वात्मा श्रीहरिका एक निमेष माना जाता है ॥ ३७ ॥ यह परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त फैला हुआ काल सर्वसमर्थ होनेपर भी सर्वात्मा श्रीहरिपर किसी प्रकारकी प्रभुता नहीं रखता । यह तो देहादिमें अभिमान रखनेवाले जीवोंका ही शासन करनेमें समर्थ है ॥ ३८ ॥

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र—इन आठ प्रकृतियोंके सहित दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चभूत—इन सोलह विकारोंसे मिलकर बना हुआ यह ब्रह्माण्डकोश भीतरसे पचास करोड़ योजन विस्तारवाला है तथा इसके बाहर चारों ओर उत्तरोत्तर दस-दस गुने सात आवरण हैं । उन सबके सहित यह जिसमें परमाणुके समान पड़ा हुआ दीखता है और जिसमें ऐसी करोड़ों ब्रह्माण्डराशियाँ हैं, वह इन प्रधानादि समस्त कारणोंका कारण अक्षर ब्रह्म कहलाता है और यही पुराणपुरुष परमात्मा श्रीविष्णुभगवान्‌का श्रेष्ठ धाम (स्वरूप) है ॥ ३९—४१ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥



अथ द्वादशोऽध्यायः

सृष्टिका विस्तार

मैत्रेय उवाच

इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः ।
 महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्त्राक्षीन्निबोध मे ॥ १
 ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् ।
 महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ॥ २
 दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत ।
 भगवद्भयानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत् ॥ ३

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! यहाँतक मैंने आपको भगवान्‌की कालरूप महिमा सुनायी । अब जिस प्रकार ब्रह्माजीने जगत्‌की रचना की, वह सुनिये ॥ १ ॥ सबसे पहले उन्होंने अज्ञानकी पाँच वृत्तियाँ—तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) रचीं ॥ २ ॥ किन्तु इस अत्यन्त पापमयी सृष्टिको देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई । तब उन्होंने अपने मनको भगवान्‌के ध्यानसे पवित्र कर उससे दूसरी सृष्टि रची ॥ ३ ॥

सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः ।
 सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूध्वरितसः ॥ ४
 तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः ।
 तत्रैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥ ५
 सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः ।
 क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे ॥ ६
 धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः ।
 सद्योऽजायत तन्मन्युः^१ कुमारो नीललोहितः ॥ ७
 स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः ।
 नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो ॥ ८
 इति तस्य वचः पादो भगवान् परिपालयन् ।
 अभ्यधाद् भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते ॥ ९
 यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः ।
 ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ॥ १०
 हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही ।
 सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे^२ ॥ ११
 मन्युर्मनुर्महिनसो^३ महाजिह्व ऋतध्वजः ।
 उग्ररेता^४ भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः ॥ १२
 धीर्वृत्तिरुशनोमा^५ च नियुत्सर्पिरिलाम्बिका ।
 इरावती सुधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः ॥ १३
 गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः ।
 एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः ॥ १४
 इत्यादिष्टः स गुरुणा भगवात्रीललोहितः ।
 सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः ॥ १५
 रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत् ।
 निशाम्यासंख्यशो यूथान् प्रजापतिरशङ्कत ॥ १६

इस बार ब्रह्माजीने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चार निवृत्तिपरायण ऊर्ध्वरेता मुनि उत्पन्न किये ॥ ४ ॥ अपने इन पुत्रोंसे ब्रह्माजीने कहा, 'पुत्रो ! तुमलोग सृष्टि उत्पन्न करो।' किंतु वे जन्मसे ही मोक्षमार्ग-(निवृत्तिमार्ग-)का अनुसरण करनेवाले और भगवान्‌के ध्यानमें तत्पर थे, इसलिये उन्होंने ऐसा करना नहीं चाहा ॥ ५ ॥ जब ब्रह्माजीने देखा कि मेरी आज्ञा न मानकर ये मेरे पुत्र मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, तब उन्हें असह्य क्रोध हुआ। उन्होंने उसे रोकनेका प्रयत्न किया ॥ ६ ॥ किंतु बुद्धिद्वारा उनके बहुत रोकनेपर भी वह क्रोध तत्काल प्रजापतिकी भौंहोंके बीचमेंसे एक नीललोहित (नीले और लाल रंगके) बालकके रूपमें प्रकट हो गया ॥ ७ ॥ वे देवताओंके पूर्वज भगवान् भव (रुद्र) रो-रोकर कहने लगे—'जगत्पिता ! विधाता ! मेरे नाम और रहनेके स्थान बतलाइये' ॥ ८ ॥

तब कमलयोनि भगवान् ब्रह्माने उस बालककी प्रार्थना पूर्ण करनेके लिये मधुर वाणीमें कहा, 'रोओ मत, मैं अभी तुम्हारी इच्छा पूरी करता हूँ ॥ ९ ॥ देवश्रेष्ठ ! तुम जन्म लेते ही बालकके समान फूट-फूटकर रोने लगे, इसलिये प्रजा तुम्हें 'रुद्र' नामसे पुकारेगी ॥ १० ॥ तुम्हारे रहनेके लिये मैंने पहलेसे ही हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और तप—ये स्थान रच दिये हैं ॥ ११ ॥ तुम्हारे नाम मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत होंगे ॥ १२ ॥ तथा धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा—ये ग्यारह रुद्राणियाँ तुम्हारी पत्नियाँ होंगी ॥ १३ ॥ तुम उपर्युक्त नाम, स्थान और स्त्रियोंको स्वीकार करो और इनके द्वारा बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करो; क्योंकि तुम प्रजापति हो' ॥ १४ ॥

लोकपिता ब्रह्माजीसे ऐसी आज्ञा पाकर भगवान् नीललोहित बल, आकार और स्वभावमें अपने ही-जैसी प्रजा उत्पन्न करने लगे ॥ १५ ॥ भगवान् रुद्रके द्वारा उत्पन्न हुए उन रुद्रोंको असंख्य यूथ बनाकर सारे संसारको भक्षण करते देख ब्रह्माजीको बड़ी शङ्का हुई ॥ १६ ॥ तब उन्होंने रुद्रसे कहा, 'सुरश्रेष्ठ !

अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम ।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः ॥ १७
तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् ।
तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान् ॥ १८
तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥ १९

मैत्रेय उवाच

एवमात्मभुवाऽऽदिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम् ।
बाढमित्यमुमामन्य विवेश तपसे वनम् ॥ २०
अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य^१ लोकसन्तानहेतवः ॥ २१
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥ २२
उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः ।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥ २३
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥ २४
धर्मः स्तनादक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम् ।
अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥ २५
हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात् ।
आस्याद्वाक्सस्थवो मेढ्रात्त्रिर्ऋतिः पायो रघाश्रयः ॥ २६
छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः ।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ॥ २७
वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥ २८

तुम्हारी प्रजा तो अपनी भयङ्कर दृष्टिसे मुझे और सारी दिशाओंको भस्म किये डालती है; अतः ऐसी सृष्टि और न रचो ॥ १७ ॥ तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम समस्त प्राणियोंको सुख देनेके लिये तप करो। फिर उस तपके प्रभावसे ही तुम पूर्ववत् इस संसारकी रचना करना ॥ १८ ॥ पुरुष तपके द्वारा ही इन्द्रियातीत, सर्वान्तर्यामी, ज्योतिःस्वरूप श्रीहरिको सुगमतासे प्राप्त कर सकता है ॥ १९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—जब ब्रह्माजीने ऐसी आज्ञा दी, तब रुद्रने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे शिरोधार्य किया और फिर उनकी अनुमति लेकर तथा उनकी परिक्रमा करके वे तपस्या करनेके लिये वनको चले गये ॥ २० ॥

इसके पश्चात् जब भगवान्की शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्माजीने सृष्टिके लिये सङ्कल्प किया, तब उनके दस पुत्र और उत्पन्न हुए। उनसे लोककी बहुत वृद्धि हुई ॥ २१ ॥ उनके नाम मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और दसवें नारद थे ॥ २२ ॥ इनमें नारदजी प्रजापति ब्रह्माजीकी गोदसे, दक्ष अँगूठेसे, वसिष्ठ प्राणसे, भृगु त्वचासे, क्रतु हाथसे, पुलह नाभिसे, पुलस्त्यऋषि कानोंसे, अङ्गिरा मुखसे, अत्रि नेत्रोंसे और मरीचि मनसे उत्पन्न हुए ॥ २३-२४ ॥ फिर उनके दायें स्तनसे धर्म उत्पन्न हुआ, जिसकी पत्नी मूर्तिसे स्वयं नारायण अवतीर्ण हुए तथा उनकी पीठसे अधर्मका जन्म हुआ और उससे संसारको भयभीत करनेवाला मृत्यु उत्पन्न हुआ ॥ २५ ॥ इसी प्रकार ब्रह्माजीके हृदयसे काम, भौंहोंसे क्रोध, नीचेके होठसे लोभ, मुखसे वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती, लिङ्गसे समुद्र, गुदासे पापका निवासस्थान (राक्षसोंका अधिपति) निर्ऋति ॥ २६ ॥ छायासे देवहूतिके पति भगवान् कर्दमजी उत्पन्न हुए। इस तरह यह सारा जगत् जगत्कर्ता ब्रह्माजीके शरीर और मनसे उत्पन्न हुआ ॥ २७ ॥

विदुरजी! भगवान् ब्रह्माकी कन्या सरस्वती बड़ी ही सुकुमारी और मनोहर थी। हमने सुना है—एक बार उसे देखकर ब्रह्माजी काममोहित हो गये थे, यद्यपि वह स्वयं वासनाहीन थी ॥ २८ ॥

तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन् ॥ २९

नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्ये न करिष्यन्ति चापरे^१ ।
यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं^२ प्रभुः ॥ ३०

तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो ।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते ॥ ३१

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा ।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति ॥ ३२

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।
प्रजापतिपतिस्तन्वं^३ तत्याज ब्रीडितस्तदा ।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः ॥ ३३

कदाचिद् ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात् ।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा ॥ ३४

चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह ।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः ॥ ३५

विदुर उवाच

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन् मुखतोऽसृजत् ।
यद् यद् येनासृजद् देवस्तन्मे^४ ब्रूहि तपोधन ॥ ३६

मैत्रेय उवाच

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात् ॥ ३७

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः ।
स्थापत्य चासृजद् वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः ॥ ३८

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥ ३९

उन्हें ऐसा अधर्ममय सङ्कल्प करते देख, उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषियोंने उन्हें विश्वासपूर्वक समझाया— ॥ २९ ॥ 'पिताजी ! आप समर्थ हैं, फिर भी अपने मनमें उत्पन्न हुए कामके वेगको न रोककर पुत्रीगमन-जैसा दुस्तर पाप करनेका सङ्कल्प कर रहे हैं ! ऐसा तो आपसे पूर्ववर्ती किसी भी ब्रह्माने नहीं किया और न आगे ही कोई करेगा ॥ ३० ॥ जगद्गुरो ! आप-जैसे तेजस्वी पुरुषोंको भी ऐसा काम शोभा नहीं देता; क्योंकि आपलोगोंके आचरणोंका अनुसरण करनेसे ही तो संसारका कल्याण होता है ॥ ३१ ॥ जिन श्रीभगवान्ने अपने स्वरूपमें स्थित इस जगत्को अपने ही तेजसे प्रकट किया है, उन्हें नमस्कार है । इस समय वे ही धर्मकी रक्षा कर सकते हैं ॥ ३२ ॥ अपने पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंको अपने सामने इस प्रकार कहते देख प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजी बड़े लज्जित हुए और उन्होंने उस शरीरको उसी समय छोड़ दिया । तब उस घोर शरीरको दिशाओंने ले लिया । वही कुहरा हुआ, जिसे अन्धकार भी कहते हैं ॥ ३३ ॥

एक बार ब्रह्माजी यह सोच रहे थे कि 'मैं पहलेकी तरह सुव्यवस्थित रूपसे सब लोकोंकी रचना किस प्रकार करूँ ?' इसी समय उनके चार मुखोंसे चार वेद प्रकट हुए ॥ ३४ ॥ इनके सिवा उपवेद, न्यायशास्त्र, होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजोंके कर्म, यज्ञोंका विस्तार, धर्मके चार चरण और चारों आश्रम तथा उनकी वृत्तियाँ—ये सब भी ब्रह्माजीके मुखोंसे ही उत्पन्न हुए ॥ ३५ ॥

विदुरजीने पूछा—तपोधन ! विश्वरचयिताओंके स्वामी श्रीब्रह्माजीने जब अपने मुखोंसे इन वेदादिको रचा, तो उन्होंने अपने किस मुखसे कौन वस्तु उत्पन्न की—यह आप कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ ३६ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! ब्रह्माने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरके मुखसे क्रमशः ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेदोंको रचा तथा इसी क्रमसे शस्त्र (होताका कर्म), इज्या (अध्वर्युका कर्म), स्तुतिस्तोम (उद्गाताका कर्म) और प्रायश्चित्त (ब्रह्माका कर्म)—इन चारोंकी रचना की ॥ ३७ ॥ इसी प्रकार आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र), धनुर्वेद (शस्त्रविद्या), गान्धर्ववेद (सङ्गीतशास्त्र) और स्थापत्यवेद (शिल्पविद्या)—इन चार उपवेदोंको भी क्रमशः उन पूर्वादि मुखोंसे ही उत्पन्न किया ॥ ३८ ॥ फिर सर्वदर्शी भगवान् ब्रह्माने अपने चारों मुखोंसे इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद बनाया ॥ ३९ ॥

षोडशयुक्थौ^१ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टुतावथ ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम् ॥ ४०

विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च ।
आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत्सह वृत्तिभिः ॥ ४१

सावित्रं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाथ बृहत्तथा ।
वार्तासञ्चयशालीनशिलोज्छ इति वै गृहे ॥ ४२

वैखानसा वालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने ।
न्यासे^२ कुटीचकः पूर्व बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ ॥ ४३

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च ।
एवं व्याहतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दहतः^३ ॥ ४४

तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः ।
त्रिष्टुप्मांसात्सुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थः प्रजापतेः ॥ ४५

मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत् ।
स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहतः ॥ ४६

ऊष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तःस्था बलमात्मनः ।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः ॥ ४७

शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः ।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः ॥ ४८

इसी क्रमसे षोडशी और उक्थ, चयन और अग्निष्टोम, आप्तोर्याम और अतिरात्र तथा वाजपेय और गोसव—ये दो-दो याग भी उनके पूर्वादि मुखोंसे ही उत्पन्न हुए ॥ ४० ॥ विद्या, दान, तप और सत्य—ये धर्मके चार पाद और वृत्तियोंके सहित चार आश्रम भी इसी क्रमसे प्रकट हुए ॥ ४१ ॥ सावित्र^१, प्राजापत्य^२, ब्राह्म^३ और बृहत्^४—ये चार वृत्तियाँ ब्रह्मचारीकी हैं तथा वार्ता^५, सञ्चय^६, शालीन^७ और शिलोज्छ^८—ये चार वृत्तियाँ गृहस्थकी हैं ॥ ४२ ॥ इसी प्रकार वृत्तिभेदसे वैखानस^९, वालखिल्य^{१०}, औदुम्बर^{११} और फेनप^{१२}—ये चार भेद वानप्रस्थोंके तथा कुटीचक^{१३}, बहूदक^{१४}, हंस^{१५}, और निष्क्रिय (परमहंस^{१६})—ये चार भेद संन्यासियोंके हैं ॥ ४३ ॥ इसी क्रमसे आन्वीक्षिकी^{१७}, त्रयी^{१८}, वार्ता^{१९} और दण्डनीति^{२०}—ये चार विद्याएँ तथा चार व्याहृतियाँ^{२१} भी ब्रह्माजीके चार मुखोंसे उत्पन्न हुई तथा उनके हृदयाकाशसे उँकार प्रकट हुआ ॥ ४४ ॥ उनके रोमोंसे उष्णिक्, त्वचासे गायत्री, मांससे त्रिष्टुप्, स्नायुसे अनुष्टुप्, अस्थियोंसे जगती, मज्जासे पंक्ति और प्राणोंसे बृहती छन्द उत्पन्न हुआ। ऐसे ही उनका जीव स्पर्शवर्ण (कवर्गादि पञ्चवर्ग) और देह स्वरवर्ण (अकारादि) कहलाया ॥ ४५-४६ ॥ उनकी इन्द्रियोंको ऊष्मवर्ण (श ष स ह) और बलको अन्तःस्थ (य र ल व) कहते हैं, तथा उनकी क्रीडासे निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पञ्चम—ये सात स्वर हुए ॥ ४७ ॥ हे तात ! ब्रह्माजी शब्दब्रह्मस्वरूप हैं। वे वैखरीरूपसे व्यक्त और ओङ्काररूपसे अव्यक्त हैं। तथा उनसे परे जो सर्वत्र परिपूर्ण परब्रह्म है, वही अनेकों प्रकारकी शक्तियोंसे विकसित होकर इन्द्रादि रूपोंमें भास रहा है ॥ ४८ ॥

१. प्रा० पा०—षोडशोक्षः पूर्व० । २. प्रा० पा०—न्यासी । ३. प्रा० पा०—दक्षतः ।

४. उपनयन-संस्कारके पश्चात् गायत्रीका अध्ययन करनेके लिये धारण किया जानेवाला तीन दिनका ब्रह्मचर्यव्रत ।

२. एक वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत । ३. वेदाध्ययनकी समाप्तिक रहनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत । ४. आयुपर्यन्त रहनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत । ५. कृषि आदि शास्त्रविहित वृत्तियाँ । ६. यागादि कराना । ७. अयाचितवृत्ति । ८. खेत कट जानेपर पृथ्वीपर पड़े हुए तथा अनाजकी मंडीमें गिरे हुए दानोंको बीनकर निर्वाह करना । ९. बिना जोती-बोयी भूमिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंसे निर्वाह करनेवाले । १०. नवीन अन्न मिलनेपर पहला सञ्चय करके रखा हुआ अन्न दान कर देनेवाले । ११. प्रातःकाल उठनेपर जिस दिशाकी ओर मुख हो, उसी ओरसे फलादि लाकर निर्वाह करनेवाले । १२. अपने-आप झड़े हुए फलादि खाकर रहनेवाले । १३. कुटी बनाकर एक जगह रहने और आश्रमके धर्मोंका पूरा पालन करनेवाले । १४. कर्मकी ओर गौणदृष्टि रखकर ज्ञानको ही प्रधान माननेवाले । १५. ज्ञानाभ्यासी । १६. ज्ञानी जीवन्मुक्त । १७. मोक्ष प्राप्त करनेवाली आत्मविद्या । १८. स्वर्गादि फल देनेवाली कर्मविद्या । १९. खेती-व्यापारादि-सम्बन्धी विद्या । २०. राजनीति । २१. भूः, भुवः, स्वः—ये तीन और चौथी महःको मिलाकर, इस प्रकार चार व्याहृतियाँ आश्वलायनने अपने गृह्यसूत्रोंमें बतलायी हैं—‘एवं व्याहतयः प्रोक्ता व्यस्ताः समस्ताः ।’ अथवा भूः, भुवः, स्वः और महः—ये चार व्याहृतियाँ, जैसा कि श्रुति कहती है—‘भूर्भुवः सुवर्ति वा एतास्तिस्त्रो व्याहतयस्तासामु ह स्मैतां चतुर्थीमाह । वाचमस्य प्रवेदयते महः इत्यादि ।

ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे ।
ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम् ॥ ४९

ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव ।
अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा ॥ ५०

न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विधातकम् ।
एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ॥ ५१

कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ ५२

यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् ।
स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या^१ महिष्यस्य^२ महात्मनः ॥ ५३

तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरै^३ ।
स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत् ॥ ५४

प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम ॥ ५५

आकूतिं रुचये प्रादात्कर्दमाय तु मध्यमाम् ।
दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ॥ ५६

विदुरजी ! ब्रह्माजीने पहला कामासक्त शरीर जिससे कुहरा बना था—छोड़नेके बाद दूसरा शरीर धारण करके विश्वविस्तारका विचार किया; वे देख चुके थे कि मरीचि आदि महान् शक्तिशाली ऋषियोंसे भी सृष्टिका विस्तार अधिक नहीं हुआ, अतः वे मन-ही-मन पुनः चिन्ता करने लगे—'अहो ! बड़ा आश्चर्य है, मेरे निरन्तर प्रयत्न करनेपर भी प्रजाकी वृद्धि नहीं हो रही है । मालूम होता है इसमें दैव ही कुछ विघ्न डाल रहा है ।' जिस समय यथोचित क्रिया करनेवाले श्रीब्रह्माजी इस प्रकार दैवके विषयमें विचार कर रहे थे उसी समय अकस्मात् उनके शरीरके दो भाग हो गये । 'क' ब्रह्माजीका नाम है, उन्हींसे विभक्त होनेके कारण शरीरको 'काय' कहते हैं । उन दोनों विभागोंसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ ॥ ४९—५२ ॥ उनमें जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट् स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी, वह उनकी महारानी शतरूपा हुई ॥ ५३ ॥ तबसे मिथुनधर्म (स्त्री-पुरुष-सम्भोग) से प्रजाकी वृद्धि होने लगी । महाराज स्वायम्भुव मनुने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं ॥ ५४ ॥ साधुशिरोमणि विदुरजी ! उनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति—तीन कन्याएँ थीं ॥ ५५ ॥ मनुजीने आकूतिका विवाह रुचि प्रजापतिसे किया, मझली कन्या देवहूति कर्दमजीको दी और प्रसूति दक्ष प्रजापतिको । इन तीनों कन्याओंकी सन्ततिसे सारा संसार भर गया ॥ ५६ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥



अथ त्रयोदशोऽध्यायः

वाराह-अवतारकी कथा

श्रीशुक उवाच

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप ।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः ॥ १

विदुर उवाच

स वै स्वायम्भुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः ।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ॥ २

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन् ! मुनिवर मैत्रयजीके मुखसे यह परम पुण्यमयी कथा सुनकर श्रीविदुरजीने फिर पूछा; क्योंकि भगवान्की लीलाकथामें इनका अत्यन्त अनुराग हो गया था ॥ १ ॥

विदुरजीने कहा—मुने ! स्वयम्भू ब्रह्माजीके प्रिय पुत्र महाराज स्वायम्भुव मनुने अपनी प्रिय पत्नी शतरूपाको पाकर फिर क्या किया ? ॥ २ ॥

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम ।
ब्रूहि मे श्रद्धधानाय^१ विष्ट्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ ॥ ३

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य^२
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।
यत्तदुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥ ४

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं
सहस्रशीर्ष्णाश्ररणोपधानम् ।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां
प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ॥ ५

मैत्रेय उवाच

यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायम्भुवो मनुः ।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत ॥ ६

त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः^३ पिता ।
अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत् ॥ ७

तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु ।
यत्कृत्वेह यशो विष्ट्वगमुत्र च भवेद्भक्तिः ॥ ८

ब्रह्मोवाच

प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर ।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम् ॥ ९

एतावत्यात्मजैर्वीरै^४ कार्या ह्यपचितिर्गुरौ ।
शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः ॥ १०

स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः ।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज ॥ ११

परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप ।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति ॥ १२

आप साधुशिरोमणि हैं। आप मुझे आदिराज राजर्षि स्वायम्भुव मनुका पवित्र चरित्र सुनाइये। वे श्रीविष्णुभगवान्‌के शरणापन्न थे, इसलिये उनका चरित्र सुननेमें मेरी बहुत श्रद्धा है ॥ ३ ॥ जिनके हृदयमें श्रीमुकुन्दके चरणारविन्द विराजमान हैं, उन भक्तजनोंके गुणोंको श्रवण करना ही मनुष्योंके बहुत दिनोंतक किये हुए शास्त्राभ्यासके श्रमका मुख्य फल है, ऐसा विद्वानोंका श्रेष्ठ मत है ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! विदुरजी सहस्रशीर्ष्ण भगवान् श्रीहरिके चरणाश्रित भक्त थे। उन्होंने जब विनयपूर्वक भगवान्‌की कथाके लिये प्रेरणा की, तब मुनिवर मैत्रेयका रोम-रोम खिल उठा। उन्होंने कहा ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—जब अपनी भार्या शतरूपाके साथ स्वायम्भुव मनुका जन्म हुआ, तब उन्होंने बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर श्रीब्रह्माजीसे कहा— ॥ ६ ॥ 'भगवन्! एकमात्र आप ही समस्त जीवोंके जन्मदाता और जीविका प्रदान करनेवाले पिता हैं। तथापि हम आपकी सन्तान ऐसा कौन-सा कर्म करें, जिससे आपकी सेवा बन सके? ॥ ७ ॥ पूज्यपाद! हम आपको नमस्कार करते हैं। आप हमसे हो सकने योग्य किसी ऐसे कार्यके लिये हमें आज्ञा दीजिये, जिससे इस लोकमें हमारी सर्वत्र कीर्ति हो और परलोकमें सद्गति प्राप्त हो सके' ॥ ८ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—तात! पृथ्वीपते! तुम दोनोंका कल्याण हो। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि तुमने निष्कपट भावसे 'मुझे आज्ञा दीजिये' यों कहकर मुझे आत्मसमर्पण किया है ॥ ९ ॥ वीर! पुत्रोंको अपने पिताकी इसी रूपमें पूजा करनी चाहिये। उन्हें उचित है कि दूसरोंके प्रति ईर्ष्याका भाव न रखकर जहाँतक बने, उनकी आज्ञाका आदरपूर्वक सावधानीसे पालन करें ॥ १० ॥ तुम अपनी इस भार्यासे अपने ही समान गुणवती सन्तति उत्पन्न करके धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करो और यज्ञोंद्वारा श्रीहरिकी आराधना करो ॥ ११ ॥ राजन्! प्रजापालनसे मेरी बड़ी सेवा होगी और तुम्हें प्रजाका पालन करते देखकर भगवान् श्रीहरि भी तुमसे प्रसन्न होंगे। जिनपर यज्ञमूर्ति जनार्दन भगवान् प्रसन्न नहीं होते, उनका सारा श्रम व्यर्थ ही होता है; क्योंकि

येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः ।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम् ॥ १३

मनुरुवाच

आदेशोऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन^१ ।
स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥ १४

यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि ।
अस्या उद्धरणे यत्रो देव देव्या विधीयताम् ॥ १५

मैत्रेय उवाच

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम् ।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम् ॥ १६

सृजतो^२ मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता ।
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः ।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ॥ १७

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः ॥ १८

तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत ।
गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत् ॥ १९

मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह ।
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा ॥ २०

किमेतत्सौकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम् ।
अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम् ॥ २१

दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः ।
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः ॥ २२

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः ।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः ॥ २३

वे तो एक प्रकारसे अपने आत्माका ही अनादर करते हैं ॥ १२-१३ ॥

मनुजीने कहा—पापका नाश करनेवाले पिताजी ! मैं आपकी आज्ञाका पालन अवश्य करूँगा; किन्तु आप इस जगत्में मेरे और मेरी भावी प्रजाके रहनेके लिये स्थान बतलाइये ॥ १४ ॥ देव ! सब जीवोंका निवासस्थान पृथ्वी इस समय प्रलयके जलमें डूबी हुई है। आप इस देवीके उद्धारका प्रयत्न कीजिये ॥ १५ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—पृथ्वीको इस प्रकार अथाह जलमें डूबी देखकर ब्रह्माजी बहुत देरतक मनमें यह सोचते रहे कि 'इसे कैसे निकालूँ ॥ १६ ॥ जिस समय मैं लोकरचनामें लगा हुआ था, उस समय पृथ्वी जलमें डूब जानेसे रसातलको चली गयी। हमलोग सृष्टिकार्यमें नियुक्त हैं, अतः इसके लिये हमें क्या करना चाहिये ? अब तो, जिनके सङ्कल्पमात्रसे मेरा जन्म हुआ है, वे सर्वशक्तिमान् श्रीहरि ही मेरा यह काम पूरा करें' ॥ १७ ॥

निष्पाप विदुरजी ! ब्रह्माजी इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उनके नासाछिद्रसे अकस्मात् अङ्गुठेके बराबर आकारका एक वराह-शिशु निकला ॥ १८ ॥ भारत ! बड़े आश्चर्यकी बात तो यही हुई कि आकाशमें खड़ा हुआ वह वराह-शिशु ब्रह्माजीके देखते-ही-देखते बड़ा होकर क्षणभरमें हाथीके बराबर हो गया ॥ १९ ॥ उस विशाल वराह-मूर्तिको देखकर मरीचि आदि मुनिजन, सनकादि और स्वायम्भुव मनुके सहित श्रीब्रह्माजी तरह-तरहके विचार करने लगे— ॥ २० ॥ अहो ! सूकरके रूपमें आज यह कौन दिव्य प्राणी यहाँ प्रकट हुआ है ? कैसा आश्चर्य है ! यह अभी-अभी मेरी नाकसे निकला था ॥ २१ ॥ पहले तो यह अङ्गुठेके पोरुएके बराबर दिखायी देता था, किन्तु एक क्षणमें ही बड़ी भारी शिलाके समान हो गया। अवश्य ही यज्ञमूर्ति भगवान् हमलोगोंके मनको मोहित कर रहे हैं ॥ २२ ॥ ब्रह्माजी और उनके पुत्र इस प्रकार सोच ही रहे थे कि भगवान् यज्ञपुरुष पर्वताकार होकर गरजने लगे ॥ २३ ॥

ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान् ।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः ॥२४॥

निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयसूकरस्य ।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते
त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन् स्म ॥२५॥

तेषां सतां वेदवितानमूर्ति-
ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम् ।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश ॥२६॥

उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः
सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक् ।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षा-
ज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः ॥२७॥

घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः ।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान् गृणतोऽविशत्कम् ॥२८॥

स वज्रकूटाङ्गनिपातवेग-
विशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान् ।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्त-
शुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥२९॥

क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाऽऽप
उत्पारपारं त्रिपरु रसायाम् ।
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ॥३०॥

सर्वशक्तिमान् श्रीहरिने अपनी गर्जनासे दिशाओंको प्रतिध्वनित करके ब्रह्मा और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको हर्षसे भर दिया ॥२४॥ अपना खेद दूर करनेवाली मायामय वराहभगवान्की घुरघुराहटको सुनकर वे जनलोक, तपलोक और सत्यलोकनिवासी मुनिगण तीनों वेदोंके परम पवित्र मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥ भगवान्के स्वरूपका वेदोंमें विस्तारसे वर्णन किया गया है; अतः उन मुनीश्वरोंने जो स्तुति की, उसे वेदरूप मानकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और एक बार फिर गरजकर देवताओंके हितके लिये गजराजकी-सी लीला करते हुए जलमें घुस गये ॥ २६ ॥ पहले वे सूकररूप भगवान् पूँछ उठाकर बड़े वेगसे आकाशमें उछले और अपनी गर्दनके बालोंको फटकारकर खुरोंके आघातसे बादलोंको छितराने लगे । उनका शरीर बड़ा कठोर था, त्वचापर कड़े-कड़े बाल थे, दाढ़ें सफेद थीं और नेत्रोंसे तेज निकल रहा था, उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २७ ॥ भगवान् स्वयं यज्ञपुरुष हैं तथापि सूकररूप धारण करनेके कारण अपनी नाकसे सूँघ-सूँघकर पृथ्वीका पता लगा रहे थे । उनकी दाढ़ें बड़ी कठोर थीं । इस प्रकार यद्यपि वे बड़े क्रूर जान पड़ते थे, तथापि अपनी स्तुति करनेवाले मरीचि आदि मुनियोंकी ओर बड़ी सौम्य दृष्टिसे निहारते हुए उन्होंने जलमें प्रवेश किया ॥ २८ ॥ जिस समय उनका वज्रमय पर्वतके समान कठोर कलेवर जलमें गिरा, तब उसके वेगसे मानो समुद्रका पेट फट गया और उसमें बादलोंकी गड़गड़ाहटके समान बड़ा भीषण शब्द हुआ । उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो अपनी उताल तरङ्गरूप भुजाओंको उठाकर वह बड़े आर्तस्वरसे 'हे यज्ञेश्वर ! मेरी रक्षा करो ।' इस प्रकार पुकार रहा है ॥ २९ ॥ तब भगवान् यज्ञमूर्ति अपने बाणके समान पैने खुरोंसे जलको चीरते हुए उस अपार जलराशिके उस पार पहुँचे । वहाँ रसातलमें उन्होंने समस्त जीवोंकी आश्रयभूता पृथ्वीको देखा, जिसे कल्पान्तमें शयन करनेके लिये उद्यत श्रीहरिने स्वयं अपने ही उदरमें लीन कर लिया था ॥ ३० ॥

स्वद्रंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां^१
 स उत्थितः संरुच्ये रसायाः ।
 तत्रापि दैत्यं गदयाऽऽपतन्तं
 सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः^२ ॥ ३१

जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं
 स लीलयेभं मृगराडिवाभसि ।
 तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो
 यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ॥ ३२

तमालनीलं सितदन्तकोट्या
 क्षमामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग ।
 प्रजाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकै-
 विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम् ॥ ३३

ऋषय ऊचुः

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन
 त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
 यद्रोमगर्तेषु^३ निलिल्युरध्वरा-
 स्तस्मै नमः कारणसूकराय ते^४ ॥ ३४

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां
 दुर्दर्शनं^५ देव यदध्वरात्मकम् ।
 छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम-
 स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥ ३५

सुक्तुण्ड आसीत्सुव ईश नासयो-
 रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
 प्राशिन्नमास्ये^६ ग्रसने ग्रहास्तु ते
 यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥ ३६

दीक्षानुजन्मोपसदः^७ शिरोधरं
 त्वं प्रायणीयोदयनीयद्रंष्ट्रः ।
 जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव^८ शीर्षकं क्रतोः
 सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो^९ हि ते ॥ ३७

फिर वे जलमें डूबी हुई पृथ्वीको अपनी दाढ़ोंपर लेकर रसातलसे ऊपर आये। उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। जलसे बाहर आते समय उनके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये महापराक्रमी हिरण्याक्षने जलके भीतर ही उनपर गदासे आक्रमण किया। इससे उनका क्रोध चक्रके समान तीक्ष्ण हो गया और उन्होंने उसे लीलासे ही इस प्रकार मार डाला, जैसे सिंह हाथीको मार डालता है। उस समय उसके रक्तसे थूथनी तथा कनपटी सन जानेके कारण वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कोई गजराज लाल मिट्टीके टीलेमें टक्कर मारकर आया हो ॥ ३१-३२ ॥ तात ! जैसे गजराज अपने दाँतोंपर कमल-पुष्प धारण कर ले, उसी प्रकार अपने सफेद दाँतोंकी नोकपर पृथ्वीको धारण कर जलसे बाहर निकले हुए, तमालके समान नीलवर्ण वराहभगवान्को देखकर ब्रह्मा, मरीचि आदिको निश्चय हो गया कि ये भगवान् ही हैं। तब वे हाथ जोड़कर वेदवाक्योंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥

ऋषियोंने कहा—भगवान् अजित् ! आपकी जय हो, जय हो। यज्ञपते ! आप अपने वेदत्रयीरूप विग्रहको फटकार रहे हैं; आपको नमस्कार है। आपके रोम-कूपोंमें सम्पूर्ण यज्ञ लीन हैं। आपने पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये ही यह सूकररूप धारण किया है; आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥ देव ! दुराचारियोंको आपके इस शरीरका दर्शन होना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि यह यज्ञरूप है। इसकी त्वचामें गायत्री आदि छन्द, रोमावलीमें कुश, नेत्रोंमें घृत तथा चारों चरणोंमें होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—इन चारों ऋत्विजोंके कर्म हैं ॥ ३५ ॥ ईश ! आपकी थूथनी (मुखके अग्रभाग)में सुक् है, नासिका-छिद्रोंमें सुवा है, उदरमें इडा (यज्ञीय भक्षणपात्र) है, कानोंमें चमस है, मुखमें प्राशिन्न (ब्रह्मभागपात्र) है और कण्ठछिद्रमें ग्रह (सोमपात्र) है। भगवन् ! आपका जो चबाना है, वही अग्निहोत्र है ॥ ३६ ॥ बार-बार अवतार लेना यज्ञस्वरूप आपकी दीक्षणीय इष्टि है, गरदन उपसद (तीन इष्टियाँ) हैं; दोनों दाढ़े प्रायणीय (दीक्षाके बादकी इष्टि) और उदयनीय (यज्ञसमाप्तिकी इष्टि) हैं; जिह्वा प्रवर्ग्य (प्रत्येक उपसदके पूर्व किया जानेवाला महावीर नामक कर्म) है, सिर सभ्य (होमरहित अग्नि) और आवसथ्य (औपासनाग्नि) हैं तथा प्राण चिति (इष्टिकाचयन) है ॥ ३७ ॥

सोमस्तु^१ रेतः सवनान्यवस्थितिः
 संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
 सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धि-
 स्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥ ३८

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-
 द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
 वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
 ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥ ३९

द्रष्टृग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता
 विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
 यथा वनाग्निःसरतो दत्ता धृता
 मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥ ४०

त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं
 भूमण्डलेनाथ दत्ता धृतेन ते ।
 चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा
 कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥ ४१

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां
 लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
 विधेम चास्यै नमसा सह त्वया
 यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः^२ ॥ ४२

कः श्रद्धधीतान्यतमस्तव प्रभो
 रसां गताया भुव उद्विबर्हणम् ।
 न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये
 यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ॥ ४३

विधुन्वता वेदमयं निजं वपु-
 र्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
 सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभि-
 र्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ॥ ४४

देव ! आपका वीर्य सोम है; आसन (बैठना) प्रातःसवनादि तीन सवन हैं; सातों धातु अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामकी सात संस्थाएँ हैं तथा शरीरकी सन्धियाँ (जोड़) सम्पूर्ण सत्र हैं। इस प्रकार आप सम्पूर्ण यज्ञ (सोमरहित याग) और क्रतु (सोमसहित याग) रूप हैं। यज्ञानुष्ठानरूप इष्टियाँ आपके अङ्गोंको मिलाये रखनेवाली मांसपेशियाँ हैं ॥ ३८ ॥ समस्त मन्त्र, देवता, द्रव्य, यज्ञ और कर्म आपके ही स्वरूप हैं; आपको नमस्कार है। वैराग्य, भक्ति और मनकी एकाग्रतासे जिस ज्ञानका अनुभव होता है, वह आपका स्वरूप ही है तथा आप ही सबके विद्यागुरु हैं; आपको पुनः-पुनः प्रणाम है ॥ ३९ ॥ पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवन् ! आपकी दाढ़ोंकी नोकपर रखी हुई यह पर्वतादि-मण्डित पृथ्वी ऐसी सुशोभित हो रही है, जैसे वनमेंसे निकलकर बाहर आये हुए किसी गजराजके दाँतोंपर पत्रयुक्त कमलिनी रखी हो ॥ ४० ॥ आपके दाँतोंपर रखे हुए भूमण्डलके सहित आपका यह वेदमय वराहविग्रह ऐसा सुशोभित हो रहा है, जैसे शिखरोंपर छापी हुई मेघमालासे कुलपर्वतकी शोभा होती है ॥ ४१ ॥ नाथ ! चराचर जीवोंके सुखपूर्वक रहनेके लिये आप अपनी पत्नी इन जगन्माता पृथ्वीको जलपर स्थापित कीजिये। आप जगत्के पिता हैं और अरणिमें अग्निस्थापनके समान आपने इसमें धारण शक्तिरूप अपना तेज स्थापित किया है। हम आपको और इस पृथ्वीमाताको प्रणाम करते हैं ॥ ४२ ॥ प्रभो ! रसातलमें डूबी हुई इस पृथ्वीको निकालनेका साहस आपके सिवा और कौन कर सकता था। किंतु आप तो सम्पूर्ण आश्चर्योंकी आश्रय हैं, आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपने ही तो अपनी मायासे इस अत्याश्चर्यमय विश्वकी रचना की है ॥ ४३ ॥ जब आप अपने वेदमय विग्रहको हिलाते हैं, तब हमारे ऊपर आपकी गरदनके बालोंसे झरती हुई शीतल जलकी बूँदें गिरती हैं। ईश ! उनसे भीगकर हम जनलोक, तपलोक और सत्यलोकमें रहनेवाले मुनिजन सर्वथा पवित्र हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैष ते
 यः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।
 यद्योगमायागुणयोगमोहितं
 विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम् ॥ ४५
 मैत्रेय उवाच

इत्युपस्थीयमानस्तैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
 सलिले स्वरवुराक्रान्त उपाधत्तावितावनिम् ॥ ४६

स इत्थं भगवानुर्वी विष्वक्सेनः प्रजापतिः ।
 रसाया लीलद्योत्रीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः ॥ ४७

य एवमेतां हरिमेधसो हरेः
 कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः ।
 शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं
 जनार्दनोऽस्याशु^१ हृदि प्रसीदति ॥ ४८

तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ
 किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ।
 अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः
 स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ॥ ४९

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
 पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।
 आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
 महो विरज्येत विना नरेतरम् ॥ ५०

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे वराहप्रादुर्भावानुवर्णनं^२ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः दितिका गर्भधारण

श्रीशुक उवाच
 निशम्य कौषारविणोपवर्णितां
 हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
 पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि-
 र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ॥ १

जो पुरुष आपके कर्मोंका पार पाना चाहता है, अवश्य ही उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है; क्योंकि आपके कर्मोंका कोई पार ही नहीं है। आपकी ही योगमायाके सत्त्वादि गुणोंसे यह सारा जगत् मोहित हो रहा है। भगवन्! आप इसका कल्याण कीजिये ॥ ४५ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! उन ब्रह्मवादी मुनियोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर सबकी रक्षा करनेवाले वराहभगवान्ने अपने खुरोंसे जलको स्तम्भितकर उसपर पृथ्वीको स्थापित कर दिया ॥ ४६ ॥ इस प्रकार रसातलसे लीलापूर्वक लायी हुई पृथ्वीको जलपर रखकर वे विष्वक्सेन प्रजापति भगवान् श्रीहरि अन्तर्धान हो गये ॥ ४७ ॥

विदुरजी! भगवान्के लीलामय चरित्र अत्यन्त कीर्तनीय हैं और उनमें लगी हुई बुद्धि सब प्रकारके पाप-तापोंको दूर कर देती है। जो पुरुष उनकी इस मङ्गलमयी मञ्जुल कथाको भक्तिभावसे सुनता या सुनाता है, उसके प्रति भक्तवत्सल भगवान् अन्तस्तलसे बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ४८ ॥ भगवान् तो सभी कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ हैं उनके प्रसन्न होनेपर संसारमें क्या दुर्लभ है। किन्तु उन तुच्छ कामनाओंकी आवश्यकता ही क्या है? जो लोग उनका अनन्यभावसे भजन करते हैं, उन्हें तो वे अन्तर्यामी परमात्मा स्वयं अपना परम पद ही दे देते हैं ॥ ४९ ॥ अरे! संसारमें पशुओंको छोड़कर अपने पुरुषार्थका सार जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा, जो आवागमनसे छुड़ा देनेवाली भगवान्की प्राचीन कथाओंमेंसे किसी भी अमृतमयी कथाका अपने कर्णपुटोंसे एक बार पान करके फिर उनकी ओरसे मन हटा लेगा ॥ ५० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! प्रयोजनवश सूकर बने श्रीहरिकी कथाको मैत्रेयजीके मुखसे सुनकर भी भक्तिव्रतधारी विदुरजीकी पूर्ण तृप्ति न हुई; अतः उन्होंने हाथ जोड़कर फिर पूछा ॥ १ ॥

विदुर उवाच

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना ।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम् ॥ २

तस्य चोद्धरत क्षोणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया ।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन् कस्माद्धेतोरभून्मृधः ॥ ३

मैत्रेय उवाच

साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः ।
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम् ॥ ४

ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः ।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ॥ ५

अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा ।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम् ॥ ६

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तमारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ॥ ७

इष्टाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम् ।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यगारे समाहितम् ॥ ८

दितिरुवाच^१

एष मां त्वत्कृते विद्वन्^२ काम आत्तशरासनः ।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥ ९

तद्भवान्दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः ।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम् ॥ १०

भर्तर्याप्नोर्मानानां लोकानाविशते यशः ।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते ॥ ११

पुरा पिता नो भगवान्दक्षो दुहितृवत्सलः ।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ॥ १२

विदुरजीने कहा—मुनिवर ! हमने यह बात आपके मुखसे अभी सुनी है कि आदिदैत्य हिरण्याक्षको भगवान् यज्ञमूर्तिने ही मारा था ॥ २ ॥ ब्रह्मन् ! जिस समय भगवान् लीलासे ही अपनी दाढ़ीपर रखकर पृथ्वीको जलमेंसे निकाल रहे थे, उस समय उनसे दैत्यराज हिरण्याक्षकी मुठभेड़ किस कारण हुई ? ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है; क्योंकि तुम श्रीहरिकी अवतारकथाके विषयमें ही पूछ रहे हो, जो मनुष्योंके मृत्युपाशका छेदन करनेवाली है ॥ ४ ॥ देखो, उत्तानपादका पुत्र ध्रुव बालकपनमें श्रीनारदजीकी सुनायी हुई हरिकथाके प्रभावसे ही मृत्युके सिरपर पैर रखकर भगवान्के परमपदपर आरूढ़ हो गया था ॥ ५ ॥ पूर्वकालमें एक बार इसी वाराहभगवान् और हिरण्याक्षके युद्धके विषयमें देवताओंके प्रश्न करनेपर देवदेव श्रीब्रह्माजीने उन्हें यह इतिहास सुनाया था और उसीके परम्परासे मैंने सुना है ॥ ६ ॥ विदुरजी ! एक बार दक्षकी पुत्री दितिने पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे कामातुर होकर सायङ्कालके समय ही अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपजीसे प्रार्थना की ॥ ७ ॥ उस समय कश्यपजी खीरकी आहुतियोंद्वारा अग्निजिह्व भगवान् यज्ञपतिकी आराधना कर सूर्यास्तका समय जान अग्निशालामें ध्यानस्थ होकर बैठे थे ॥ ८ ॥

दितिने कहा—विद्वन् ! मतवाला हाथी जैसे केल्लेके वृक्षको मसल डालता है, उसी प्रकार यह प्रसिद्ध धनुर्धर कामदेव मुझ अबलापर जोर जताकर आपके लिये मुझे बेचैन कर रहा है ॥ ९ ॥ अपनी पुत्रवती सौतोंकी सुख-समृद्धिको देखकर मैं ईर्ष्याकी आगसे जली जाती हूँ । अतः आप मुझपर कृपा कीजिये, आपका कल्याण हो ॥ १० ॥ जिनके गर्भसे आप-जैसा पति पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, वे ही स्त्रियाँ अपने पतियोंसे सम्मानिता समझी जाती हैं । उनका सुयश संसारमें सर्वत्र फैल जाता है ॥ ११ ॥ हमारे पिता प्रजापति दक्षका अपनी पुत्रियोंपर बड़ा स्नेह था । एक बार उन्होंने हम सबको अलग-अलग बुलाकर पूछा कि 'तुम किसे अपना पति बनाना चाहती हो ?' ॥ १२ ॥ वे अपनी सन्तानकी सब प्रकारकी

स विदित्वाऽऽत्मजानां नो भावं सन्तानभावनः ।
 त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः ॥ १३
 अथ मे कुरु कल्याण कामं कञ्चविलोचन ।
 आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि^१ महीयसि ॥ १४
 इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम् ।
 प्रत्याहानुनयन् वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम् ॥ १५
 एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि ।
 तस्याः^२ कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः ॥ १६
 सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान् ।
 व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथार्णवम् ॥ १७
 यामाहुरात्मनो ह्यर्थं श्रेयस्कामस्य मानिनि ।
 यस्यां स्वधुरमध्यस्य^३ पुमांश्चरति विज्वरः ॥ १८
 यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः ।
 वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा ॥ १९
 न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि ।
 अप्यायुषा वा^४ कात्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्रवः^५ ॥ २०
 अथापि काममेतं^६ ते प्रजात्यै करवाण्यलम् ।
 यथा मां^७ नातिवोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ २१
 एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना ।
 चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह ॥ २२
 एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः ।
 परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट् ॥ २३
 श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्र-
 विकीर्णविद्योतजटाकलापः ।
 भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो
 देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ॥ २४

चिन्ता रखते थे । अतः हमारा भाव जानकर उन्होंने उनमेंसे हम
 तेरह पुत्रियोंको, जो आपके गुण-स्वभावके अनुरूप थीं, आपके
 साथ व्याह दिया ॥ १३ ॥ अतः मङ्गलमूर्ते ! कमलनयन !
 आप मेरी इच्छा पूर्ण कीजिये; क्योंकि हे महत्तम ! आप-जैसे
 महापुरुषोंके पास दीनजनोंका आना निष्फल नहीं होता ॥ १४ ॥
 विदुरजी ! दिति कामदेवके वेगसे अत्यन्त बेचैन और
 बेवस हो रही थी । उसने इसी प्रकार बहुत-सी बातें बनाते हुए
 दीन होकर कश्यपजीसे प्रार्थना की, तब उन्होंने उसे सुमधुर
 वाणीसे समझाते हुए कहा ॥ १५ ॥ 'भीरु ! तुम्हारी इच्छाके
 अनुसार मैं अभी-अभी तुम्हारा प्रिय अवश्य करूँगा । भला,
 जिसके द्वारा अर्थ, धर्म और काम—तीनोंकी सिद्धि होती है,
 अपनी ऐसी पत्नीकी कामना कौन पूर्ण नहीं करेगा ? ॥ १६ ॥
 जिस प्रकार जहाजपर चढ़कर मनुष्य महासागरको पार कर
 लेता है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमी दूसरे आश्रमोंको आश्रय देता
 हुआ अपने आश्रमद्वारा स्वयं भी दुःखसमुद्रके पार हो जाता
 है ॥ १७ ॥ मानिनि ! स्त्रीको तो त्रिविध पुरुषार्थकी कामनावाले
 पुरुषका आधा अङ्ग कहा गया है । उसपर अपनी गृहस्थीका
 भार डालकर पुरुष निश्चिन्त होकर विचरता है ॥ १८ ॥
 इन्द्रियरूप शत्रु अन्य आश्रमवालोंके लिये अत्यन्त दुर्जय हैं;
 किन्तु जिस प्रकार किलेका स्वामी सुगमतासे ही लूटनेवाले
 शत्रुओंको अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार हम अपनी
 विवाहिता पत्नीका आश्रय लेकर इन इन्द्रियरूप शत्रुओंको
 सहजमें ही जीत लेते हैं ॥ १९ ॥ गृहेश्वरि ! तुम-जैसी भार्याके
 उपकारोंका बदला तो हम अथवा और कोई भी गुणग्राही पुरुष
 अपनी सारी उम्रमें अथवा जन्मान्तरमें भी पूर्णरूपसे नहीं चुका
 सकते ॥ २० ॥ तो भी तुम्हारी इस सन्तान-प्राप्तिकी इच्छाको मैं
 यथाशक्ति अवश्य पूर्ण करूँगा । परन्तु अभी तुम एक मुहूर्त
 ठहरो, जिससे लोग मेरी निन्दा न करें ॥ २१ ॥ यह अत्यन्त घोर
 समय राक्षसादि घोर जीवोंका है और देखनेमें भी बड़ा भयानक
 है । इसमें भगवान् भूतनाथके गण भूत-प्रेतादि घूमा करते
 हैं ॥ २२ ॥ साध्वि ! इस सन्ध्याकालमें भूतभावन भूतपति
 भगवान् शङ्कर अपने गण भूत-प्रेतादिको साथ लिये बेलपर
 चढ़कर विचरा करते हैं ॥ २३ ॥ जिनका जटाजूट श्मशानभूमिसे
 उठे हुए बवंडरकी धूलिसे धूसरित होकर देदीप्यमान हो रहा है
 तथा जिनके सुवर्ण-कान्तिमय गौर शरीरमें भस्म लगी हुई है, वे
 तुम्हारे देवर (श्वशुर) महादेवजी अपने सूर्य, चन्द्रमा और
 अग्निरूप तीन नेत्रोंसे सभीको देखते रहते हैं ॥ २४ ॥

न यस्य^१ लोके स्वजनः परो वा
 नात्यादृतो नोत कश्चिद्विगर्हाः ।
 वयं ब्रतैर्यच्चरणापविद्धा-
 माशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम् ॥२५॥

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
 गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
 निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं
 पिशाचचर्यामचरद्भूतिः सताम् ॥२६॥

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
 स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम् ।
 यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
 श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥२७॥

ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला
 यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।
 आज्ञाकरी तस्य पिशाचचर्या
 अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥२८॥

मैत्रेय^२ उवाच

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्यथोन्मथितेन्द्रिया ।
 जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव^३ गतत्रपा ॥२९॥
 स विदित्वाथ^४ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि ।
 नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह ॥३०॥

अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः ।
 ध्यायञ्जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥३१॥
 दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत ।
 उपसङ्गम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत ॥३२॥

दितिरुवाच^५

मा मे गर्भमिमं ब्रह्मन् भूतानामृषभो वधीत् ।
 रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम् ॥३३॥

संसारमें उनका कोई अपना या पराया नहीं है। न कोई अधिक आदरणीय और न निन्दनीय ही है। हमलोग तो अनेक प्रकारके ब्रतोंका पालन करके उनकी मायाको ही ग्रहण करना चाहते हैं, जिसे उन्होंने भोगकर लात मार दी है ॥ २५ ॥ विवेकी पुरुष अविद्याके आवरणको हटानेकी इच्छासे उनके निर्मल चरित्रका गान किया करते हैं; उनसे बढ़कर तो क्या, उनके समान भी कोई नहीं है और उनतक केवल सत्पुरुषोंकी ही पहुँच है। यह सब होनेपर भी वे स्वयं पिशाचोंका-सा आचरण करते हैं ॥ २६ ॥ यह नरशरीर कुत्तोंका भोजन है; जो अविवेकी पुरुष आत्मा मानकर वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दनादिसे इसीको सजाते-सँवारते रहते हैं—वे अभागे ही आत्माराम भगवान् शङ्करके आचरणपर हँसते हैं ॥ २७ ॥ हमलोग तो क्या, ब्रह्मादि लोकपाल भी उन्हींकी बाँधी हुई धर्म-मर्यादाका पालन करते हैं; वे ही इस विश्वके अधिष्ठान हैं तथा यह माया भी उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाली है। ऐसे होकर भी वे प्रेतोंका-सा आचरण करते हैं। अहो! उन जगद्व्यापक प्रभुकी यह अद्भुत लीला कुछ समझमें नहीं आती ॥ २८ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—पतिके इस प्रकार समझानेपर भी कामातुरा दितिने वेश्याके समान निर्लज्ज होकर ब्रह्मर्षि कश्यपजीका वस्त्र पकड़ लिया ॥ २९ ॥ तब कश्यपजीने उस निन्दित कर्ममें अपनी भार्याका बहुत आग्रह देख दैवको नमस्कार किया और एकान्तमें उसके साथ समागम किया ॥ ३० ॥ फिर जलमें स्नानकर प्राण और वाणीका संयम करके विशुद्ध ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्मका ध्यान करते हुए उसीका जप करने लगे ॥ ३१ ॥ विदुरजी! दितिको भी उस निन्दित कर्मके कारण बड़ी लज्जा आयी और वह ब्रह्मर्षिके पास जा, सिर नीचा करके इस प्रकार कहने लगी ॥ ३२ ॥

दिति बोलीं—ब्रह्मन्! भगवान् रुद्र भूतोंके स्वामी हैं, मैंने उनका अपराध किया है; किन्तु वे भूतश्रेष्ठ मेरे इस गर्भको नष्ट न करें ॥ ३३ ॥

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे ।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे ॥३४॥

स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः ।
व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः ॥३५॥

मैत्रेय उवाच

स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम् ।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः ॥३६॥

कश्यप उवाच

अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत ।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चार्तिहेलनात्^१ ॥३७॥

भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ ।
लोकान् सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः ॥३८॥

प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम् ।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु ॥३९॥

तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाँल्लोकभावनः^२ ।
हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन् शतपर्वधृक् ॥४०॥

दितिरुवाच

वधं भगवता साक्षात्सुनाभोदारबाहुना ।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणाद्विभो^३ ॥४१॥

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च ।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः ॥४२॥

कश्यप उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात् ।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि^४ चादरात् ॥४३॥

पुत्रस्यैव तु^५ पुत्राणां भवितैकः सतां मतः ।
गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ॥४४॥

मैं भक्तवाञ्छाकल्पतरु, उग्र एवं रुद्ररूप महादेवको नमस्कार करती हूँ। वे सत्पुरुषोंके लिये कल्याणकारी एवं दण्ड देनेके भावसे रहित हैं, किन्तु दुष्टोंके लिये क्रोधमूर्ति दण्डपाणि हैं ॥ ३४ ॥ हम स्त्रियोंपर तो व्याध भी दया करते हैं, फिर वे सतीपति तो मेरे बहनोई और परम कृपालु हैं; अतः वे मुझपर प्रसन्न हों ॥ ३५ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! प्रजापति कश्यपने सायङ्कालीन सन्ध्या-वन्दनादि कर्मसे निवृत्त होनेपर देखा कि दिति थर-थर काँपती हुई अपनी सन्तानकी लौकिक और पारलौकिक उन्नतिके लिये प्रार्थना कर रही है। तब उन्होंने उससे कहा ॥ ३६ ॥

कश्यपजीने कहा—तुम्हारा चित्त कामवासनासे मलिन था, वह समय भी ठीक नहीं था और तुमने मेरी बात भी नहीं मानी तथा देवताओंकी भी अवहेलना की ॥ ३७ ॥ अमङ्गलमयी चण्डी ! तुम्हारी कोखसे दो बड़े ही अमङ्गलमय और अधम पुत्र उत्पन्न होंगे। वे बार-बार सम्पूर्ण लोक और लोकपालोंको अपने अत्याचारोंसे रुलायेंगे ॥ ३८ ॥ जब उनके हाथसे बहुत-से निरपराध और दीन प्राणी मारे जाने लगेंगे, स्त्रियोंपर अत्याचार होने लगेंगे और महात्माओंको क्षुब्ध किया जाने लगेगा, उस समय सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेवाले श्रीजगदीश्वर कुपित होकर अवतार लेंगे और इन्द्र जैसे पर्वतोंका दमन करता है, उसी प्रकार उनका वध करेंगे ॥ ३९-४० ॥

दितिने कहा—प्रभो ! यही मैं भी चाहती हूँ कि यदि मेरे पुत्रोंका वध हो तो वह साक्षात् भगवान् चक्रपाणिके हाथसे ही हो, कुपित ब्राह्मणोंके शापादिसे न हो ॥ ४१ ॥ जो जीव ब्राह्मणोंके शापसे दग्ध अथवा प्राणियोंको भय देनेवाला होता है, वह किसी भी योनिमें जाय—उसपर नारकी जीव भी दया नहीं करते ॥ ४२ ॥

कश्यपजीने कहा—देवि ! तुमने अपने कियेपर शोक और पश्चात्ताप प्रकट किया है, तुम्हें शीघ्र ही उचित-अनुचितका विचार भी हो गया तथा भगवान् विष्णु, शिव और मेरे प्रति भी तुम्हारा बहुत आदर जान पड़ता है; इसलिये तुम्हारे एक पुत्रके चार पुत्रोंमेंसे एक ऐसा होगा, जिसका सत्पुरुष भी मान करेंगे और जिसके पवित्र यशको भक्तजन भगवान्के गुणोंके साथ गायेंगे ॥ ४३-४४ ॥

योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः ।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम् ॥ ४५

यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम् ।
स स्वदृग्भगवान् यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ॥ ४६

स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः ।
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥ ४७

अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परद्ध्या व्यथितो दुःखितेषु ।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता^१
नैदाधिकं तापमिवोदुराजः ॥ ४८

अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं
स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम् ।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं
द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम् ॥ ४९

मैत्रेय उवाच

श्रुत्वा भागवतं पौत्रमपोदत^२ दितिर्भृशम् ।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वाऽऽसीन्महामनाः ॥ ५०

—★—

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे दितिकश्यपसंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

—★—

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

जय-विजयको सनकादिका शाप

मैत्रेय उवाच

प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः ।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥ १
लोके तेन हतालोके^३ लोकपाला हतौजसः ।
न्यवेदयन् विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ॥ २

जिस प्रकार खोटे सोनेको बार-बार तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार साधुजन उसके स्वभावका अनुकरण करनेके लिये निर्वैरा आदि उपायोंसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करेंगे ॥ ४५ ॥ जिनकी कृपासे उन्हींका स्वरूपभूत यह जगत् आनन्दित होता है, वे स्वयंप्रकाश भगवान् भी उसकी अनन्य भक्तिसे सन्तुष्ट हो जायेंगे ॥ ४६ ॥ दिति ! वह बालक बड़ा ही भगवद्भक्त, उदारहृदय, प्रभावशाली और महान् पुरुषोंका भी पूज्य होगा, तथा प्रौढ़ भक्तिभावसे विशुद्ध और भावान्वित हुए अन्तःकरणमें श्रीभगवान्को स्थापित करके देहाभिमानको त्याग देगा ॥ ४७ ॥ वह विषयोंमें अनासक्त, शीलवान्, गुणोंका भंडार तथा दूसरोंकी समृद्धिमें सुख और दुःखमें दुःख माननेवाला होगा । उसका कोई शत्रु न होगा, तथा चन्द्रमा जैसे ग्रीष्म ऋतुके तापको हर लेता है, वैसे ही वह संसारके शोकको शान्त करनेवाला होगा ॥ ४८ ॥ जो इस संसारके बाहर-भीतर सब ओर विराजमान हैं, अपने भक्तोंके इच्छानुसार समय-समयपर मङ्गलविग्रह प्रकट करते हैं और लक्ष्मीरूप लावण्यमूर्ति ललनाकी भी शोभा बढ़ानेवाले हैं, तथा जिनका मुखमण्डल झिलमिलाते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित है—उन परम पवित्र कमलनयन श्रीहरिका तुम्हारे पौत्रको प्रत्यक्ष दर्शन होगा ॥ ४९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! दितिने जब सुना कि मेरा पौत्र भगवान्का भक्त होगा, तब उसे बड़ा आनन्द हुआ तथा यह जानकर कि मेरे पुत्र साक्षात् श्रीहरिके हाथसे मारे जायेंगे, उसे और भी अधिक उत्साह हुआ ॥ ५० ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! दितिको अपने पुत्रोंसे देवताओंको कष्ट पहुँचानेकी आशङ्का थी, इसलिये उसने दूसरोंके तेजका नाश करनेवाले उस कश्यपजीके तेज (वीर्य) को सौ वर्षोंतक अपने उदरमें ही रखा ॥ १ ॥ उस गर्भस्थ तेजसे ही लोकोंमें सूर्यादिका प्रकाश क्षीण होने लगा तथा इन्द्रादि लोकपाल भी तेजोहीन हो गये । तब उन्होंने ब्रह्माजीके

देवा^१ ऊचुः

तम एतद्विभो वेत्थ संविग्रा यद्वयं भृशम् ।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः ॥ ३

देवदेव जगद्धातल्लोकनाथशिखामणे^२ ।
परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित् ॥ ४

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे ।
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये ॥ ५

ये त्वानन्येन^३ भावेन भावयन्त्यात्मभावनम् ।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम् ॥ ६

तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः ॥ ७

यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्येव यन्त्रिताः ।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय^४ ते नमः ॥ ८

स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा^५ लुप्तकर्मणाम् ।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम् ॥ ९

एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम् ।
दिशस्तिमिरयन् सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि^६ ॥ १०

मैत्रेय उवाच

स प्रहस्य महाबाहो भगवान् शब्दगोचरः ।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान् प्रीणन् रुचिरया गिरा ॥ ११

ब्रह्मोवाच

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥ १२

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ १३

पास जाकर कहा कि सब दिशाओंमें अन्धकारके कारण बड़ी अव्यवस्था हो रही है ॥ २ ॥

देवताओंने कहा—भगवन् ! काल आपकी ज्ञानशक्तिको कुण्ठित नहीं कर सकता, इसलिये आपसे कोई बात छिपी नहीं है । आप इस अन्धकारके विषयमें भी जानते ही होंगे, हम तो इससे बड़े ही भयभीत हो रहे हैं ॥ ३ ॥ देवाधिदेव ! आप जगत्के रचयिता और समस्त लोकपालोंके मुकुटमणि हैं । आप छोटे-बड़े सभी जीवोंका भाव जानते हैं ॥ ४ ॥ देव ! आप विज्ञानबलसम्पन्न हैं; आपने मायासे ही यह चतुर्मुख रूप और रजोगुण स्वीकार किया है; आपकी उत्पत्तिके वास्तविक कारणको कोई नहीं जान सकता । हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ५ ॥ आपमें सम्पूर्ण भुवन स्थित है, कार्य-कारणरूप सारा प्रपञ्च आपका शरीर है; किन्तु वास्तवमें आप इससे परे हैं । जो समस्त जीवोंके उत्पत्तिस्थान आपका अनन्य भावसे ध्यान करते हैं, उन सिद्ध योगियोंका किसी प्रकार भी हास नहीं हो सकता; क्योंकि वे आपके कृपाकटाक्षसे कृतकृत्य हो जाते हैं तथा प्राण, इन्द्रिय और मनको जीत लेनेके कारण उनका योग भी परिष्कृत हो जाता है ॥ ६-७ ॥ रस्सीसे बंधे हुए बैलोंकी भाँति आपकी वेदवाणीसे जकड़ी हुई सारी प्रजा आपकी अधीनतामें नियमपूर्वक कर्मानुष्ठान करके आपको बलि समर्पित करती है । आप सबके नियन्ता मुख्य प्राण हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥ भूमन् ! इस अन्धकारके कारण दिन-रातका विभाग अस्पष्ट हो जानेसे लोकोंके सारे कर्म लुप्त होते जा रहे हैं, जिससे वे दुःखी हो रहे हैं; उनका कल्याण कीजिये और हम शरणागतोंकी ओर अपनी अपार दयादृष्टिसे निहारिये ॥ ९ ॥ देव ! आग जिस प्रकार ईधनमें पड़कर बढ़ती रहती है, उसी प्रकार काश्यपजीके वीर्यसे स्थापित हुआ यह दितिका गर्भ सारी दिशाओंको अन्धकारमय करता हुआ क्रमशः बढ़ रहा है ॥ १० ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाबाहो ! देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान् ब्रह्माजी हैंसे और उन्हें अपनी मधुर वाणीसे आनन्दित करते हुए कहने लगे ॥ ११ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! तुम्हारे पूर्वज, मेरे मानसपुत्र सनकादि लोकोंकी आसक्ति त्यागकर समस्त लोकोंमें आकाशमार्गसे विचरा करते थे ॥ १२ ॥ एक बार वे भगवान् विष्णुके शुद्ध-सत्त्वमय सब लोकोंके शिरोभागमें स्थित, वैकुण्ठधाममें जा पहुँचे ॥ १३ ॥ वहाँ सभी लोग विष्णुरूप

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम् ॥ १४

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः ।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः ॥ १५

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुग्धैर्द्रुमैः ।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥ १६

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र
गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः ।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां^१
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः^२ ॥ १७

पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः ।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥ १८

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुत्रागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।
गन्धेऽर्चिते^३ तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ॥ १९

यत्संकुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टै-
वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्समयाद्यैः ॥ २०

श्रीरूपिणी कृणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्गुणानि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥ २१

होकर रहते हैं और वह प्राप्त भी उन्हींको होता है, जो अन्य सब प्रकारकी कामनाएँ छोड़कर केवल भगवच्चरण-शरणकी प्राप्तिके लिये ही अपने धर्मद्वारा उनकी आराधना करते हैं ॥ १४ ॥ वहाँ वेदान्तप्रतिपाद्य धर्ममूर्ति श्रीआदिनारायण हम अपने भक्तोंको सुख देनेके लिये शुद्धसत्त्वमय स्वरूप धारणकर हर समय विराजमान रहते हैं ॥ १५ ॥ उस लोकमें नैःश्रेयस नामका एक वन है, जो मूर्तिमान् कैवल्य-सा ही जान पड़ता है। वह सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित है, जो स्वयं हर समय छहों ऋतुओंकी शोभासे सम्पन्न रहते हैं ॥ १६ ॥

वहाँ विमानचारी गन्धर्वगण अपनी प्रियाओंके सहित अपने प्रभुकी पवित्र लीलाओंका गान करते रहते हैं, जो लोगोंकी सम्पूर्ण पापराशिको भस्म कर देनेवाली हैं। उस समय सरोवरोंमें खिली हुई मकरन्दपूर्ण वासन्तिक माधवी लताकी सुमधुर गन्ध उनके चित्तको अपनी ओर खींचना चाहती है; परन्तु वे उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते वरं उस गन्धको उड़ाकर लानेवाले वायुको ही बुरा-भला कहते हैं ॥ १७ ॥ जिस समय भ्रमरराज ऊँचे स्वरसे गुंजार करते हुए मानो हरिकथाका गान करते हैं, उस समय थोड़ी देरके लिये कबूतर, कोयल, सारस, चक्रवे, पपीहे, हंस, तोते, तीतर और मोरोंका कोलाहल बंद हो जाता है—मानो वे भी उस कीर्तनानन्दमें वेसुध हो जाते हैं ॥ १८ ॥ श्रीहरि तुलसीसे अपने श्रीविग्रहको सजाते हैं और तुलसीकी गन्धका ही अधिक आदर करते हैं—यह देखकर वहाँके मन्दार, कुन्द, कुरबक (तिलकवृक्ष), उत्पल (रात्रिमें खिलनेवाले कमल), चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेसर, बकुल (मौलसिरी), अम्बुज (दिनमें खिलनेवाले कमल) और पारिजात आदि पुष्प सुगन्धयुक्त होनेपर भी तुलसीका ही तप अधिक मानते हैं ॥ १९ ॥ वह लोक वैदूर्य, मरकत-माणि (पत्रे) और सुवर्णके विमानोंसे भरा हुआ है। ये सब किसी कर्मफलसे नहीं, बल्कि एकमात्र श्रीहरिके पादपद्मोंकी वन्दना करनेसे ही प्राप्त होते हैं। उन विमानोंपर चढ़े हुए कृष्णप्राण भगवद्भक्तोंके चित्तोंमें बड़े-बड़े नितम्बोंवाली सुमुखी सुन्दरियाँ भी अपनी मन्द मुसकान एवं मनोहर हास-परिहाससे कामविकार नहीं उत्पन्न कर सकतीं ॥ २० ॥

परम सौन्दर्यशालिनी लक्ष्मीजी, जिनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये देवगण भी यत्नशील रहते हैं, श्रीहरिके भवनमें चञ्चलतारूप दोषको त्यागकर रहती हैं। जिस समय अपने चरण-कमलोंके नूपुरोंकी झनकार करती हुई वे अपना

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम् ।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-
मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ॥ २२

यत्र ब्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा^१-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥ २३

येऽभ्यर्थितामपि^२ च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्मं यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्प्राप्ता विततया बत^३ मायया ते ॥ २४

यद्य ब्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥ २५

तद्विश्वगुर्वधिकृतं^४ भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः ।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ॥ २६

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः
कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य-
केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ^५
विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां
रक्तेक्षणो न च मनाग्रभसं दधानौ ॥ २८

लीलाकमल घुमाती हैं, उस समय उस कनकभवनकी स्फटिकमय दीवारोंमें उनका प्रतिबिम्ब पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो वे उन्हें बहार रही हों ॥ २१ ॥ प्यारे देवताओ ! जिस समय दासियोंको साथ लिये वे अपने क्रीडावनमें तुलसीदलद्वारा भगवान्का पूजन करती हैं, तब वहाँके निर्मल जलसे भरे हुए सरोवरोंमें, जिनमें मूँगेके घाट बने हुए हैं, अपना सुन्दर अलकावली और उन्नत नासिकासे सुशोभित मुखारविन्द देखकर 'यह भगवान्का चुम्बन किया हुआ है' यों जानकर उसे बड़ा सौभाग्यशाली समझती है ॥ २२ ॥ जो लोग भगवान्की पापापहारिणी लीलाकथाओंको छोड़कर बुद्धिको नष्ट करनेवाली अर्थ-कामसम्बन्धिनी अन्य निन्दित कथाएँ सुनते हैं, वे उस वैकुण्ठलोकमें नहीं जा सकते । हाय ! जब वे अभागे लोग इन सारहीन बातोंको सुनते हैं, तब ये उनके पुण्योंको नष्टकर उन्हें आश्रयहीन घोर नरकोंमें डाल देती हैं ॥ २३ ॥ अहा ! इस मनुष्ययोनिकी बड़ी महिमा है, हम देवतालोग भी इसकी चाह करते हैं । इसीमें तत्त्वज्ञान और धर्मकी भी प्राप्ति हो सकती है । इसे पाकर भी जो लोग भगवान्की आराधना नहीं करते, वे वास्तवमें उनकी सर्वत्र फैली हुई मायासे ही मोहित हैं ॥ २४ ॥ देवाधिदेव श्रीहरिका निरन्तर चिन्तन करते रहनेके कारण जिनसे यमराज दूर रहते हैं, आपसमें प्रभुके सुयशकी चर्चा चलनेपर अनुरागजन्य विह्वलतावश जिनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहने लगती है तथा शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है और जिनके-से शील स्वभावकी हमलोग भी इच्छा करते हैं—वे परमभागवत ही हमारे लोकोसे ऊपर उस वैकुण्ठधाममें जाते हैं ॥ २५ ॥ जिस समय सनकादि मुनि विश्वगुरु श्रीहरिके निवासस्थान, सम्पूर्ण लोकोके वन्दनीय और श्रेष्ठ देवताओंके विचित्र विमानोंसे विभूषित उस परम दिव्य और अद्भुत वैकुण्ठधाममें अपने योगबलसे पहुँचे, तब उन्हें बड़ा ही आनन्द हुआ ॥ २६ ॥

भगवद्दर्शनकी लालसासे अन्य दर्शनीय सामग्रीकी उपेक्षा करते हुए वैकुण्ठधामकी छः ड्यौँदियाँ पार करके जब वे सातवींपर पहुँचे, तब वहाँ उन्हें हाथमें गदा लिये दो समान आयुवाले देवश्रेष्ठ दिखलायी दिये—जो बाजूबंद, कुण्डल और किरीट आदि अनेकों अमूल्य आभूषणोंसे अलङ्कृत थे ॥ २७ ॥ उनकी चार श्यामल भुजाओंके बीचमें मतवाले मधुकरोसे गुञ्जायमान वनमाला सुशोभित थी तथा बाँकी भौंहें, फड़कते हुए नासिकारन्ध्र और अरुण नयनोंके कारण उनके चेहरेपर कुछ क्षोभके-से चिह्न दिखायी दे रहे थे ॥ २८ ॥ उनके इस प्रकार

द्वार्येतयोर्निविशुर्मिषतोरपृष्ठा

पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिका याः ।

^१सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः ^२स्वदृष्ट्या

ये सञ्जरन्त्यविहता विगताभिः शङ्काः ॥ २९

तान् वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान्

वृद्धान्दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान् ।

वेत्रेण चास्वल्यतामतदर्हणांस्तौ

तेजो^३ विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ॥ ३०

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः

स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम् ।

ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईष-

त्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ॥ ३१

मुनयः^४ ऊचुः

को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोद्यै-

स्तद्धर्मिणां^५ निवसतां विषमः स्वभावः ।

तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां

को वाऽऽत्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥ ३२

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-

वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।

पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं

व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥ ३३

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः

कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।

लोकानितो ब्रजतमन्तरभावदृष्ट्या

पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥ ३४

तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं

तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः ।

सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्

पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥ ३५

देखते रहनेपर भी वे मुनिगण उनसे बिना कुछ पूछताछ किये, जैसे सुवर्ण और वज्रमय किवाड़ोंसे युक्त पहली छः ड्यौही लाँघकर आये थे, उसी प्रकार उनके द्वारमें भी घुस गये। उनकी दृष्टि तो सर्वत्र समान थी और वे निःशङ्क होकर सर्वत्र बिना किसी रोक-टोकके विचरते थे ॥ २९ ॥ वे चारों कुमार पूर्ण तत्त्वज्ञ थे तथा ब्रह्माकी सृष्टिमें आयुमें सबसे बड़े होनेपर भी देखनेमें पाँच वर्षके बालकों-से जान पड़ते थे और दिगम्बर-वृत्तिसे (नंग-धड़ंग) रहते थे। उन्हें इस प्रकार निःसङ्कोचरूपसे भीतर जाते देख उन द्वारपालोंने भगवान्‌के शील-स्वभावके विपरीत सनकादिके तेजकी हैसी उड़ाते हुए उन्हें बेंत अड़ाकर रोक दिया, यद्यपि वे ऐसे दुर्व्यवहारके योग्य नहीं थे ॥ ३० ॥ जब उन द्वारपालोंने वैकुण्ठवासी देवताओंके सामने पूजाके सर्वश्रेष्ठ पात्र उन कुमारोंको इस प्रकार रोका, तब अपने प्रियतम प्रभुके दर्शनोंमें विघ्न पड़नेके कारण उनके नेत्र सहसा कुछ-कुछ क्रोधसे लाल हो उठे और वे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३१ ॥

मुनियोंने कहा—अरे द्वारपालो ! जो लोग भगवान्‌की महती सेवाके प्रभावसे इस लोकको प्राप्त होकर यहाँ निवास करते हैं, वे तो भगवान्‌के समान ही समदर्शी होते हैं। तुम दोनों भी उन्हींमेंसे हो, किन्तु तुम्हारे स्वभावमें यह विषमता क्यों है ? भगवान् तो परम शान्तस्वभाव हैं, उनका किसीसे विरोध भी नहीं है; फिर यहाँ ऐसा कौन है, जिसपर शङ्का की जा सके ? तुम स्वयं कपटी हो, इसीसे अपने ही समान दूसरोंपर शङ्का करते हो ॥ ३२ ॥ भगवान्‌के उदरमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है; इसलिये यहाँ रहनेवाले ज्ञानीजन सर्वात्मा श्रीहरिसे अपना कोई भेद नहीं देखते, बल्कि महाकाशमें घटाकाशकी भाँति उनमें अपना अन्तर्भाव देखते हैं। तुम तो देव-रूपधारी हो; फिर भी तुम्हें ऐसा क्या दिखायी देता है, जिससे तुमने भगवान्‌के साथ कुछ भेदभावके कारण होनेवाले भयकी कल्पना कर ली ॥ ३३ ॥ तुम हो तो इन भगवान्‌ वैकुण्ठनाथके पार्षद, किन्तु तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द है। अतएव तुम्हारा कल्याण करनेके लिये हम तुम्हारे अपराधके योग्य दण्डका विचार करते हैं। तुम अपनी मन्द भेदबुद्धिके दोषसे इस वैकुण्ठलोकसे निकलकर उन पापमय योनियोंमें जाओ, जहाँ काम, क्रोध, लोभ—प्राणियोंके ये तीन शत्रु निवास करते हैं ॥ ३४ ॥

सनकादिके ये कठोर वचन सुनकर और ब्राह्मणोंके शापको किसी भी प्रकारके शस्त्रसमूहसे निवारण होनेयोग्य न जानकर श्रीहरिके वे दोनों पार्षद अत्यन्त दीनभावसे उनके चरण पकड़कर पृथ्वीपर लोट गये। वे जानते थे कि उनके स्वामी श्रीहरि भी ब्राह्मणोंसे बहुत डरते हैं ॥ ३५ ॥

भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो
यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो
मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ॥ ३६

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः^१ ।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीना-
मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥ ३७

तं त्वागतं प्रतिहतौपयिकं^२ स्वपुम्भि-
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
क्षुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम् ॥ ३८

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-^३
श्रूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्यम् ॥ ३९

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च ।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥ ४०

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-^४
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्घ्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ॥ ४१

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्टवाढ्यम् ।
महां भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः ॥ ४२

फिर उन्होंने अत्यन्त आतुर होकर कहा—'भगवन् ! हम अवश्य अपराधी हैं; अतः आपने हमें जो दण्ड दिया है, वह उचित ही है और वह हमें मिलना ही चाहिये । हमने भगवान्‌का अभिप्राय न समझकर उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है । इससे हमें जो पाप लगा है, वह आपके दिये हुए दण्डसे सर्वथा धुल जायगा । किन्तु हमारी इस दुर्दशाका विचार करके यदि करुणावश आपको थोड़ा-सा भी अनुताप हो, तो ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे उन अधमाधम योनियोंमें जानेपर भी हमें भगवत्स्मृतिको नष्ट करनेवाला मोह न प्राप्त हो ॥ ३६ ॥

इधर जब साधुजनोंके हृदयधन भगवान् कमलनाभको मालूम हुआ कि मेरे द्वारपालोंने सनकादि साधुओंका अनादर किया है, तब वे लक्ष्मीजीके सहित अपने उन्हीं श्रीचरणोंसे चलकर ही, वहाँ पहुँचे, जिन्हें परमहंस मुनिजन भी ढूँढ़ते रहते हैं—सहजमें पाते नहीं ॥ ३७ ॥ सनकादिने देखा कि उनकी समाधिके विषय श्रीवैकुण्ठनाथ स्वयं उनके नेत्रगोचर होकर पधारे हैं, उनके साथ-साथ पार्षदगण छत्र-चामरादि लिये चल रहे हैं तथा प्रभुके दोनों ओर राजहंसके पंखोंके समान दो श्वेत चँवर डुलाये जा रहे हैं । उनकी शीतल वायुसे उनके श्वेत छत्रमें लगी हुई मोतियोंकी झालर हिलती हुई ऐसी शोभा दे रही है मानो चन्द्रमाकी किरणोंसे अमृतकी बूँदें झर रही हों ॥ ३८ ॥ प्रभु समस्त सदगुणोंके आश्रय हैं, उनकी सौम्य मुखमुद्राको देखकर जान पड़ता था मानो वे सभीपर अनवरत कृपासुधाकी वर्षा कर रहे हैं । अपनी स्नेहमयी चितवनसे वे भक्तोंका हृदय स्पर्श कर रहे थे तथा उनके सुविशाल श्याम वक्षःस्थलपर स्वर्णरत्नाके रूपमें जो साक्षात् लक्ष्मी विराजमान थीं, उनसे मानो वे समस्त दिव्यलोकोंके चूडामणि वैकुण्ठधामको सुशोभित कर रहे थे ॥ ३९ ॥ उनके पीताम्बरमण्डित विशाल नितम्बोंपर झिलमिलती हुई करधनी और गलेमें भ्रमरोंसे मुखरित वनमाला विराज रही थी; तथा वे कलाइयोंमें सुन्दर कंगन पहने अपना एक हाथ गरुड़जीके कंधेपर रख दूसरेसे कमलका पुष्प घुमा रहे थे ॥ ४० ॥ उनके अमोल कपोल बिजलीकी प्रभाको भी लजानेवाले मकराकृत कुण्डलोंकी शोभा बढ़ा रहे थे, उभरी हुई सुघड़ नासिका थी, बड़ा ही सुन्दर मुख था, सिरपर मणिमय मुकुट विराजमान था तथा चारों भुजाओंके बीच महामूल्यवान् मनोहर हारकी और गलेमें कौस्तुभमणिकी अपूर्व शोभा थी ॥ ४१ ॥ भगवान्‌का श्रीविग्रह बड़ा ही सौन्दर्यशाली था । उसे देखकर भक्तोंके मनमें ऐसा वितर्क होता था कि इसके सामने लक्ष्मीजीका सौन्दर्याभिमान भी गलित हो गया है । ब्रह्माजी कहते हैं—देवताओ ! इस प्रकार मेरे,

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षेभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥ ४३

ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-
मुद्रीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ॥ ४४

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
र्ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्रं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्टभोगैः ॥ ४५

कुमारा ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं^१
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः ।
यह्यैव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्धवेन ॥ ४६

तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम् ।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगैः^२-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥ ४७

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किन्त्वन्यदर्पितभयं भुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा^३ भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥ ४८

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥ ४९

महादेवजीके और तुम्हारे लिये परम सुन्दर विग्रह धारण करनेवाले श्रीहरिको देखकर सनकादि मुनीश्वरोंने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया । उस समय उनकी अद्भुत छविको निहारते-निहारते उनके नेत्र तृप्त नहीं होते थे ॥ ४३ ॥

सनकादि मुनीश्वर निरन्तर ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहा करते थे । किन्तु जिस समय भगवान् कमलनयनके चरणारविन्दमकरन्दसे मिली हुई तुलसीमञ्जरीके गन्धसे सुवासित वायुने नासिकारन्ध्रोंके द्वारा उनके अन्तःकरणमें प्रवेश किया, उस समय वे अपने शरीरको सँभाल न सके और उस दिव्य गन्धने उनके मनमें भी खलबली पैदा कर दी ॥ ४३ ॥ भगवान्का मुख नील कमलके समान था, अति सुन्दर अधर और कुन्दकलीके समान मनोहर हाससे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी । उसकी झाँकी करके वे कृतकृत्य हो गये । और फिर पद्मरागके समान लाल-लाल नखोंसे सुशोभित उनके चरणकमल देखकर वे उन्हींका ध्यान करने लगे ॥ ४४ ॥ इसके पश्चात् वे मुनिगण अन्य साधनोंसे सिद्ध न होनेवाली, स्वाभाविक अष्टसिद्धियोंसे सम्पन्न श्रीहरिकी स्तुति करने लगे—जो योगमार्गद्वारा मोक्षपदकी खोज करनेवाले पुरुषोंके लिये उनके ध्यानका विषय, अत्यन्त आदरणीय और नयनानन्दकी वृद्धि करनेवाला पुरुषरूप प्रकट करते हैं ॥ ४५ ॥

सनकादि मुनियोंने कहा—अनन्त ! यद्यपि आप अन्तर्यामीरूपसे दुष्टचित्त पुरुषोंके हृदयमें भी स्थित रहते हैं, तथापि उनकी दृष्टिसे ओझल ही रहते हैं । किन्तु आज हमारे नेत्रोंके सामने तो आप साक्षात् विराजमान हैं । प्रभो ! जिस समय आपसे उत्पन्न हुए हमारे पिता ब्रह्माजीने आपका रहस्य वर्णन किया था, उसी समय श्रवणरन्ध्रोंद्वारा हमारी बुद्धिमें तो आप आ विराजे थे; किन्तु प्रत्यक्ष दर्शनका महान् सौभाग्य तो हमें आज ही प्राप्त हुआ है ॥ ४६ ॥ भगवन् ! हम आपको साक्षात् परमात्मतत्त्व ही जानते हैं । इस समय आप अपने विशुद्ध सत्त्वमय विग्रहसे अपने इन भक्तोंको आनन्दित कर रहे हैं । आपकी इस सगुण-साकार मूर्तिको राग और अहङ्कारसे मुक्त मुनिजन आपकी कृपादृष्टिसे प्राप्त हुए सुदृढ़ भक्तियोगके द्वारा अपने हृदयमें उपलब्ध करते हैं ॥ ४७ ॥ प्रभो ! आपका सुयश अत्यन्त कीर्तनीय और सांसारिक दुःखोंकी निवृत्ति करनेवाला है । आपके चरणोंकी शरणमें रहनेवाले जो महाभाग आपकी कथाओंके रसिक हैं, वे आपके आत्यन्तिक प्रसाद मोक्षपदको भी कुछ अधिक नहीं गिनते; फिर जिन्हें आपकी जरा-सी टेढ़ी भौंह ही भयभीत कर देती है, उन इन्द्रपद आदि अन्य भोगोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥ ४८ ॥ भगवन् ! यदि हमारा चित्त भौंरकी तरह आपके चरण-कमलोंमें ही रमण करता रहे, हमारी वाणी तुलसीके समान आपके चरण-सम्बन्धसे ही

प्रादुश्चकर्थं यदिदं पुरुहूत रूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः ।

तस्मा^१ इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुस्सदयो भगवान् प्रतीतः ॥ ५०

सुशोभित हो और हमारे कान आपकी सुयश-सुधासे परिपूर्ण रहें तो अपने पापोंके कारण भले ही हमारा जन्म नरकादि योनियोंमें हो जाय—इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है ॥ ४९ ॥ विपुलकीर्ति प्रभो ! आपने हमारे सामने जो यह मनोहर रूप प्रकट किया है, उससे हमारे नेत्रोंको बड़ा ही सुख मिला है; विषयासक्त अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये इसका दृष्टिगोचर होना अत्यन्त कठिन है। आप साक्षात् भगवान् हैं और इस प्रकार स्पष्टतया हमारे नेत्रोंके सामने प्रकट हुए हैं। हम आपको प्रणाम करते हैं ॥ ५० ॥

—★—

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे जयविजययोः^२ सनकादिशापो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

—★—

अथ षोडशोऽध्यायः

जय-विजयका वैकुण्ठसे पतन

ब्रह्मोवाच

इति तद् गृणतां^३ तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥ १

श्रीभगवानुवाच

एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रातामतिक्रमम् ॥ २

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः^४ ।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात् ॥ ३

तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।
तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥ ४

यत्रामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि ।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः ॥ ५

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्रयपचाद्विकुण्ठः ।

सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥ ६

श्रीब्रह्माजीने कहा—देवगण ! जब योगनिष्ठ सनकादि मुनियोंने इस प्रकार स्तुति की, तब वैकुण्ठ-निवास श्रीहरिने उनकी प्रशंसा करते हुए यह कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—मुनिगण ! ये जय-विजय मेरे पार्षद हैं। इन्होंने मेरी कुछ भी परवा न करके आपका बहुत बड़ा अपराध किया है ॥ २ ॥ आपलोग भी मेरे अनुगत भक्त हैं; अतः इस प्रकार मेरी ही अवज्ञा करनेके कारण आपने इन्हें जो दण्ड दिया है, वह मुझे भी अभिमत है ॥ ३ ॥ ब्राह्मण मेरे परम आराध्य हैं; मेरे अनुचरोंके द्वारा आपलोगोंका जो तिरस्कार हुआ है, उसे मैं अपना ही किया हुआ मानता हूँ। इसलिये मैं आपलोगोंसे प्रसन्नताकी भिक्षा माँगता हूँ ॥ ४ ॥ सेवकोंके अपराध करनेपर संसार उनके स्वामीका ही नाम लेता है। वह अपयश उसकी कीर्तिको इस प्रकार दूषित कर देता है, जैसे त्वचाको चर्मरोग ॥ ५ ॥ मेरी निर्मल सुयश-सुधामें गोता लगानेसे चाण्डालपर्यन्त सारा जगत् तुरन्त पवित्र हो जाता है, इसीलिये मैं 'विकुण्ठ' कहलाता हूँ। किन्तु यह पवित्र कीर्ति मुझे आपलोगोंसे ही प्राप्त हुई है। इसलिये जो कोई आपके विरुद्ध आचरण करेगा, वह मेरी भुजा ही क्यों न हो—मैं उसे तुरन्त काट डालूँगा ॥ ६ ॥

यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्यःक्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति ॥ ७

नाहं तथाहि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन ।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥ ८

येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः^१ किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः
सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ॥ ९

ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥ १०

ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः ।
वाण्यानुरागकलयाऽऽत्मजवद् गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहतस्तैः ॥ ११

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ
युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे
यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥ १२

ब्रह्मोवाच

अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम् ।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृष्यत ॥ १३

आपलोगोंकी सेवा करनेसे ही मेरी चरण-रजको ऐसी पवित्रता प्राप्त हुई है कि वह सारे पापोंको तत्काल नष्ट कर देती है और मुझे ऐसा सुन्दर स्वभाव मिला है कि मेरे उदासीन रहनेपर भी लक्ष्मीजी मुझे एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़तीं—यद्यपि इन्हींके लेशमात्र कृपाकटाक्षके लिये अन्य ब्रह्मादि देवता नाना प्रकारके नियमों एवं व्रतोंका पालन करते हैं ॥ ७ ॥ जो अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे अर्पणकर सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे निष्काम ब्राह्मण ग्रास-ग्रासपर तृप्त होते हुए घीसे तर तरह-तरहके पकवानोंका जब भोजन करते हैं, तब उनके मुखसे मैं जैसा तृप्त होता हूँ वैसा यज्ञमें अग्निरूप मुखसे यजमानकी दी हुई आहुतियोंको ग्रहण करके नहीं होता ॥ ८ ॥ योगमायाका अखण्ड और असीम ऐश्वर्य मेरे अधीन है तथा मेरी चरणोदकरूपिणी गङ्गाजी चन्द्रमाको मस्तकपर धारण करनेवाले भगवान् शङ्करके सहित समस्त लोकोंको पवित्र करती हैं। ऐसा परम पवित्र एवं परमेश्वर होकर भी मैं जिनकी पवित्र चरण-रजको अपने मुकुटपर धारण करता हूँ, उन ब्राह्मणोंके कर्मको कौन नहीं सहन करेगा ॥ ९ ॥ ब्राह्मण, दूध देनेवाली गौएँ और अनाथ प्राणी—ये मेरे ही शरीर हैं। पापोंके द्वारा विवेकदृष्टि नष्ट हो जानेके कारण जो लोग इन्हें मुझसे भिन्न समझते हैं, उन्हें मेरे द्वारा नियुक्त यमराजके गृध्र-जैसे दूत—जो सर्पके समान क्रोधी हैं—अत्यन्त क्रोधित होकर अपनी चोंचोंसे नोचते हैं ॥ १० ॥ ब्राह्मण तिरस्कारपूर्वक कटुभाषण भी करे, तो भी जो उसमें मेरी भावना करके प्रसन्नचित्तसे तथा अमृतभरी मुसकानसे युक्त मुखकमलसे उसका आदर करते हैं तथा जैसे रूठे हुए पिताको पुत्र और आपलोगोंको मैं मनाता हूँ, उसी प्रकार जो प्रेमपूर्ण वचनोंसे प्रार्थना करते हुए उन्हें शान्त करते हैं, वे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ११ ॥ मेरे इन सेवकोंने मेरा अभिप्राय न समझकर ही आपलोगोंका अपमान किया है। इसलिये मेरे अनुरोधसे आप केवल इतनी कृपा कीजिये कि इनका यह निर्वासनकाल शीघ्र ही समाप्त हो जाय, ये अपने अपराधके अनुरूप अधम गतिको भोगकर शीघ्र ही मेरे पास लौट आयें ॥ १२ ॥

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—देवताओ ! सनकादि मुनि क्रोधरूप सर्पसे डसे हुए थे, तो भी उनका चित्त अन्तः-करणको प्रकाशित करनेवाली भगवान्की मन्त्रमयी सुमधुर वाणी सुनते-सुनते तृप्त नहीं हुआ ॥ १३ ॥

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम् ।
विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ॥ १४

ते योगमाययाऽऽरब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम् ।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः^१ ॥ १५

ऋषय ऊचुः

न वयं भगवन् विद्यस्तव देव चिकीर्षितम् ।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ॥ १६

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो ।
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥ १७

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव ।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः ॥ १८

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात् ।
योगिनः स भवान् किंस्विदनुगृह्येत^२ यत्परैः ॥ १९

यं वै विभूतिरूपयात्यनुवेलमन्यै-
रर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः ।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो
लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥ २०

यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां^३
नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः ।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥ २१

धर्मस्य ते भगवत्स्त्रियुग त्रिभिः स्वैः
पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम् ।
नूनं भृतं तदभिधाति रजस्तमश्च
सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य ॥ २२

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदिहात्मगोपं
गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था
लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥ २३

भगवान्की उक्ति बड़ी ही मनोहर और थोड़े अक्षरोंवाली थी; किन्तु वह इतनी अर्थपूर्ण, सारयुक्त, दुर्विज्ञेय और गम्भीर थी कि बहुत ध्यान देकर सुनने और विचार करनेपर भी वे यह न जान सके कि भगवान् क्या करना चाहते हैं ॥ १४ ॥ भगवान्की इस अद्भुत उदारताको देखकर वे बहुत आनन्दित हुए और उनका अङ्ग-अङ्ग पुलकित हो गया । फिर योगमायाके प्रभावसे अपने परम ऐश्वर्यका प्रभाव प्रकट करनेवाले प्रभुसे वे हाथ जोड़कर कहने लगे ॥ १५ ॥

मुनियोंने कहा—स्वप्रकाश भगवन् ! आप सर्वेश्वर होकर भी जो यह कह रहे हैं कि 'यह आपने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया' सो इससे आपका क्या अभिप्राय है— यह हम नहीं जान सके हैं ॥ १६ ॥ प्रभो ! आप ब्राह्मणोंके परम हितकारी हैं; इससे लोक-शिक्षाके लिये आप भले ही ऐसा मानें कि ब्राह्मण में आराध्यदेव हैं । वस्तुतः तो ब्राह्मण तथा देवताओंके भी देवता ब्रह्मादिके भी आप ही आत्मा और आराध्यदेव हैं ॥ १७ ॥ सनातनधर्म आपसे ही उत्पन्न हुआ है, आपके अवतारोंद्वारा ही समय-समयपर उसकी रक्षा होती है तथा निर्विकारस्वरूप आप ही धर्मके परम गुह्य रहस्य हैं—यह शास्त्रोंका मत है ॥ १८ ॥ आपकी कृपासे निवृत्तिपरायण योगीजन सहजमें ही मृत्युरूप संसार-सागरसे पार हो जाते हैं; फिर भला, दूसरा कोई आपपर क्या कृपा कर सकता है ॥ १९ ॥ भगवन् ! दूसरे अर्थार्थी जन जिनकी चरण-रजको सर्वदा अपने मस्तकपर धारण करते हैं, वे लक्ष्मीजी निरन्तर आपकी सेवामें लगी रहती हैं; सो ऐसा जान पड़ता है कि भाग्यवान् भक्तजन आपके चरणोंपर जो नूतन तुलसीकी मालाएँ अर्पण करते हैं, उनपर गुंजार करते हुए भौंरोंके समान वे भी आपके पादपद्मोंको ही अपना निवासस्थान बनाना चाहती हैं ॥ २० ॥ किन्तु अपने पवित्र चरित्रोंसे निरन्तर सेवामें तत्पर रहनेवाली उन लक्ष्मीजीका भी आप विशेष आदर नहीं करते, आप तो अपने भक्तोंसे ही विशेष प्रेम रखते हैं । आप स्वयं ही सम्पूर्ण भजनीय गुणोंके आश्रय हैं; क्या जहाँ-तहाँ विचरते हुए ब्राह्मणोंके चरणोंमें लगनेसे पवित्र हुई मार्गकी धूलि और श्रीवत्सका चिह्न आपको पवित्र कर सकते हैं ? क्या इनसे आपकी शोभा बढ़ सकती है ? ॥ २१ ॥

भगवन् ! आप साक्षात् धर्मस्वरूप हैं । आप सत्यादि तीनों युगोंमें प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान रहते हैं तथा ब्राह्मण और देवताओंके लिये तप, शौच और दया—अपने इन तीन चरणोंसे इस चराचर जगत्की रक्षा करते हैं । अब आप अपनी शुद्धसत्त्वमयी वरदायिनी मूर्तिसे हमारे धर्मविरोधी रजोगुण-तमोगुणको दूर कर दीजिये ॥ २२ ॥ देव ! यह ब्राह्मणकुल आपके द्वारा अवश्य रक्षणीय है । यदि साक्षात् धर्मरूप होकर भी आप सुमधुर वाणी और पूजनादिके द्वारा इस उत्तम कुलकी रक्षा न करें तो आपका

तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः
क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।
नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तु-
स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ॥ २४

यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते^१
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण ॥ २५

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः
संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः
शापो मयैव निमित्तस्तदवैत^२ विप्राः ॥ २६

ब्रह्मोवाच

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् ।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयंप्रभम्^३ ॥ २७

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य^४ च ।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ॥ २८

भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ॥ २९

एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा ।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते ॥ ३०

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम् ।
प्रत्येष्ट्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः ॥ ३१

द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम् ।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्यमाविशत् ॥ ३२

तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः ।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ॥ ३३

निश्चित किया हुआ कल्याणमार्ग ही नष्ट हो जाय; क्योंकि लोक तो श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणको ही प्रमाणरूपसे ग्रहण करता है ॥ २३ ॥ प्रभो ! आप सत्त्वगुणकी खान हैं और सभी जीवोंका कल्याण करनेके लिये उत्सुक हैं। इसीसे आप अपनी शक्तिरूप राजा आदिके द्वारा धर्मके शत्रुओंका संहार करते हैं; क्योंकि वेदमार्गका उच्छेद आपको अभीष्ट नहीं है। आप त्रिलोकीनाथ और जगत्प्रतिपालक होकर भी ब्राह्मणोंके प्रति इतने नम्र रहते हैं, इससे आपके तेजकी कोई हानि नहीं होती; यह तो आपकी लीलामात्र है ॥ २४ ॥ सर्वेश्वर ! इन द्वारपालोंको आप जैसा उचित समझें वैसा दण्ड दें, अथवा पुरस्काररूपमें इनकी वृत्ति बढ़ा दें—हम निष्कपट भावसे सब प्रकार आपसे सहमत हैं। अथवा हमने आपके इन निरपराध अनुचरोंको शाप दिया है, इसके लिये हमींको उचित दण्ड दें; हमें वह भी सहर्ष स्वीकार है ॥ २५ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—मुनिगण ! आपने इन्हें जो शाप दिया है—सच जानिये, वह मेरी ही प्रेरणासे हुआ है। अब ये शीघ्र ही दैत्ययोनिको प्राप्त होंगे और वहाँ क्रोधावेशसे बड़ी हुई एकाग्रताके कारण सुदृढ़ योगसम्पन्न होकर फिर जल्दी ही मेरे पास लौट आयेंगे ॥ २६ ॥

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—तदनन्तर उन मुनीश्वरोंने नयनाभिराम भगवान् विष्णु और उनके स्वयंप्रकाश वैकुण्ठ-धामके दर्शन करके प्रभुकी परिक्रमा की और उन्हें प्रणामकर तथा उनकी आज्ञा पा भगवान्के ऐश्वर्यका वर्णन करते हुए प्रमुदित हो वहाँसे लौट गये ॥ २७-२८ ॥ फिर भगवान्ने अपने अनुचरोंसे कहा, 'जाओ, मनमें किसी प्रकारका भय मत करो; तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी ब्रह्मतेजको मिटाना नहीं चाहता; क्योंकि ऐसा ही मुझे अभिमत भी है ॥ २९ ॥ एक बार जब मैं योगनिद्रामें स्थित हो गया था, तब तुमने द्वारमें प्रवेश करती हुई लक्ष्मीजीको रोका था। उस समय उन्होंने क्रुद्ध होकर पहले ही तुम्हें यह शाप दे दिया था ॥ ३० ॥ अब दैत्ययोनिमें मेरे प्रति क्रोधाकार वृत्ति रहनेसे तुम्हें जो एकाग्रता होगी, उससे तुम इस विप्र-तिरस्कारजनित पापसे मुक्त हो जाओगे और फिर थोड़े ही समयमें मेरे पास लौट आओगे ॥ ३१ ॥ द्वारपालोंको इस प्रकार आज्ञा दे, भगवान्ने विमानोंकी श्रेणियोंसे सुसज्जित अपने सर्वाधिक श्रीसम्पन्न धाममें प्रवेश किया ॥ ३२ ॥ वे देवश्रेष्ठ जय-विजय तो ब्रह्मशापके कारण उस अलङ्घनीय भगवद्धाममें ही श्रीहीन हो गये तथा उनका सारा गर्व गलित हो गया ॥ ३३ ॥

तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः ।
 हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः ॥ ३४
 तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः ।
 दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ॥ ३५
 तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः ।
 आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति ॥ ३६
 विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
 योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः ।
 क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्यधीश-
 स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥ ३७

पुत्रो ! फिर जब वे वैकुण्ठलोकसे गिरने लगे, तब वहाँ श्रेष्ठ विमानोंपर बैठे हुए वैकुण्ठवासियोंमें महान् हाहाकार मच गया ॥ ३४ ॥ इस समय दितिके गर्भमें स्थित जो काश्यपजीका उग्र तेज है, उसमें भगवान्‌के उन पार्षदप्रवरोंने ही प्रवेश किया है ॥ ३५ ॥ उन दोनों असुरोंके तेजसे ही तुम सबका तेज फीका पड़ गया है । इस समय भगवान्‌ ऐसा ही करना चाहते हैं ॥ ३६ ॥ जो आदिपुरुष संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण हैं, जिनकी योगमायाको बड़े-बड़े योगिजन भी बड़ी कठिनतासे पार कर पाते हैं—वे सत्त्वादि तीनों गुणोंके नियन्ता श्रीहरि ही हमारा कल्याण करेंगे । अब इस विषयमें हमारे विशेष विचार करनेसे क्या लाभ हो सकता है ॥ ३७ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥



अथ सप्तदशोऽध्यायः

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्षकी दिग्विजय

मैत्रेय उवाच

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्खयोज्झिताः ।
 ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः ॥ १

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी ।
 पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥ २

उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
 दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥ ३

सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
 सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः ॥ ४

ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन्मुहुः ।
 उन्मूलयन्नगपतीन्वात्यानीको रजोध्वजः ॥ ५

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
 व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ॥ ६

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! ब्रह्माजीके कहनेसे अन्धकारका कारण जानकर देवताओंकी शङ्का निवृत्त हो गयी और फिर वे सब स्वर्गलोकको लौट आये ॥ १ ॥

इधर दितिको अपने पतिदेवके कथनानुसार पुत्रोंकी ओरसे उपद्रवादिकी आशङ्का बनी रहती थी । इसलिये जब पूरे सौ वर्ष बीत गये, तब उस साध्वीने दो यमज (जुड़वे) पुत्र उत्पन्न किये ॥ २ ॥ उनके जन्म लेते समय स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें अनेकों उत्पात होने लगे—जिनसे लोग अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ३ ॥ जहाँ-तहाँ पृथ्वी और पर्वत काँपने लगे, सब दिशाओंमें दाह होने लगा । जगह-जगह उल्कापात होने लगा, बिजलियाँ गिरने लगीं और आकाशमें अनिष्टसूचक धूमकेतु (पुच्छल तारे) दिखायी देने लगे ॥ ४ ॥ बार-बार सायँ-सायँ करती और बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ती हुई बड़ी विकट और असह्य वायु चलने लगी । उस समय आँधी उसकी सेना और उड़ती हुई धूल ध्वजाके समान जान पड़ती थी ॥ ५ ॥ बिजली जोर-जोरसे चमककर मानो खिलखिला रही थी । घटाओंने ऐसा सघन रूप धारण किया कि सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहोंके लुप्त हो जानेसे आकाशमें गहरा अँधेरा छा गया । उस समय कहीं कुछ भी दिखायी न देता था ॥ ६ ॥

चुक्रोश विमना वार्धिरूढर्मिः^१ क्षुभितोदरः ।
सोदपानाश्च सरितश्चक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ॥ ७

मुहुः परिधयोऽभूवन् सराह्वोः शशिसूर्ययोः ।
निर्घाता रथनिर्हादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ॥ ८

अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
सृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं^२ शिवाः ॥ ९

सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम् ।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ॥ १०

खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् ।
खाकाररभसा मत्ताः पर्यधावन् वरूथशः ॥ ११

रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडादुदपतन् खगाः ।
घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्भूत्रमकुर्वत ॥ १२

गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः ।
व्यरुदन्देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम् ॥ १३

ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः ।
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ॥ १४

दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातानतत्तत्त्वविदः प्रजाः ।
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम् ॥ १५

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव ॥ १६

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभि-
निरूद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ^३ ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे
कट्या सुकाज्यार्कमतीत्य तस्थतुः ॥ १७

समुद्र दुःखी मनुष्यकी भाँति कोलाहल करने लगा, उसमें ऊँची-ऊँची तरंगें उठने लगीं और उसके भीतर रहनेवाले जीवोंमें बड़ी हलचल मच गयी । नदियों तथा अन्य जलाशयोंमें भी बड़ी खलबली मच गयी और उनके कमल सूख गये ॥ ७ ॥ सूर्य और चन्द्रमा बार-बार ग्रसे जाने लगे तथा उनके चारों ओर अमङ्गलसूचक मण्डल बैठने लगे । बिना बादलोंके ही गरजनेका शब्द होने लगा तथा गुफाओंमेंसे रथकी घरघराहटका-सा शब्द निकलने लगा ॥ ८ ॥ गाँवोंमें गीदड़ और उल्लुओंके भयानक शब्दके साथ ही सियारियाँ मुखसे दहकती हुई आग उगलकर बड़ा अमङ्गल शब्द करने लगीं ॥ ९ ॥ जहाँ-तहाँ कुत्ते अपनी गरदन ऊपर उठाकर कभी गाने और कभी रोनेके समान भाँति-भाँतिके शब्द करने लगे ॥ १० ॥ विदुरजी ! झुंड-के-झुंड गधे अपने कठोर खुरोंसे पृथ्वी खोदते और रेंकनेका शब्द करते मतवाले होकर इधर-उधर दौड़ने लगे ॥ ११ ॥ पक्षी गधोंके शब्दसे डरकर रोते-चिल्लाते अपने घोंसलोंसे उड़ने लगे । अपनी खिरकोंमें बँधे हुए और वनमें चरते हुए गाय-बैल आदि पशु डरके मारे मल-मूत्र त्यागने लगे ॥ १२ ॥ गौएँ ऐसी डर गयीं कि दुहनेपर उनके थनोंसे खून निकलने लगा, बादल पीवकी वर्षा करने लगे, देवमूर्तियोंकी आँखोंसे आँसू बहने लगे और आँधीके बिना ही वृक्ष उखड़-उखड़कर गिरने लगे ॥ १३ ॥ शनि, राहु आदि क्रूर ग्रह प्रबल होकर चन्द्र, बृहस्पति आदि सौम्य ग्रहों तथा बहुत-से नक्षत्रोंको लाँघकर वक्रगतिसे चलने लगे तथा आपसमें युद्ध करने लगे ॥ १४ ॥ ऐसे ही और भी अनेकों भयङ्कर उत्पात देखकर सनकादिके सिवा और सब जीव भयभीत हो गये तथा उन उत्पातोंका मर्म न जाननेके कारण उन्होंने यही समझा कि अब संसारका प्रलय होनेवाला है ॥ १५ ॥

वे दोनों आदिदैत्य जन्मके अनन्तर शीघ्र ही अपने फौलादके समान कठोर शरीरोंसे बढ़कर महान् पर्वतोंके सदृश हो गये तथा उनका पूर्व पराक्रम भी प्रकट हो गया ॥ १६ ॥ वे इतने ऊँचे थे कि उनके सुवर्णमय मुकुटोंका अग्रभाग स्वर्गको स्पर्श करता था और उनके विशाल शरीरोंसे सारी दिशाएँ आच्छादित हो जाती थीं । उनकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद चमचमा रहे थे । पृथ्वीपर जो वे एक-एक कदम रखते थे, उससे भूकम्प होने लगता था और जब वे खड़े होते थे, तब उनकी जगमगाती हुई चमकीली करधनीसे सुशोभित कमर अपने प्रकाशसे सूर्यको भी मात करती थी ॥ १७ ॥

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्
 यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत ।
 तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा
 यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः ॥ १८

चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
 वशे सपालाल्लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः ॥ १९
 हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
 गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम् ॥ २०

तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम् ।
 वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम् ॥ २१

मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् ।
 भीता निलिल्यिरे देवास्ताक्ष्यत्रस्ता इवाहयः ॥ २२

स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।
 सेन्द्रान्देवगणान् क्षीबानपश्यन् व्यङ्गदद् भृशम् ॥ २३

ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिस्वनम् ।
 विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ॥ २४

तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
 यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः ।
 अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
 प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुःखुः ॥ २५

स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
 श्रन्महोर्मीज्ज्वसनेरितान्मुहुः^१ ।
 मौर्व्याभिजघ्ने^२ गदया विभावरी-
 मासेदिवांस्तात पुरीं^३ प्रचेतसः ॥ २६

तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं
 यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।
 स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचव-
 जगाद मे देहाधिराज संयुगम् ॥ २७

वे दोनों यमज थे। प्रजापति कश्यपजीने उनका नामकरण किया। उनमेंसे जो उनके वीर्यसे दितिके गर्भमें पहले स्थापित हुआ था, उसका नाम हिरण्यकशिपु रखा और जो दितिके उदरसे पहले निकला, वह हिरण्याक्षके नामसे विख्यात हुआ ॥ १८ ॥

हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीके वरसे मृत्युभयसे मुक्त हो जानेके कारण बड़ा उद्धत हो गया था। उसने अपनी भुजाओंके बलसे लोकपालोंके सहित तीनों लोकोंको अपने वशमें कर लिया ॥ १९ ॥ वह अपने छोटे भाई हिरण्याक्षको बहुत चाहता था और वह भी सदा अपने बड़े भाईका प्रिय कार्य करता रहता था। एक दिन वह हिरण्याक्ष हाथमें गदा लिये युद्धका अवसर ढूँढ़ता हुआ स्वर्गलोकमें जा पहुँचा ॥ २० ॥ उसका वेग बड़ा असह्य था। उसके पैरोंमें सोनेके नूपुरोंकी झनकार हो रही थी, गलेमें विजयसूचक माला धारण की हुई थी और कंधेपर विशाल गदा रखी हुई थी ॥ २१ ॥ उसके मनोबल, शारीरिक बल तथा ब्रह्माजीके वरने उसे मतवाला कर रखा था; इसलिये वह सर्वथा निरङ्कुश और निर्भय हो रहा था। उसे देखकर देवतालोग डरके मारे वैसे ही जहाँ-तहाँ छिप गये, जैसे गरुड़के डरसे साँप छिप जाते हैं ॥ २२ ॥ जब दैत्यराज हिरण्याक्षने देखा कि मेरे तेजके सामने बड़े-बड़े गर्वीले इन्द्रादि देवता भी छिप गये हैं, तब उन्हें अपने सामने न देखकर वह बार-बार भयङ्कर गर्जना करने लगा ॥ २३ ॥ फिर वह महाबली दैत्य वहाँसे लौटकर जलक्रीडा करनेके लिये मतवाले हाथीके समान गहरे समुद्रमें घुस गया, जिसमें लहरोंकी बड़ी भयङ्कर गर्जना हो रही थी ॥ २४ ॥ ज्यों ही उसने समुद्रमें पैर रखा कि डरके मारे वरुणके सैनिक जलचर जीव हकबका गये और किसी प्रकारकी छेड़छाड़ न करनेपर भी वे उसकी धाकसे ही घबराकर बहुत दूर भाग गये ॥ २५ ॥ महाबली हिरण्याक्ष अनेक वर्षोंतक समुद्रमें ही घूमता और सामने किसी प्रतिपक्षीको न पाकर बार-बार वायुवेगसे उठी हुई उसकी प्रचण्ड तरङ्गोंपर ही अपनी लोहमयी गदाको आजमाता रहा। इस प्रकार घूमते-घूमते वह वरुणकी राजधानी विभावरीपुरीमें जा पहुँचा ॥ २६ ॥ वहाँ पाताललोकके स्वामी, जलचरोंके अधिपति वरुणजीको देखकर उसने उनकी हँसी उड़ाते हुए नीच मनुष्यकी भाँति प्रणाम किया और कुछ मुसकराते हुए व्यङ्ग्यसे कहा—'महाराज! मुझे युद्धकी भिक्षा दीजिये ॥ २७ ॥

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा
वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।
विजित्य लोकेऽखिलदैत्यदानवान्^१
यद्राजसूयेन पुरायजत्रभो^२ ॥ २८

स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा
दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः ।
रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया
व्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम् ॥ २९

पश्यामि नान्यं पुरुषात्पुरातनाद्
यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम् ।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं
मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ॥ ३०

तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः ।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ॥ ३१

प्रभो ! आप तो लोकपालक, राजा और बड़े कीर्तिशाली हैं। जो लोग अपनेको बाँका वीर समझते थे, उनके वीर्यमदको भी आप चूर्ण कर चुके हैं और पहले एक बार आपने संसारके समस्त दैत्य-दानवोंको जीतकर राजसूय-यज्ञ भी किया था' ॥ २८ ॥

उस मदोन्मत्त शत्रुके इस प्रकार बहुत उपहास करनेसे भगवान् वरुणको क्रोध तो बहुत आया, किंतु अपने बुद्धिबलसे वे उसे पी गये और बदलेमें उससे कहने लगे—'भाई ! हमें तो अब युद्धादिका कोई चाव नहीं रह गया है ॥ २९ ॥ भगवान् पुराणपुरुषके सिवा हमें और कोई ऐसा दीखता भी नहीं, जो तुम-जैसे रणकुशल वीरको युद्धमें सन्तुष्ट कर सके। दैत्यराज ! तुम उन्हींके पास जाओ, वे ही तुम्हारी कामना पूरी करेंगे। तुम-जैसे वीर उन्हींका गुणगान किया करते हैं ॥ ३० ॥ वे बड़े वीर हैं। उनके पास पहुँचते ही तुम्हारी सारी शैखी पूरी हो जायगी और तुम कुत्तोंसे घिरकर वीरशय्यापर शयन करोगे। वे तुम-जैसे दुष्टोंको मारने और सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये अनेक प्रकारके रूप धारण किया करते हैं' ॥ ३१ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षदिग्विजये
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥



अथाष्टादशोऽध्यायः

हिरण्याक्षके साथ वाराहभगवान्का युद्ध

मैत्रेय उवाच

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः ।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदाद्
रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥ १
ददर्श तत्राभिजितं धराधरं
प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया ।
मुष्णान्तमक्षणा स्वरुचोऽरुणश्रिया
जहास चाहो वनगोचरो मृगः ॥ २

श्रीमैत्रेयजीने कहा—तात ! वरुणजीकी यह बात सुनकर वह मदोन्मत्त दैत्य बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उनके इस कथनपर कि 'तू उनके हाथसे मारा जायगा' कुछ भी ध्यान नहीं दिया और चट नारदजीसे श्रीहरिका पता लगाकर रसातलमें पहुँच गया ॥ १ ॥ वहाँ उसने विश्वविजयी वराहभगवान्को अपनी दाढ़ोंकी नोकपर पृथ्वीको ऊपरकी ओर ले जाते हुए देखा। वे अपने लाल-लाल चमकीले नेत्रोंसे उसके तेजको हरे लेते थे। उन्हें देखकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला, 'अरे ! यह जंगली पशु यहाँ जलमें कहाँसे आया' ॥ २ ॥

आहैनमेह्यज्ञं महीं विमुञ्च नो
रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता ।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः
सुराधमासादितसूकराकृते^१ ॥ ३

त्वं नः सपत्नैरभवाय^२ किं भृतो
यो मायया हन्त्यसुरान् परोक्षजित् ।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं
संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः ॥ ४

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्ष-
ण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम् ।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः
स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥ ५

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरै-
र्दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम् ।
तोदं मृषत्रिरगादम्बुमध्याद्
ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः ॥ ६

तं निःसरन्तं सलिलादनुद्भूतो
हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः ।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवीद्
गतहियां किं त्वसतां विगर्हितम् ॥ ७

स गामुदस्तात्सलिलस्य गोचरे
विन्यस्य तस्यामदधात्वसत्त्वम् ।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनै-
रापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ॥ ८

परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं
महागदं काञ्चनचित्रदंशम् ।
मर्माण्यभीक्षणं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः
प्रचण्डमन्युः प्रहसन्तं^३ बभाषे ॥ ९

फिर वराहजीसे कहा, 'अरे नासमझ ! इधर आ, इस पृथ्वीको छोड़ दे; इसे विश्वविधाता ब्रह्माजीने हम रसातलवासियोंके हवाले कर दिया है। रे सूकररूपधारी सुराधम ! मेरे देखते-देखते तू इसे लेकर कुशलपूर्वक नहीं जा सकता ॥ ३ ॥ तू मायासे लुक-छिपकर ही दैत्योंको जीत लेता और मार डालता है। क्या इसीसे हमारे शत्रुओंने हमारा नाश करानेके लिये तुझे पाला है ? मूढ़ ! तेरा बल तो योगमाया ही है; और कोई पुरुषार्थ तुझमें थोड़े ही है। आज तुझे समाप्तकर मैं अपने बन्धुओंका शोक दूर करूँगा ॥ ४ ॥ जब मेरे हाथसे छूटी हुई गदाके प्रहारसे सिर फट जानेके कारण तू मर जायगा, तब तेरी आराधना करनेवाले जो देवता और ऋषि हैं, वे सब भी जड़ कटे हुए वृक्षोंकी भाँति स्वयं ही नष्ट हो जायँगे' ॥ ५ ॥

हिरण्याक्ष भगवान्को दुर्वचन-बाणोंसे छेदे जा रहा था; परन्तु उन्होंने दाँतकी नोकपर स्थित पृथ्वीको भयभीत देखकर वह चोट सह ली तथा जलसे उसी प्रकार बाहर निकल आये, जैसे ग्राहकी चोट खाकर हथिनीसहित गजराज ॥ ६ ॥ जब उसकी चुनौतीका कोई उत्तर न देकर वे जलसे बाहर आने लगे, तब ग्राह जैसे गजका पीछा करता है, उसी प्रकार पीले केश और तीखी दाढ़ीवाले उस दैत्यने उनका पीछा किया तथा वज्रके समान कड़ककर वह कहने लगा, 'तुझे भागनेमें लज्जा नहीं आती ? सच है, असत् पुरुषोंके लिये कौन-सा काम न करनेयोग्य है ?' ॥ ७ ॥

भगवान्ने पृथ्वीको ले जाकर जलके ऊपर व्यवहार-योग्य स्थानमें स्थित कर दिया और उसमें अपनी आधारशक्तिका सञ्चार किया। उस समय हिरण्याक्षके सामने ही ब्रह्माजीने उनकी स्तुति की और देवताओंने फूल बरसाये ॥ ८ ॥ तब श्रीहरिने बड़ी भारी गदा लिये अपने पीछे आ रहे हिरण्याक्षसे, जो सोनेके आभूषण और अद्भुत कवच धारण किये था तथा अपने कटुवाक्योंसे उन्हें निरन्तर मर्माहत कर रहा था, अत्यन्त क्रोधपूर्वक हँसते हुए कहा ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच

सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा
युष्मद्विधान्मृगये^१ ग्रामसिंहान्^२ ।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा
विकल्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ॥ १०

एते वयं न्यासहरा रसौकसां
गतह्रियो गदया द्रावितास्ते ।
तिष्ठामहेऽथापि^३ कथञ्चिदाजौ
स्थेयं क्व यामो^४ बलिनोत्पाद्य वैरम् ॥ ११

त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो
घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः ।
संस्थाप्य चास्मान् प्रमृजाश्रु स्वकानां
यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपत्यसभ्यः ॥ १२

मैत्रेय^५ उवाच

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् ।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ॥ १३

सृजन्नमर्षितः^६ श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः ।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाभ्यहनद्धरिम् ॥ १४

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि ।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम् ॥ १५

पुनर्गदां स्वामादाय^७ भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः ।
अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भादृष्टदृच्छदम् ॥ १६

ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः ।
आजघ्ने स तु^८ तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत् ॥ १७

एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च ।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ १८

श्रीभगवान्ने कहा—अरे ! सचमुच ही हम जंगली जीव हैं, जो तुझ-जैसे ग्राम-सिंहों (कुत्तों) को ढूँढ़ते फिरते हैं। दुष्ट ! वीर पुरुष तुझ-जैसे मृत्यु-पाशमें बंधे हुए अभागों जीवोंकी आत्मश्लाघापर ध्यान नहीं देते ॥ १० ॥ हाँ, हम रसातलवासियोंकी धरोहर चुराकर और लज्जा छोड़कर तेरी गदाके भयसे यहाँ भाग आये हैं। हममें ऐसी सामर्थ्य ही कहाँ कि तेरे-जैसे अद्वितीय वीरके सामने युद्धमें ठहर सकें। फिर भी हम जैसे-तैसे तेरे सामने खड़े हैं; तुझ-जैसे बलवानोंसे वैर बाँधकर हम जा भी कहाँ सकते हैं ? ॥ ११ ॥ तू पैदल वीरोंका सरदार है, इसलिये अब निःशङ्क होकर—उधेड़-बुन छोड़कर हमारा अनिष्ट करनेका प्रयत्न कर और हमें मारकर अपने भाई-बन्धुओंके आँसू पोंछ। अब इसमें देर न कर। जो अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता, वह असभ्य है—भले आदमियोंमें बैठनेलायक नहीं है ॥ १२ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जब भगवान्ने रोषसे उस दैत्यका इस प्रकार खूब उपहास और तिरस्कार किया, तब वह पकड़कर खेलाये जाते हुए सर्पके समान क्रोधसे तिलमिला उठा ॥ १३ ॥ वह खीझकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगा, उसकी इन्द्रियाँ क्रोधसे क्षुब्ध हो उठीं और उस दुष्ट दैत्यने बड़े वेगसे लपककर भगवान्पर गदाका प्रहार किया ॥ १४ ॥ किन्तु भगवान्ने अपनी छातीपर चलायी हुई शत्रुकी गदाके प्रहारको कुछ टेढ़े होकर बचा लिया—ठीक वैसे ही, जैसे योगसिद्ध पुरुष मृत्युके आक्रमणसे अपनेको बचा लेता है ॥ १५ ॥ फिर जब वह क्रोधसे होठ चबाता अपनी गदा लेकर बार-बार घुमाने लगा, तब श्रीहरि कुपित होकर बड़े वेगसे उसकी ओर झपटे ॥ १६ ॥ सौम्यस्वभाव विदुरजी ! तब प्रभुने शत्रुकी दायीं भौंहपर गदाकी चोट की, किन्तु गदायुद्धमें कुशल हिरण्याक्षने उसे बीचमें ही अपनी गदापर ले लिया ॥ १७ ॥ इस प्रकार श्रीहरि और हिरण्याक्ष एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रुद्ध होकर आपसमें अपनी भारी गदाओंसे प्रहार करने लगे ॥ १८ ॥

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः^१
 क्षतास्त्रवघ्राणविवृद्धमन्व्योः^२ ।
 विचित्रमार्गाश्चरतोर्जिगीषया
 व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ॥ १९

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य माया-
 गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
 कौरव्य महां द्विषतोर्विमर्दनं
 दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ॥ २०

आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं
 कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
 विलक्ष्य दैत्यं भगवान् सहस्रणी-
 र्जगाद नारायणमादिसूकरम् ॥ २१

ब्रह्मोवाच

एष ते देव देवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम् ।
 विप्राणां सौरभेयीणां^३ भूतानामप्यनागसाम् ॥ २२

आगस्कृद्भयकृदुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः^४ ।
 अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ॥ २३

मैनं^५ मायाविनं दृष्टं निरङ्कुशमसत्तमम् ।
 आक्रीडबालवद्देवयथाऽऽशीविषमुत्थितम् ॥ २४

न यावदेव वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।
 स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यधमच्युत ॥ २५

एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बदकरी^६ प्रभो ।
 उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयमावह ॥ २६

उस समय उन दोनोंमें ही जीतनेकी होड़ लग गयी, दोनोंके ही अंग गदाओंकी चोटोंसे घायल हो गये थे, अपने अङ्गोंके घावोंसे बहनेवाले रुधिरकी गन्धसे दोनोंका ही क्रोध बढ़ रहा था और वे दोनों ही तरह-तरहके पैतरे बदल रहे थे। इस प्रकार गौके लिये आपसमें लड़नेवाले दो साँड़ोंके समान उन दोनोंमें एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ ॥ १९ ॥ विदुरजी ! जब इस प्रकार हिरण्याक्ष और मायासे वराहरूप धारण करनेवाले भगवान् यज्ञमूर्ति पृथ्वीके लिये द्वेष बाँधकर युद्ध करने लगे, तब उसे देखनेके लिये वहाँ ऋषियोंके सहित ब्रह्माजी आये ॥ २० ॥ वे हजारों ऋषियोंसे घिरे हुए थे। जब उन्होंने देखा कि वह दैत्य बड़ा शूरवीर है, उसमें भयका नाम भी नहीं है, वह मुकाबला करनेमें भी समर्थ है और उसके पराक्रमको चूर्ण करना बड़ा कठिन काम है, तब वे भगवान् आदिसूकररूप नारायणसे इस प्रकार कहने लगे ॥ २१ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—देव ! मुझसे वर पाकर यह दुष्ट दैत्य बड़ा प्रबल हो गया है। इस समय यह आपके चरणोंकी शरणमें रहनेवाले देवताओं, ब्राह्मणों, गौओं तथा अन्य निरपराध जीवोंको बहुत ही हानि पहुँचानेवाला, दुःखदायी और भयप्रद हो रहा है। इसकी जोड़का और कोई योद्धा नहीं है, इसलिये यह महाकण्टक अपना मुकाबला करनेवाले वीरकी खोजमें समस्त लोकोंमें घूम रहा है ॥ २२-२३ ॥ यह दुष्ट बड़ा ही मायावी, धमण्डी और निरङ्कुश है। बच्चा जिस प्रकार क्रुद्ध हुए साँपसे खेलता है; वैसे ही आप इससे खिलवाड़ न करें ॥ २४ ॥ देव ! अच्युत ! जबतक यह दारुण दैत्य अपनी बलवृद्धिकी वेलाको पाकर प्रबल हो, उससे पहले-पहले ही आप अपनी योगमायाको स्वीकार करके इस पापीको मार डालिये ॥ २५ ॥ प्रभो ! देखिये, लोकोंका संहार करनेवाली सन्ध्याकी भयङ्कर वेला आना ही चाहती है। सर्वात्मन् ! आप उससे पहले ही इस असुरको मारकर देवताओंको विजय प्रदान कीजिये ॥ २६ ॥

अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् ।
शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम् ॥ २७

दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम् ।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि ॥ २८

इस समय अभिजित् नामक मङ्गलमय मुहूर्तका भी योग आ गया है। अतः अपने सुहृद् हमलोगोंके कल्याणके लिये शीघ्र ही इस दुर्जय दैत्यसे निपट लीजिये ॥ २७ ॥ प्रभो ! इसकी मृत्यु आपके ही हाथ बदी है। हमलोगोंके बड़े भाग्य हैं कि स्वयं ही अपने कालरूप आपके पास आ पहुँचा है। अब आप युद्धमें बलपूर्वक इसे मारकर लोकोंको शान्ति प्रदान कीजिये ॥ २८ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षवधेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥



अथैकोनविंशोऽध्यायः

हिरण्याक्षवध

मैत्रेय उवाच

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः ।
प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ॥ १

ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम् ।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः^१ ॥ २

सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात् ।
विघूर्णितापतद्रेजे^२ तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम् ।
मानयन् स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ॥ ४

गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते^३ ।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चास्मरद्विभुः ॥ ५

तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन
स्वपार्षदमुख्येन विषजमानम् ।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां
तत्रास्मासन् स्वस्ति तेऽमुं जहीति ॥ ६

स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो
व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम् ।
विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो
रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छसन् ॥ ७

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! ब्रह्माजीके ये कपटरहित अमृतमय वचन सुनकर भगवान्ने उनके भोलेपनपर मुसकराकर अपने प्रेमपूर्ण कटाक्षके द्वारा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १ ॥ फिर उन्होंने झपटकर अपने सामने निर्भय विचरते हुए शत्रुकी टुड्डीपर गदा मारी। किन्तु हिरण्याक्षकी गदासे टकराकर वह गदा भगवान्के हाथसे छूट गयी और चक्कर काटती हुई जमीनपर गिरकर सुशोभित हुई। किन्तु यह बड़ी अद्भुत-सी घटना हुई ॥ २-३ ॥ उस समय शत्रुपर वार करनेका अच्छा अवसर पाकर भी हिरण्याक्षने उन्हें निरस्त्र देखकर युद्धधर्मका पालन करते हुए उनपर आक्रमण नहीं किया। उसने भगवान्का क्रोध बढ़ानेके लिये ही ऐसा किया था ॥ ४ ॥ गदा गिर जानेपर और लोगोंका हाहाकार बंद हो जानेपर प्रभुने उसकी धर्मबुद्धिकी प्रशंसा की और अपने सुदर्शनचक्रका स्मरण किया ॥ ५ ॥

चक्र तुरंत ही उपस्थित होकर भगवान्के हाथमें घूमने लगा। किन्तु वे अपने प्रमुख पार्षद दैत्याधम हिरण्याक्षके साथ विशेषरूपसे क्रीडा करने लगे। उस समय उनके प्रभावको न जाननेवाले देवताओंके ये विचित्र वचन सुनायी देने लगे—‘प्रभो ! आपकी जय हो; इसे और न खेलाइये, शीघ्र ही मार डालिये ॥ ६ ॥ जब हिरण्याक्षने देखा कि कमल-दल-लोचन श्रीहरि उसके सामने चक्र लिये खड़े हैं, तब उसकी सारी इन्द्रियाँ क्रोधसे तिलमिला उठीं और वह लम्बी साँस लेता हुआ अपने दाँतोंसे होठ चबाने लगा ॥ ७ ॥ उस समय वह

करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव ।
अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम् ॥ ८
पदा सव्येन तां साधो भगवान् यज्ञसूकरः ।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम् ॥ ९

आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।
इत्युक्तः स तदा भूयस्ताडयन् व्यनदद् भृशम् ॥ १०

तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः ।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ॥ ११

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।
नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ॥ १२

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम् ।
यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन् यथा ॥ १३

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं
चकासदन्तः ख उदीर्णदीधिति ।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना
हरिर्यथा ताक्ष्यपतत्रमुज्झितम् ॥ १४

वृक्णे स्वशूले बहुधारिणा हरेः
प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत् ।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
नदन् प्रहत्यान्तरधीयतासुरः ॥ १५

तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः ।
नाकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः ॥ १६

अथोरुधासृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ ।
यां विलोक्य प्रजास्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ॥ १७

तीखी दाढ़ोंवाला दैत्य, अपने नेत्रोंसे इस प्रकार उनकी ओर घूरने लगा मानो वह भगवान्को भस्म कर देगा। उसने उछलकर 'ले, अब तू नहीं बच सकता' इस प्रकार ललकारते हुए श्रीहरिपर गदासे प्रहार किया ॥ ८ ॥ साधुस्वभाव विदुरजी ! यज्ञमूर्ति श्रीवराहभगवान्ने शत्रुके देखते-देखते लीलासे ही अपने बायें पैरसे उसकी वह वायुके समान वेगवाली गदा पृथ्वीपर गिरा दी और उससे कहा, 'अरे दैत्य ! तू मुझे जीतना चाहता है, इसलिये अपना शस्त्र उठा ले और एक बार फिर वार कर।' भगवान्के इस प्रकार कहनेपर उसने फिर गदा चलायी और बड़ी भीषण गर्जना करने लगा ॥ ९-१० ॥ गदाको अपनी ओर आते देखकर भगवान्ने, जहाँ खड़े थे वहींसे, उसे आते ही अनायास इस प्रकार पकड़ लिया, जैसे गरुड साँपिनको पकड़ ले ॥ ११ ॥

अपने उद्यमको इस प्रकार व्यर्थ हुआ देख उस महादैत्यका घमंड ठंडा पड़ गया और उसका तेज नष्ट हो गया। अबकी बार भगवान्के देनेपर उसने उस गदाको लेना न चाहा ॥ १२ ॥ किंतु जिस प्रकार कोई ब्राह्मणके ऊपर निष्फल अभिचार (मारणादि प्रयोग) करे—मूठ आदि चलाये, वैसे ही उसने श्रीयज्ञपुरुषपर प्रहार करनेके लिये एक प्रज्वलित अग्निके समान लपलपाता हुआ त्रिशूल लिया ॥ १३ ॥ महाबली हिरण्याक्षका अत्यन्त वेगसे छोड़ा हुआ वह तेजस्वी त्रिशूल आकाशमें बड़ी तेजीसे चमकने लगा। तब भगवान्ने उसे अपनी तीखी धारवाले चक्रसे इस प्रकार काट डाला, जैसे इन्द्रने गरुडजीके छोड़े हुए तेजस्वी पंखको काट डाला था * ॥ १४ ॥ भगवान्के चक्रसे अपने त्रिशूलके बहुत-से टुकड़े हुए देखकर उसे बड़ा क्रोध हुआ। उसने पास आकर उनके विशाल वक्षःस्थलपर, जिसपर श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित है, कसकर घूँसा मारा और फिर बड़े जोरसे गरजकर अन्तर्धान हो गया ॥ १५ ॥

विदुरजी ! जैसे हाथीपर पुष्पमालाकी चोटका कोई असर नहीं होता, उसी प्रकार उसके इस प्रकार घूँसा मारनेसे भगवान् आदिवराह तनिक भी टस-से-मस नहीं हुए ॥ १६ ॥ तब वह महामायावी दैत्य मायार्पति श्रीहरिपर अनेक प्रकारकी मायाओंका प्रयोग करने लगा, जिन्हें देखकर सभी प्रजा बहुत डर गयी और समझने लगी कि अब संसारका प्रलय होनेवाला है ॥ १७ ॥

प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन् ।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ॥ १८

द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयितुभिः ।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत् ॥ १९

गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ॥ २०

बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्न्यश्वरथकुञ्जरैः ।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंसा वाचोऽतिवैशसाः^१ ॥ २१

प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयत् ।
सुदर्शनास्त्रं भगवान् प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ॥ २२

तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः ।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाद्यासृक् प्रसुस्रुवे ॥ २३

विनष्टासु^२ स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम् ।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ॥ २४

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।
करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥ २५

स आहतो विश्वजिता^३ ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्वात्र उदस्तलोचनः ।

विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्^४
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥ २६

क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं
करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।

अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता
अहो इमां को^५ नु लभेत संस्थितिम् ॥ २७

बड़ी प्रचण्ड आँधी चलने लगी, जिसके कारण धूलसे सब ओर अन्धकार छा गया। सब ओरसे पत्थरोंकी वर्षा होने लगी, जो ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी क्षेपणयन्त्र (गुल्लेल) से फेंके जा रहे हों ॥ १८ ॥ बिजलीकी चमचमाहट और कड़कके साथ बादलोंके घिर आनेसे आकाशमें सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह छिप गये तथा उनसे निरन्तर पीब, केश, रुधिर, विष्टा, मूत्र और हड्डियोंकी वर्षा होने लगी ॥ १९ ॥ विदुरजी ! ऐसे-ऐसे पहाड़ दिखायी देने लगे, जो तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र बरसा रहे थे। हाथमें त्रिशूल लिये बाल खोले नंगी राक्षसियाँ दीखने लगीं ॥ २० ॥ बहुत-से पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथियों-पर चढ़े हुए सैनिकोंके साथ आततायी यक्ष-राक्षसोंका 'मारो-मारो, काटो-काटो' ऐसा अत्यन्त क्रूर और हिंसामय कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ २१ ॥

इस प्रकार प्रकट हुए उस आसुरी माया-जालका नाश करनेके लिये यज्ञमूर्ति भगवान् वराहने अपना प्रिय सुदर्शनचक्र छोड़ा ॥ २२ ॥ उस समय अपने पतिका कथन स्मरण हो आनेसे दितिका हृदय सहसा काँप उठा और उसके स्तनोंसे रक्त बहने लगा ॥ २३ ॥ अपना माया-जाल नष्ट हो जानेपर वह दैत्य फिर भगवान्के पास आया। उसने उन्हें क्रोधसे दबाकर चूर-चूर करनेकी इच्छासे भुजाओंमें भर लिया, किंतु देखा कि वे तो बाहर ही खड़े हैं ॥ २४ ॥ अब वह भगवान्को वज्रके समान कठोर मुक्कोंसे मारने लगा। तब इन्द्रने जैसे वृत्रासुरपर प्रहार किया था, उसी प्रकार भगवान्ने उसकी कनपटीपर एक तमाचा मारा ॥ २५ ॥

विश्वविजयी भगवान्ने यद्यपि बड़ी उपेक्षासे तमाचा मारा था, तो भी उसकी चोटसे हिरण्याक्षका शरीर घूमने लगा, उसके नेत्र बाहर निकल आये तथा हाथ-पैर और बाल छिन्न-भिन्न हो गये और वह निष्पाण होकर आँधीसे उखड़े हुए विशाल वृक्षके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २६ ॥ हिरण्याक्षका तेज अब भी मलिन नहीं हुआ था। उस कराल दाढ़ीवाले दैत्यको दाँतोंसे होठ चबाते पृथ्वीपर पड़ा देख वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए ब्रह्मादि देवता उसकी प्रशंसा करने लगे कि 'अहो ! ऐसी अलभ्य मृत्यु किसको मिल सकती है ॥ २७ ॥

यं योगिनो योगसमाधिना रहो
ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया ।
तस्यैष दैत्यऋषभः पदाहतो
मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह ॥ २८

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम् ।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ॥ २९

देवा ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्त्रवे
स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये ।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-
स्त्वत्यादभवत्या वयमीश निर्वृताः ॥ ३०

मैत्रेय^१ उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं
स सादयित्वा हरिरादिसूकरः ।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं
समीडितः^२ पुष्करविष्टरादिभिः ॥ ३१

मया यथानूक्तमवादि ते हरेः
कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम् ।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो
महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः ॥ ३२

सूत उवाच

इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम् ।
क्षत्ताऽऽनन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज ॥ ३३

अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम् ।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्गस्य किं पुनः ॥ ३४

यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम् ।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद् द्रुतम् ॥ ३५

अपनी मिथ्या उपाधिसे छूटनेके लिये जिनका योगिजन समाधियोगके द्वारा एकान्तमें ध्यान करते हैं, उन्हींके चरण-प्रहारसे उनका मुख देखते-देखते इस दैत्यराजने अपना शरीर त्यागा ॥ २८ ॥ ये हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु भगवान्‌के ही पार्षद हैं। इन्हें शापवश यह अधोगति प्राप्त हुई है। अब कुछ जन्मोंमें ये फिर अपने स्थानपर पहुँच जायेंगे ॥ २९ ॥

देवतालोग कहने लगे—प्रभो! आपको बारम्बार नमस्कार है। आप सम्पूर्ण यज्ञोंका विस्तार करनेवाले हैं तथा संसारकी स्थितिके लिये शुद्धसत्त्वमय मङ्गलविग्रह प्रकट करते हैं। बड़े आनन्दकी बात है कि संसारको कष्ट देनेवाला यह दुष्ट दैत्य मारा गया। अब आपके चरणोंकी भक्तिके प्रभावसे हमें भी सुख-शान्ति मिल गयी ॥ ३० ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! इस प्रकार महापराक्रमी हिरण्याक्षका वध करके भगवान् आदिवराह अपने अखण्ड आनन्दमय धामको पधार गये। उस समय ब्रह्मादि देवता उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३१ ॥ भगवान् अवतार लेकर जैसी लीलाएँ करते हैं और जिस प्रकार उन्होंने भीषण संग्राममें खिलौनेकी भाँति महापराक्रमी हिरण्याक्षका वध कर डाला, मित्र विदुरजी! वह सब चरित जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना था, तुम्हें सुना दिया ॥ ३२ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! मैत्रेयजीके मुखसे भगवान्‌की यह कथा सुनकर परम भागवत विदुरजीको बड़ा आनन्द हुआ ॥ ३३ ॥ जब अन्य पवित्रकीर्ति और परम यशस्वी महापुरुषोंका चरित्र सुननेसे ही बड़ा आनन्द होता है, तब श्रीवत्सधारी भगवान्‌की ललित-ललाम लीलाओंकी तो बात ही क्या है ॥ ३४ ॥ जिस समय ग्राहके पकड़नेपर गजराज प्रभुके चरणोंका ध्यान करने लगे और उनकी हथिनियाँ दुःखसे चिग्घाड़ने लगीं, उस समय जिन्होंने उन्हें तत्काल दुःखसे छुड़ाया और जो सब ओरसे निराश

तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥ ३६

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं
विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा
विमुच्यते^१ ब्रह्मवधादपि द्विजाः^२ ॥ ३७

एतन्महापुण्यमलं^३ पवित्रं
धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं
नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम् ॥ ३८

होकर अपनी शरणमें आये हुए सरलहृदय भक्तोंसे सहजमें ही प्रसन्न हो जाते हैं, किंतु दुष्ट पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुराराध्य हैं—उनपर जल्दी प्रसन्न नहीं होते, उन प्रभुके उपकारोंको जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उनका सेवन न करेगा ? ॥ ३५-३६ ॥ शौनकादि ऋषियो ! पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये वराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिकी इस हिरण्याक्ष-वध नामक परम अद्भुत लीलाको जो पुरुष सुनता, गाता अथवा अनुमोदन करता है, वह ब्रह्महत्या-जैसे घोर पापसे भी सहजमें ही छूट जाता है ॥ ३७ ॥ यह चरित्र अत्यन्त पुण्यप्रद परम पवित्र, धन और यशकी प्राप्ति करानेवाला आयुवर्द्धक और कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला तथा युद्धमें प्राण और इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ानेवाला है । जो लोग इसे सुनते हैं, उन्हें अन्तमें श्रीभगवान्का आश्रय प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षवधो^४
नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥



अथ विंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी रची हुई अनेक प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

शौनक उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य^५ सौते स्वायम्भुवो मनुः ।
कान्यन्वतिष्ठद्द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम् ॥ १

क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत् ।
यस्तत्याजाग्रजं कृष्णो सापत्यमघवानिति ॥ २

द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः ।
सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः ॥ ३

किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया ।
उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ॥ ४

तयोः संवदतोः सूत प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः ।
आपो गाङ्गा इवाघघ्नीहरीः पादाम्बुजाश्रयाः ॥ ५

ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः ।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन् ॥ ६

शौनकजी कहते हैं—सूतजी ! पृथ्वीरूप आधार पाकर स्वायम्भुव मनुने आगे होनेवाली सन्ततिको उत्पन्न करनेके लिये किन-किन उपायोंका अवलम्बन किया ? ॥ १ ॥ विदुरजी बड़े ही भगवद्भक्त और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य सुहृद् थे । इसीलिये उन्होंने अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रको, उनके पुत्र दुर्योधनके सहित, भगवान् श्रीकृष्णका अनादर करनेके कारण अपराधी समझकर त्याग दिया था ॥ २ ॥ वे महर्षि द्वैपायनके पुत्र थे और महिमामें उनसे किसी प्रकार कम नहीं थे तथा सब प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके आश्रित और कृष्णभक्तोंके अनुगामी थे ॥ ३ ॥ तीर्थसेवनसे उनका अन्तःकरण और भी शुद्ध हो गया था । उन्होंने कुशावर्तक्षेत्र (हरिद्वार) में बैठे हुए तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेयजीके पास जाकर और क्या पूछा ? ॥ ४ ॥ सूतजी ! उन दोनोंमें वार्तालाप होनेपर श्रीहरिके चरणोंसे सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी पवित्र कथाएँ हुई होंगी, जो उन्हीं चरणोंसे निकले हुए गङ्गाजलके समान सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाली होंगी ॥ ५ ॥ सूतजी ! आपका मङ्गल हो, आप हमें भगवान्की वे पवित्र कथाएँ सुनाइये । प्रभुके उदार चरित्र तो कीर्तन करनेयोग्य होते हैं । भला, ऐसा कौन रसिक होगा, जो

एवमुग्रश्रवाः पृष्ठ ऋषिभिर्नैमिषायनैः ।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति ॥ ७

सूत उवाच

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया
निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं
सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः^१ ॥ ८

विदुर उवाच

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् ।
किमारभत मे ब्रह्मन् प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ॥ ९

ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः ।
ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन् ॥ १०

सद्वितीयाः किमसृजन् स्वतन्त्रा उत कर्मसु ।
आहोस्वित्संहताः सर्व इदं स्म^२ समकल्पयन् ॥ ११

मैत्रेय उवाच

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च ।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद् गुणत्रयात् ॥ १२

रजःप्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात् ।
जातः ससर्ज भूतादिवियदादीनि^३ पञ्चशः ॥ १३

तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम् ।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ॥ १४

सोऽशयिष्ठाब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः ।
साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः ॥ १५

तस्य नाभेरभूत्पद्मं सहस्राकोरुदीधिति ।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत्स्वराद् ॥ १६

श्रीहरिके लीलामृतका पान करते-करते तृप्त हो जाय ॥ ६ ॥

नैमिषारण्यवासी मुनियोंके इस प्रकार पूछनेपर उग्रश्रवा सूतजीने भगवान्में चित्त लगाकर उनसे कहा— 'सुनिये' ॥ ७ ॥

सूतजीने कहा—मुनिगण ! अपनी मायासे वराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिकी रसातलसे पृथ्वीको निकालने और खेलमें ही तिरस्कारपूर्वक हिरण्याक्षको मार डालनेकी लीला सुनकर विदुरजीको बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने मुनिवर मैत्रेयजीसे कहा ॥ ८ ॥

विदुरजीने कहा—ब्रह्मन् ! आप परोक्ष विषयोंको भी जाननेवाले हैं; अतः यह बतलाइये कि प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न करके फिर सृष्टिको बढ़ानेके लिये क्या किया ॥ ९ ॥ मरीचि आदि मुनीश्वरोंने और स्वायम्भुव मनुने भी ब्रह्माजीकी आज्ञासे किस प्रकार प्रजाकी वृद्धि की ? ॥ १० ॥ क्या उन्होंने इस जगत्को पतियोंके सहयोगसे उत्पन्न किया या अपने-अपने कार्यमें स्वतन्त्र रहकर अथवा सबने एक साथ मिलकर इस जगत्की रचना की ? ॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! जिसकी गतिको जानना अत्यन्त कठिन है—उस जीवोंके प्रारब्ध, प्रकृतिके नियन्ता पुरुष और काल—इन तीन हेतुओंसे तथा भगवान्की सन्निधिसे त्रिगुणमय प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर उससे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥ दैवकी प्रेरणासे रजःप्रधान महत्तत्त्वसे वैकारिक (सात्त्विक), राजस और तामस—तीन प्रकारका अहङ्कार उत्पन्न हुआ । उसने आकाशादि पाँच-पाँच तत्त्वोंके अनेक वर्ग * प्रकट किये ॥ १३ ॥ वे सब अलग-अलग रहकर भूतोंके कार्यरूप ब्रह्माण्डकी रचना नहीं कर सकते थे; इसलिये उन्होंने भगवान्की शक्तिसे परस्पर संगठित होकर एक सुवर्णवर्ण अण्डकी रचना की ॥ १४ ॥ वह अण्ड चेतनाशून्य अवस्थामें एक हजार वर्षोंसे भी अधिक समयतक कारणाब्धिके जलमें पड़ा रहा । फिर उसमें श्रीभगवान्ने प्रवेश किया ॥ १५ ॥ उसमें अधिष्ठित होनेपर उनकी नाभिसे सहस्र सूर्योंके समान अत्यन्त देदीप्यमान एक कमल प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण जीव-समुदायका आश्रय था । उसीसे स्वयं ब्रह्माजीका भी आविर्भाव हुआ है ॥ १६ ॥

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये ।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ॥ १७

ससर्जच्छाययाविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः ।
तामिस्रमन्थतामिस्रं तमो मोहो^१ महातमः ॥ १८

विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम् ।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृदसमुद्रवाम् ॥ १९

क्षुत्तृद्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः ।
मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः^२ क्षुत्तृडर्दिताः ॥ २०

देवस्तानाह संविग्रो मा मां जक्षत रक्षत ।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ ॥ २१

देवताः प्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत् ।
ते^३ अहर्षुर्दिवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः ॥ २२

देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान् ।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे ॥ २३

ततो हसन् स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः ।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ॥ २४

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् ।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम् ॥ २५

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः ।
ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो ॥ २६

त्वमेकः^४ किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः ।
त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव ॥ २७

सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः ।
विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह ॥ २८

जब ब्रह्माण्डके गर्भरूप जलमें शयन करनेवाले श्रीनारायणदेवने ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें प्रवेश किया, तब वे पूर्वकल्पोंमें अपने ही द्वारा निश्चित की हुई नाम-रूपमयी व्यवस्थाके अनुसार लोकोंकी रचना करने लगे ॥ १७ ॥ सबसे पहले उन्होंने अपनी छायासे तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—यों पाँच प्रकारकी अविद्या उत्पन्न की ॥ १८ ॥ ब्रह्माजीको अपना वह तमोमय शरीर अच्छा नहीं लगा, अतः उन्होंने उसे त्याग दिया। तब, जिससे भूख-प्यासकी उत्पत्ति होती है—ऐसे रात्रिरूप उस शरीरको उसीसे उत्पन्न हुए यक्ष और राक्षसोंने ग्रहण कर लिया ॥ १९ ॥ उस समय भूख-प्याससे अभिभूत होकर वे ब्रह्माजीको खानेको दौड़ पड़े और कहने लगे—‘इसे खा जाओ, इसकी रक्षा मत करो’ क्योंकि वे भूख-प्याससे व्याकुल हो रहे थे ॥ २० ॥ ब्रह्माजीने घबराकर उनसे कहा—‘अरे यक्ष-राक्षसो ! तुम मेरी सन्तान हो; इसलिये मुझे भक्षण मत करो, मेरी रक्षा करो।’ (उनमेंसे जिन्होंने कहा ‘खा जाओ’, वे यक्ष हुए और जिन्होंने कहा ‘रक्षा मत करो’, वे राक्षस कहलाये) ॥ २१ ॥

फिर ब्रह्माजीने सात्त्विकी प्रभासे देदीप्यमान होकर मुख्य-मुख्य देवताओंकी रचना की। उन्होंने क्रीड़ा करते हुए, ब्रह्माजीके त्यागनेपर, उनका वह दिनरूप प्रकाशमय शरीर ग्रहण कर लिया ॥ २२ ॥ इसके पश्चात् ब्रह्माजीने अपने जघनदेशसे कामासक्त असुरोंको उत्पन्न किया। वे अत्यन्त कामलोलुप होनेके कारण उत्पन्न होते ही मैथुनके लिये ब्रह्माजीकी ओर चले ॥ २३ ॥ यह देखकर पहले तो वे हँसे; किन्तु फिर उन निर्लज्ज असुरोंको अपने पीछे लगा देख भयभीत और क्रोधित होकर बड़े जोरसे भागे ॥ २४ ॥ तब उन्होंने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनकी भावनाके अनुसार दर्शन देनेवाले, शरणागतवत्सल वरदायक श्रीहरिके पास जाकर कहा— ॥ २५ ॥ ‘परमात्मन् ! मेरी रक्षा कीजिये; मैंने तो आपकी ही आज्ञासे प्रजा उत्पन्न की थी, किन्तु यह तो पापमें प्रवृत्त होकर मुझको ही तंग करने चली है ॥ २६ ॥ नाथ ! एकमात्र आप ही दुःखी जीवोंका दुःख दूर करनेवाले हैं और जो आपकी चरण-शरणमें नहीं आते, उन्हें दुःख देनेवाले भी एकमात्र आप ही हैं ॥ २७ ॥

प्रभु तो प्रत्यक्षवत् सबके हृदयकी जाननेवाले हैं। उन्होंने ब्रह्माजीकी आतुरता देखकर कहा—‘तुम अपने इस कामकलुषित शरीरको त्याग दो।’ भगवान्‌के यों कहते ही उन्होंने वह शरीर भी छोड़ दिया ॥ २८ ॥

तां कृणश्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम् ।
काञ्चीकलापविलसदुकूलच्छत्रोदधसम् ॥ २९

अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्गनिरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम् ॥ ३०

गूहन्तीं व्रीडयाऽऽत्मानं नीलालकवरूथिनीम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे सम्पुमुहुः स्त्रियम् ॥ ३१

अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः ।
मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति ॥ ३२

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम् ।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन् कुमेधसः ॥ ३३

कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि ।
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगात्रो विबाधसे ॥ ३४

या वा काचित्त्वमबले^१ दिष्ट्या सन्दर्शनं तव ।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः ॥ ३५

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं
घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम् ।

मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं^२
शान्तेव दृष्टिरमला^३ सुशिखासमूहः ॥ ३६

इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम् ।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥ ३७

प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना ।
कान्त्या ससर्ज भगवान् गन्धर्वाप्सरसां गणान् ॥ ३८

विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम् ।
त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः ॥ ३९

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा^४ ।
दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद्दृशौ ॥ ४०

(ब्रह्माजीका छोड़ा हुआ वह शरीर एक सुन्दरी स्त्री—संध्यादेवीके रूपमें परिणत हो गया।) उसके चरणकमलोंके पायजेव झड़ूत हो रहे थे। उसकी आँखें मतवाली हो रही थीं और कमर करधनीकी लड़ोंसे सुशोभित सजीली साड़ीसे ढकी हुई थी ॥ २९ ॥ उसके उभरे हुए स्तन इस प्रकार एक-दूसरेसे सटे हुए थे कि उनके बीचमें कोई अन्तर ही नहीं रह गया था। उसकी नासिका और दन्तावली बड़ी ही सुघड़ थी तथा वह मधुर-मधुर मुसकराती हुई अमुरोंकी ओर हाव-भावपूर्ण दृष्टिसे देख रही थी ॥ ३० ॥ वह नीली-नीली अलकावलीसे सुशोभित सुकुमारी मानो लज्जाके मारे अपने अञ्जलमें ही सिमिटी जाती थी। विदुरजी! उस सुन्दरीको देखकर सब-के-सब असुर मोहित हो गये ॥ ३१ ॥ 'अहो! इसका कैसा विचित्र रूप, कैसा अलौकिक धैर्य और कैसी नयी अवस्था है। देखो, हम कामपीड़ितोंके बीचमें यह कैसी बेपरवाह-सी विचर रही है' ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उन कुबुद्धि दैत्योंने स्त्रीरूपिणी संध्याके विषयमें तरह-तरहके तर्क-वितर्क करके फिर उसका बहुत आदर करते हुए प्रेमपूर्वक पूछा— ॥ ३३ ॥ 'सुन्दरि! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो? भामिनि! यहाँ तुम्हारे आनेका क्या प्रयोजन है? तुम अपने अनूप रूपका यह बेमोल सौदा दिखाकर हम अभागोंको क्यों तरसा रही हो ॥ ३४ ॥ अबले! तुम कोई भी क्यों न हो, हमें तुम्हारा दर्शन हुआ—यह बड़े सौभाग्यकी बात है। तुम अपनी गेंद उछाल-उछालकर तो हम दर्शकोंके मनको मथे डालती हो ॥ ३५ ॥ सुन्दरि! जब तुम उछलती हुई गेंदपर अपनी हथेलीकी थपकी मारती हो, तब तुम्हारा चरण-कमल एक जगह नहीं टहरता; तुम्हारा कटिप्रदेश स्थूल स्तनोंके भारसे थक-सा जाता है और तुम्हारी निर्मल दृष्टिसे भी थकावट झलकने लगती है। अहो! तुम्हारा केशपाश कैसा सुन्दर है' ॥ ३६ ॥ इस प्रकार स्त्रीरूपसे प्रकट हुई उस सायङ्कालीन सन्ध्याने उन्हें अत्यन्त कामासक्त कर दिया और उन मूढ़ोंने उसे कोई रमणीरत्न समझकर ग्रहण कर लिया ॥ ३७ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने गम्भीर भावसे हँसकर अपनी कान्तिमयी मूर्तिसे, जो अपने सौन्दर्यका मानो आप ही आस्वादन करती थी, गन्धर्व और अप्सराओंको उत्पन्न किया ॥ ३८ ॥ उन्होंने ज्योत्स्ना (चन्द्रिका)-रूप अपने उस कान्तिमय प्रिय शरीरको त्याग दिया। उसीको विश्वावसु आदि गन्धर्वोंने प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ॥ ३९ ॥

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माने अपनी तन्द्रासे भूत-पिशाच उत्पन्न किये। उन्हें दिगम्बर (वस्त्रहीन) और बाल बिखरे देख

जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणारब्धां तनुं प्रभोः^१ ।
 निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते ।
 येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते ॥ ४१ ॥
 ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः ।
 साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणासृजत्प्रभुः ॥ ४२ ॥
 त आत्मसर्गं तं कायं पितरः प्रतिपेदिरे ।
 साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते ॥ ४३ ॥
 सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत् ।
 तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानारब्धमद्भुतम् ॥ ४४ ॥
 स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येनासृजत्प्रभुः ।
 मानयन्नात्मनाऽऽत्मानमात्माभासं विलोकयन् ॥ ४५ ॥
 ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना ।
 मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः ॥ ४६ ॥
 देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया ।
 सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः ॥ ४७ ॥
 येऽहीयन्तामुतः^२ केशा अहयस्तेऽङ्ग^३ जज्ञिरे ।
 सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुक्स्थराः ॥ ४८ ॥
 स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः ।
 तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान् ॥ ४९ ॥
 तेभ्यः सोऽत्यसृजत्स्वीयं^४ पुरं पुरुषमात्मवान् ।
 तान् दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥ ५० ॥
 अहो एतज्जगत्सृष्टः सुकृतं बत ते कृतम् ।
 प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन् साकमन्नमदामहे ॥ ५१ ॥
 तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना^५ ।
 ऋषीन् ऋषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः ॥ ५२ ॥
 तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य^६ देहस्यांशमदादजः ।
 यत्तत्समाधियोगोर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत् ॥ ५३ ॥

उन्होंने आँखें मूंद लीं ॥ ४० ॥ ब्रह्माजीके त्यागे हुए उस जैभाईरूप शरीरको भूत-पिशाचोंने ग्रहण किया । इसीको निद्रा भी कहते हैं, जिससे जीवोंकी इन्द्रियोंमें शिथिलता आती देखी जाती है । यदि कोई मनुष्य जूटे मुँह सो जाता है तो उसपर भूत-पिशाचादि आक्रमण करते हैं; उसीको उन्माद कहते हैं ॥ ४१ ॥

फिर भगवान् ब्रह्माने भावना की कि मैं तेजोमय हूँ और अपने अदृश्य रूपसे साध्यगण एवं पितृगणको उत्पन्न किया ॥ ४२ ॥ पितरों-ने अपनी उल्लासिके स्थान उस अदृश्य शरीरको ग्रहण कर लिया । इसी-को लक्ष्यमें रखकर पिण्डितजन श्राद्धादिके द्वारा पितर और साध्यगणोंको क्रमशः कव्य (पिण्ड) और हव्य अर्पण करते हैं ॥ ४३ ॥

अपनी तिरोधानशक्तिसे ब्रह्माजीने सिद्ध और विद्याधरोंकी सृष्टि की और उन्हें अपना वह अन्तर्धान नामक अद्भुत शरीर दिया ॥ ४४ ॥ एक बार ब्रह्माजीने अपना प्रतिबिम्ब देखा । तब अपनेको बहुत सुन्दर मानकर उस प्रतिबिम्बसे किन्नर और किम्पुरुष उत्पन्न किये ॥ ४५ ॥ उन्होंने ब्रह्माजीके त्याग देनेपर उनका वह प्रतिबिम्ब-शरीर ग्रहण किया । इसीलिये ये सब उषःकालमें अपनी पत्नियोंके साथ मिलकर ब्रह्माजीके गुण-कर्मादिका गान किया करते हैं ॥ ४६ ॥

एक बार ब्रह्माजी सृष्टिकी वृद्धि न होनेके कारण बहुत चिन्तित होकर हाथ-पैर आदि अवयवोंको फैलाकर लेट गये और फिर क्रोधवश उस भोगमय शरीरको त्याग दिया ॥ ४७ ॥ उससे जो बाल झड़कर गिरे, वे अहि हुए तथा उसके हाथ-पैर सिकोड़कर चलनेसे क्रूरस्वभाव सर्प और नाग हुए, जिनका शरीर फणरूपसे कंधेके पास बहुत फैला होता है ॥ ४८ ॥

एक बार ब्रह्माजीने अपनेको कृतकृत्य-सा अनुभव किया । उस समय अन्तमें उन्होंने अपने मनसे मनुओंकी सृष्टि की । ये सब प्रजाकी वृद्धि करनेवाले हैं ॥ ४९ ॥ मनस्वी ब्रह्माजीने उनके लिये अपना पुरुषाकार शरीर त्याग दिया । मनुओंको देखकर उनसे पहले उत्पन्न हुए देवता-गन्धर्वादि ब्रह्माजीकी स्तुति करने लगे ॥ ५० ॥ वे बोले, 'विश्वकर्ता ब्रह्माजी ! आपकी यह (मनुओंकी) सृष्टि बड़ी ही सुन्दर है । इसमें अग्निहोत्र आदि सभी कर्म प्रतिष्ठित हैं । इसकी सहायतासे हम भी अपना अन्न (हविर्भाग) ग्रहण कर सकेंगे' ॥ ५१ ॥

फिर आदिऋषि ब्रह्माजीने इन्द्रियसंयमपूर्वक तप, विद्या, योग और समाधिये सम्पन्न हो अपनी प्रिय सन्तान ऋषिगणकी रचना की और उनमेंसे प्रत्येकको अपने समाधि, योग, ऐश्वर्य, तप, विद्या और वैराग्यमय शरीरका अंश दिया ॥ ५२-५३ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥



अथैकविंशोऽध्यायः

कर्दमजीकी तपस्या और भगवान्‌का वरदान

विदुर उवाच

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः ।
कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥ १

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै ।
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवर्ती महीम् ॥ २

तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्देवहूतीति विश्रुता ।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ ॥ ३

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः ।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद ॥ ४

रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन्दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः ।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्या च मानवीम् ॥ ५

मैत्रेय उवाच

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥ ६

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः ।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ॥ ७

तावत्प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥ ८

स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम् ।
स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजोऽम्बरम् ॥ ९

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम् ॥ १०

विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः ।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम् ॥ ११

विदुरजीने पूछा—भगवन् ! स्वायम्भुव मनुका वंश बड़ा आदरणीय माना गया है। उसमें मैथुनधर्मके द्वारा प्रजाकी वृद्धि हुई थी। अब आप मुझे उसीकी कथा सुनाइये ॥ १ ॥ ब्रह्मन् ! आपने कहा था कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपादने सातों द्वीपोंवाली पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया था तथा उनकी पुत्री, जो देवहूति नामसे विख्यात थी, कर्दमप्रजापतिको ब्याही गयी थी ॥ २-३ ॥ देवहूति योगके लक्षण यमादिसे सम्पन्न थी, उससे महायोगी कर्दमजीने कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं ? वह सब प्रसङ्ग आप मुझे सुनाइये, मुझे उसके सुननेकी बड़ी इच्छा है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार भगवान् रुचि और ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिने भी मनुजीकी कन्याओंका पाणिग्रहण करके उनसे किस प्रकार क्या-क्या सन्तान उत्पन्न की, यह सब चरित भी मुझे सुनाइये ॥ ५ ॥

मैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! जब ब्रह्माजीने भगवान् कर्दमको आज्ञा दी कि तुम संतानकी उत्पत्ति करो तो उन्होंने दस हजार वर्षोंतक सरस्वती नदीके तीरपर तपस्या की ॥ ६ ॥ वे एकाग्र चित्तसे प्रेमपूर्वक पूजनोपचारद्वारा शरणागतवरदायक श्रीहरिकी आराधना करने लगे ॥ ७ ॥ तब सत्ययुगके आरम्भमें कमलनयन भगवान् श्रीहरिने उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उन्हें अपने शब्दब्रह्ममय स्वरूपसे मूर्तिमान् होकर दर्शन दिये ॥ ८ ॥

भगवान्‌की वह भव्य मूर्ति सूर्यके समान तेजोमयी थी। वे गलेमें श्वेत कमल और कुमुदके फूलोंकी माला धारण किये हुए थे, मुखकमल नीली और चिकनी अलकावलीसे सुशोभित था। वे निर्मल वस्त्र धारण किये हुए थे ॥ ९ ॥ सिरपर झिलमिलता हुआ सुवर्णमय मुकुट, कानोंमें जगमगाते हुए कुण्डल और कर-कमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा आदि आयुध विराजमान थे। उनके एक हाथमें क्रीडाके लिये श्वेत कमल सुशोभित था। प्रभुकी मधुर मुसकानभरी चितवन चित्तको चुराये लेती थी ॥ १० ॥ उनके चरणकमल गरुड़जीके कंधोंपर विराजमान थे तथा वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजी और कण्ठमें कौस्तुभमणि सुशोभित थी। प्रभुकी इस आकाशस्थित मनोहर मूर्तिकी दर्शन करके

जातहर्षोऽपतन्मूर्धा क्षितौ लब्धमनोरथः ।
गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः ॥ १२

ऋषिरुवाच

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वरशेः^१
सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-
राशासते योगिनो रूढयोगाः ॥ १३

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्
पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः ॥ १४

तथा स चाहं परिवोदुकामः
समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥ १५

प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या
लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः ।
अहं च लोकानुगतो वहामि
बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ॥ १६

लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥ १७

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां^२
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्मेयनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत्^३ ॥ १८

एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षया-
द्वितीययाऽऽत्मत्रधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन् स्वशक्तिभिः ॥ १९

कर्मजीको बड़ा हर्ष हुआ, मानो उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। उन्होंने सानन्द हृदयसे पृथ्वीपर सिर टेककर भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और फिर प्रेमप्रवण चित्तसे हाथ जोड़कर सुमधुर वाणीसे वे उनकी स्तुति करने लगे ॥ ११-१२ ॥

कर्मजीने कहा—स्तुति करनेयोग्य परमेश्वर ! आप सम्पूर्ण सत्त्वगुणके आधार हैं। योगिजन उत्तरोत्तर शुभ योनियोंमें जन्म लेकर अन्तमें योगस्थ होनेपर आपके दर्शनोंकी इच्छा करते हैं; आज आपका वही दर्शन पाकर हमें नेत्रोंका फल मिल गया ॥ १३ ॥ आपके चरणकमल भवसागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। जिनकी बुद्धि आपकी मायासे मारी गयी है, वे ही उन तुच्छ क्षणिक विषय-सुखोंके लिये, जो नरकमें भी मिल सकते हैं, उन चरणोंका आश्रय लेते हैं; किन्तु स्वामिन् ! आप तो उन्हें वे विषय-भोग भी दे देते हैं ॥ १४ ॥ प्रभो ! आप कल्पवृक्ष हैं। आपके चरण समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं। मेरा हृदय काम-कलुषित है। मैं भी अपने अनुरूप स्वभाववाली और गृहस्थधर्मके पालनमें सहायक शीलवती कन्यासे विवाह करनेके लिये आपके चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ ॥ १५ ॥ सर्वेश्वर ! आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हैं। नाना प्रकारकी कामनाओंमें फँसा हुआ यह लोक आपकी वेद-वाणीरूप डोरीमें बँधा है। धर्ममूर्ते ! उसीका अनुगमन करता हुआ मैं भी कालरूप आपको आज्ञापालनरूप पूजोपहारादि समर्पित करता हूँ ॥ १६ ॥

प्रभो ! आपके भक्त विषयासक्त लोगों और उन्हींके मार्गका अनुसरण करनेवाले मुझ-जैसे कर्मजड पशुओंको कुछ भी न गिनकर आपके चरणोंकी छत्रच्छायाका ही आश्रय लेते हैं तथा परस्पर आपके गुणगानरूप मादक सुधाका ही पान करके अपने क्षुधा-पिपासादि देहधर्मोंको शान्त करते रहते हैं ॥ १७ ॥ प्रभो ! यह कालचक्र बड़ा प्रबल है। साक्षात् ब्रह्म ही इसके घूमनेकी धुरी है, अधिक माससहित तेरह महीने अरे हैं, तीन सौ साठ दिन जोड़ हैं, छः ऋतुएँ नेमि (हाल) हैं, अनन्त क्षण-पल आदि इसमें पत्राकार धाराएँ हैं तथा तीन चातुर्मास्य इसके आधारभूत नाभि हैं। यह अत्यन्त वेगवान् संवत्सररूप कालचक्र चराचर जगत्की आयुका छेदन करता हुआ घूमता रहता है, किन्तु आपके भक्तोंकी आयुका हास नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ भगवन् ! जिस प्रकार मकड़ी स्वयं ही जालेको फैलाती, उसकी रक्षा करती और अन्तमें उसे निगल जाती है—उसी प्रकार आप अकेले ही जगत्की रचना करनेके लिये अपनेसे अभिन्न अपनी योगमायाको स्वीकारकर उससे अभिव्यक्त

नैतद्वताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया
लसत्तुलस्या तनुवा^१ विलक्षितः ॥ २०

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥ २१

ऋषिरुवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-
स्तमाबभाषे वचसामृतेन ।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः
प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भूः ॥ २२

श्रीभगवानुवाच

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत् ।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥ २३

न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥ २४

प्रजापतिसुतः सम्राण्मनुर्विरख्यातमङ्गलः ।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥ २५

स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया ।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः ॥ २६

आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम् ।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ॥ २७

समाहितं^२ ते हृदयं यत्रेमान् परिवत्सरान् ।
सा त्वां ब्रह्मन्पवधूः काममाशु भजिष्यति ॥ २८

या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति ।
वीर्यं त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसाऽऽत्मनः ॥ २९

हुई अपनी सत्त्वादि शक्तियोंद्वारा स्वयं ही इस जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ १९ ॥ प्रभो ! इस समय आपने हमें अपनी तुलसीमालामण्डित, मायासे परिच्छिन्न-सी दिखायी देनेवाली सगुणमूर्तिसे दर्शन दिया है। आप हम भक्तोंको जो शब्दादि विषय-सुख प्रदान करते हैं, वे मायिक होनेके कारण यद्यपि आपको पसंद नहीं हैं, तथापि परिणाममें हमारा शुभ करनेके लिये वे हमें प्राप्त हों— ॥ २० ॥

नाथ ! आप स्वरूपसे निष्क्रिय होनेपर भी मायाके द्वारा सारे संसारका व्यवहार चलानेवाले हैं तथा थोड़ी-सी उपासना करनेवालेपर भी समस्त अभिलषित वस्तुओंकी वर्षा करते रहते हैं। आपके चरणकमल वन्दनीय हैं, मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्की भौंहें प्रणय-मुसकानभरी चितवनसे चञ्चल हो रही थीं, वे गरुड़जीके कंधेपर विराजमान थे। जब कर्दमजीने इस प्रकार निष्कपटभावसे उनकी स्तुति की तब वे उनसे अमृतमयी वाणीसे कहने लगे ॥ २२ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—जिसके लिये तुमने आत्मसंयमादिके द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे हृदयके उस भावको जानकर मैंने पहलेसे ही उसकी व्यवस्था कर दी है ॥ २३ ॥ प्रजापते ! मेरी आराधना तो कभी भी निष्फल नहीं होती; फिर जिनका चित्त निरन्तर एकान्तरूपसे मुझमें ही लगा रहता है, उन तुम-जैसे महात्माओंके द्वारा की हुई उपासनाका तो और भी अधिक फल होता है ॥ २४ ॥ प्रसिद्ध यशस्वी सम्राट् स्वायम्भुव मनु ब्रह्मावर्तमें रहकर सात समुद्रवाली सारी पृथ्वीका शासन करते हैं ॥ २५ ॥ विप्रवर ! वे परम धर्मज्ञ महाराज महारानी शतरूपाके साथ तुमसे मिलनेके लिये परसों यहाँ आयेंगे ॥ २६ ॥ उनकी एक रूप-यौवन, शील और गुणोंसे सम्पन्न श्यामलोचना कन्या इस समय विवाहके योग्य है। प्रजापते ! तुम सर्वथा उसके योग्य हो, इसलिये वे तुम्हींको वह कन्या अर्पण करेंगे ॥ २७ ॥ ब्रह्मन् ! गत अनेकों वर्षोंसे तुम्हारा चित्त जैसी भार्याके लिये समाहित रहा है, अब शीघ्र ही वह राजकन्या तुम्हारी वैसी ही पत्नी होकर यथेष्ट सेवा करेगी ॥ २८ ॥ वह तुम्हारा वीर्य अपने गर्भमें धारणकर उससे नौ कन्याएँ उत्पन्न करेगी और फिर तुम्हारी उन कन्याओंसे लोकरीतिके अनुसार मरीचि आदि ऋषिगण पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥ २९ ॥

त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः ।
मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे ॥ ३०

कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान् ।
मय्यात्मानं सह जगद् द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम् ॥ ३१

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने^१ ।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणोष्ये तत्त्वसंहिताम् ॥ ३२

मैत्रेय^२ उवाच

एवं तमनुभाष्याथ भगवान् प्रत्यगक्षजः ।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात् ॥ ३३

निरीक्षतस्तस्य यथावशेष-
सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः ।
आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षै-
रुद्यारितं स्तोममुदीर्णसाम ॥ ३४

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः ।
आस्ते स्म^३ बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन् ॥ ३५

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥ ३६

तस्मिन् सुधन्वन्नहनि^४ भगवान् यत्समादिशत् ।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ॥ ३७

यस्मिन् भगवतो नेत्रान्यपतन्नश्रुबिन्दवः^५ ।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥ ३८

तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम् ।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम् ॥ ३९

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः ।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम् ॥ ४०

तुम भी मेरी आज्ञाका अच्छी तरह पालन करनेसे शुद्धचित्त हो, फिर अपने सब कर्मोंका फल मुझे अर्पणकर मुझको ही प्राप्त होओगे ॥ ३० ॥ जीवोंपर दया करते हुए तुम आत्मज्ञान प्राप्त करोगे और फिर सबको अभयदान दे अपने सहित सम्पूर्ण जगत्को मुझमें और मुझको अपनेमें स्थित देखोगे ॥ ३१ ॥ महामुने ! मैं भी अपने अंश-कलारूपसे तुम्हारे वीर्यद्वारा तुम्हारी पत्नी देवहूतिके गर्भमें अवतीर्ण होकर सांख्यशास्त्रकी रचना करूंगा ॥ ३२ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! कर्दमऋषिसे इस प्रकार सम्भाषण करके, इन्द्रियोंके अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होनेवाले श्रीहरि सरस्वती नदीसे घिरे हुए बिन्दुसर-तीर्थसे (जहाँ कर्दमऋषि तप कर रहे थे) अपने लोकको चले गये ॥ ३३ ॥ भगवान्के सिद्धमार्ग (वैकुण्ठमार्ग) की सभी सिद्धेश्वर प्रशंसा करते हैं। वे कर्दमजीके देखते-देखते अपने लोकको सिधार गये। उस समय गरुड़जीके पक्षोंसे जो सामकी आधारभूता ऋचाएँ निकल रही थीं, उन्हें वे सुनते जाते थे ॥ ३४ ॥

विदुरजी ! श्रीहरिके चले जानेपर भगवान् कर्दम उनके बताये हुए समयकी प्रतीक्षा करते हुए बिन्दु-सरोवरपर ही ठहरे रहे ॥ ३५ ॥ वीरवर ! इधर मनुजी भी महारानी शतरूपाके साथ सुवर्णजटित रथपर सवार होकर तथा उसपर अपनी कन्याको भी बिठाकर पृथ्वीपर विचरते हुए, जो दिन भगवान्ने बताया था, उसी दिन शान्तिपरायण महर्षि कर्दमके उस आश्रमपर पहुँचे ॥ ३६-३७ ॥ सरस्वतीके जलसे भरा हुआ यह बिन्दुसरोवर वह स्थान है, जहाँ अपने शरणागत भक्त कर्दमके प्रति उत्पन्न हुई अत्यन्त करुणाके वशीभूत हुए भगवान्के नेत्रोंसे आँसुओंकी बूँदें गिरी थीं। यह तीर्थ बड़ा पवित्र है, इसका जल कल्याणमय और अमृतके समान मधुर है तथा महर्षिगण सदा इसका सेवन करते हैं ॥ ३८-३९ ॥ उस समय बिन्दुसरोवर पवित्र वृक्ष-लताओंसे घिरा हुआ था, जिनमें तरह-तरहकी बोली बोलनेवाले पवित्र मृग और पक्षी रहते थे, वह स्थान सभी ऋतुओंके फल और फूलोंसे सम्पन्न था और सुन्दर वनश्रेणी भी उसकी शोभा बढ़ाती थी ॥ ४० ॥

मत्तद्विजगणैर्घुष्टं^१ मत्तभ्रमरविभ्रमम् ।
 मत्तबर्हिर्नटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम्^२ ॥ ४१
 कदम्बचम्पकाशोककरञ्जबकुलासनैः^३ ।
 कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥ ४२
 कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
 सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम् ॥ ४३
 तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्वयकुञ्जरैः ।
 गोपुच्छैर्हरिभिर्मकैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥ ४४
 प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहात्मजः^४ ।
 ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन् हुतहुताशनम् ॥ ४५
 विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा^५ चिरम् ।
 नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात् ।
 तद्व्याहतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ॥ ४६
 प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम् ।
 उपसंसृत्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ॥ ४७
 अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः ।
 सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्यानुरूपया ॥ ४८
 गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः ।
 स्मरन् भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा ॥ ४९
 नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते ।
 वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ॥ ५०
 योऽर्केन्द्रग्रीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम् ।
 रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥ ५१
 न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम् ।
 विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान् ॥ ५२

वहाँ झुंड-के-झुंड मतवाले पक्षी चहक रहे थे, मतवाले भौरे
 मैडरा रहे थे, उन्मत्त मयूर अपने पिच्छ फैला-फैलाकर नटकी
 भाँति नृत्य कर रहे थे और मतवाले कोकिल कुहू-कुहू करके
 मानो एक-दूसरेको बुला रहे थे ॥ ४१ ॥ वह आश्रम
 कदम्ब, चम्पक, अशोक, करञ्ज, बकुल, असन, कुन्द,
 मन्दार, कुटज और नये-नये आमके वृक्षोंसे अलंकृत
 था ॥ ४२ ॥ वहाँ जलकाग, बत्तख आदि जलपर तैरनेवाले
 पक्षी हंस, कुरर, जलमुर्ग, सारस, चक्रवा और चकोर मधुर
 स्वरसे कलरव कर रहे थे ॥ ४३ ॥ हरिन, सूअर, स्याही,
 नीलगाय, हाथी, लंगूर, सिंह, वानर, नेवले और कस्तूरीमृग
 आदि पशुओंसे भी वह आश्रम घिरा हुआ था ॥ ४४ ॥

आदिराज महाराज मनुने उस उत्तम तीर्थमें कन्याके
 सहित पहुँचकर देखा कि मुनिवर कर्दम अग्निहोत्रसे निवृत्त
 होकर बैठे हुए हैं ॥ ४५ ॥ बहुत दिनोंतक उग्र तपस्या करनेके
 कारण वे शरीरसे बड़े तेजस्वी दीख पड़ते थे तथा भगवान्‌के
 स्नेहपूर्ण चितवनके दर्शन और उनके उच्चारण किये हुए
 कर्णामृतरूप सुमधुर वचनोंको सुननेसे, इतने दिनोंतक
 तपस्या करनेपर भी वे विशेष दुर्बल नहीं जान पड़ते
 थे ॥ ४६ ॥ उनका शरीर लम्बा था, नेत्र कमलदलके समान
 विशाल और मनोहर थे, सिरपर जटाएँ सुशोभित थीं और
 कमरमें चीर-वस्त्र थे । वे निकटसे देखनेपर बिना सानपर
 चढ़ी हुई महामूल्य मणिके समान मलिन जान पड़ते
 थे ॥ ४७ ॥ महाराज स्वायम्भुव मनुको अपनी कुटीमें आकर
 प्रणाम करते देख उन्होंने उन्हें आशीर्वादसे प्रसन्न किया और
 यथोचित आतिथ्यकी रीतिसे उनका स्वागत-सत्कार
 किया ॥ ४८ ॥

जब मनुजी उनकी पूजा ग्रहण कर स्वस्थ-चित्तसे
 आसनपर बैठ गये, तब मुनिवर कर्दमने भगवान्‌की आज्ञाका
 स्मरण कर उन्हें मधुर वाणीसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार
 कहा— ॥ ४९ ॥ 'देव ! आप भगवान् विष्णुकी
 पालनशक्तिरूप हैं, इसलिये आपका घूमना-फिरना निःसन्देह
 सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंके संहारके लिये ही होता
 है ॥ ५० ॥ आप साक्षात् विशुद्ध विष्णुस्वरूप हैं तथा
 भिन्न-भिन्न कार्यके लिये सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम,
 धर्म और वरुण आदि रूप धारण करते हैं; आपको नमस्कार
 है ॥ ५१ ॥ आप मणियोंसे जड़े हुए जयदायक रथपर सवार
 हो, अपने प्रचण्ड धनुषकी टङ्कार करते हुए उस रथकी

स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः ।
विकर्षन् बृहतीं^१ सेनां पर्यटस्यंशुमानिव ॥ ५३

तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः ।
भगवद्रचिता^२ राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः ॥ ५४

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः ।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति ॥ ५५

अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः ।
तद्वयं निर्व्वलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ॥ ५६

घरघराहटसे ही पापियोंको भयभीत कर देते हैं और अपनी सेनाके चरणोंसे रौंदे हुए भूमण्डलको कँपाते अपनी उस विशाल सेनाको साथ लेकर पृथ्वीपर सूर्यके समान विचरते हैं। यदि आप ऐसा न करें तो चोर-डाकू भगवान्की बनायी हुई वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाको तत्काल नष्ट कर दें तथा विषयलोलुप निरङ्कुश मानवोंद्वारा सर्वत्र अधर्म फैल जाय। यदि आप संसारकी ओरसे निश्चिन्त हो जायें तो यह लोक दुराचारियोंके पंजेमें पड़कर नष्ट हो जाय ॥ ५२—५५ ॥ तो भी वीरवर ! मैं आपसे पूछता हूँ कि इस समय यहाँ आपका आगमन किस प्रयोजनसे हुआ है; मेरे लिये जो आज्ञा होगी, उसे मैं निष्कपट भावसे सहर्ष स्वीकार करूँगा ॥ ५६ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे

एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥



अथ द्वाविंशोऽध्यायः

देवहूतिके साथ कर्दम प्रजापतिका विवाह

मैत्रेय उवाच

एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम् ।
सब्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह ॥ १

मनुरुवाच

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया ।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥ २

तत्राणायासृजद्यास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात् ।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म^३क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥ ३

अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः ।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥ ४

तव सन्दर्शनादेवच्छिन्ना मे सर्वसंशयाः ।
यत्स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः ॥ ५

दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम् ।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम् ॥ ६

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार जब कर्दमजीने मनुजीके सम्पूर्ण गुणों और कर्मोंकी श्रेष्ठताका वर्णन किया, तो उन्होंने उन निवृत्तिपरायण मुनिसे कुछ सकुचाकर कहा ॥ १ ॥

मनुजीने कहा—मुने ! वेदमूर्ति भगवान् ब्रह्माने अपने वेदमय विग्रहकी रक्षाके लिये तप, विद्या और योगसे सम्पन्न तथा विषयोंमें अनासक्त आप ब्राह्मणोंको अपने मुखसे प्रकट किया है और फिर उन सहस्र चरणोंवाले विराट् पुरुषने आपलोगोंकी रक्षाके लिये ही अपनी सहस्रों भुजाओंसे हम क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है। इस प्रकार ब्राह्मण उनके हृदय और क्षत्रिय शरीर कहलाते हैं ॥ २-३ ॥ अतः एक ही शरीरसे सम्बद्ध होनेके कारण अपनी-अपनी और एक-दूसरेकी रक्षा करनेवाले उन ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी वास्तवमें श्रीहरि ही रक्षा करते हैं, जो समस्त कार्यकारणरूप होकर भी वास्तवमें निर्विकार हैं ॥ ४ ॥ आपके दर्शनमात्रसे ही मेरे सारे सन्देह दूर हो गये, क्योंकि आपने मेरी प्रशंसाके मिससे स्वयं ही प्रजापालनकी इच्छावाले राजाके धर्मोंका बड़े प्रेमसे निरूपण किया है ॥ ५ ॥ आपका दर्शन अजितेन्द्रिय पुरुषोंको बहुत दुर्लभ है; मेरा बड़ा भाग्य है, जो मुझे आपका दर्शन हुआ और मैं आपके चरणोंकी मङ्गलमयी रज अपने सिरपर चढ़ा सका ॥ ६ ॥

दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् ।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः ॥ ७

स भवान्दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम ।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ॥ ८

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयः शीलगुणादिभिः ॥ ९

यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥ १०

तत्प्रतीच्छ द्विजाग्रयेमां श्रद्धयोपहतां मया ।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु ॥ ११

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते ।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ १२

य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते ।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः ॥ १३

अहं त्वाशृणवं विद्वन्^१ विवाहार्थं समुद्यतम् ।
अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्रप्तां^२ प्रतिगृहाण मे ॥ १४

ऋषिरुवाच

बाढमुद्वोदुकामोऽहमप्रप्ता च तवात्मजा ।
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः ॥ १५

कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः
पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः ।
क एव ते तनयां नाद्रियेत
स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥ १६

मेरे भाग्योदयसे ही आपने मुझे राजधर्मोंकी शिक्षा देकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है और मैंने भी शुभ प्रारब्धका उदय होनेसे ही आपकी पवित्र वाणी कान खोलकर सुनी है ॥ ७ ॥

मुने ! इस कन्याके स्नेहवश मेरा चित्त बहुत चिन्ताग्रस्त हो रहा है; अतः मुझ दीनकी यह प्रार्थना आप कृपापूर्वक सुनें ॥ ८ ॥ यह मेरी कन्या—जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहिन है—अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने योग्य पतिको पानेकी इच्छा रखती है ॥ ९ ॥ जबसे इसने नारदजीके मुखसे आपके शील, विद्या, रूप, आयु और गुणोंका वर्णन सुना है, तभीसे यह आपको अपना पति बनानेका निश्चय कर चुकी है ॥ १० ॥ द्विजवर ! मैं बड़ी श्रद्धासे आपको यह कन्या समर्पित करता हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिये । यह गृहस्थोचित कार्योक्ति लिये सब प्रकार आपके योग्य है ॥ ११ ॥ जो भोग स्वतः प्राप्त हो जाय, उसको अवहेलना करना विरक्त पुरुषको भी उचित नहीं है; फिर विषयासक्तकी तो बात ही क्या है ॥ १२ ॥ जो पुरुष स्वयं प्राप्त हुए भोगका निरादर कर फिर किसी कृपणके आगे हाथ पसारता है, उसका बहुत फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है और दूसरोंके तिरस्कारसे मानभङ्ग भी होता है ॥ १३ ॥ विद्वन् ! मैंने सुना है, आप विवाह करनेके लिये उद्यत हैं । आपका ब्रह्मचर्य एक सीमातक है, आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो हैं नहीं । इसलिये अब आप इस कन्याको स्वीकार कीजिये, मैं इसे आपको अर्पित करता हूँ ॥ १४ ॥

श्रीकर्म मुनिने कहा—ठीक है, मैं विवाह करना चाहता हूँ और आपकी कन्याका अभी किसीके साथ वाग्दान नहीं हुआ है, इसलिये हम दोनोंका सर्वश्रेष्ठ ब्राह्म * विधिसे विवाह होना उचित ही होगा ॥ १५ ॥ राजन् ! वेदोक्त विवाह-विधिमें प्रसिद्ध जो 'गृभ्णामि ते' इत्यादि मन्त्रोंमें बताया हुआ काम (संतानोत्पादनरूप मनोरथ) है, वह आपकी इस कन्याके साथ हमारा सम्बन्ध होनेसे सफल होगा । भला, जो अपनी अङ्गकान्तिसे आभूषणादिकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रही है, आपकी उस कन्याका कौन आदर न करेगा ? ॥ १६ ॥

यां हर्म्यपृष्ठे कणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमाना-
द्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः ॥ १७

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-
मसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम् ।
वत्सां मनोरुच्यपदः स्वसारं
को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम् ॥ १८

अतो भजिष्ये^१ समयेन सार्ध्वीं
यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे ।
अतो धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान्
शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान् ॥ १९

यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं
संस्थास्यते यत्र च वावतिष्ठते ।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं
परं प्रमाणं भगवाननन्तः ॥ २०

मैत्रेय^२ उवाच

स उग्रधन्वन्निग्रयदेवाबभाषे^३
आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम् ।
धियोपगृह्णन् स्मितशोभितेन
मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः ॥ २१

सोऽनुज्ञात्वा व्यवसितं महिष्यादुहितुः स्फुटम् ।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥ २२
शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान्^४ ।
दम्पत्योः पर्यदात्त्रीत्या भूषावासः परिच्छदान् ॥ २३

प्रत्तां^५ दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः ।
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः ॥ २४

एक बार यह अपने महलकी छतपर गेंद खेल रही थी। गेंदके पीछे इधर-उधर दौड़नेके कारण इसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे तथा पैरोंके पायजेब मधुर झनकार करते जाते थे। उस समय इसे देखकर विश्वावसु गन्धर्व मोहवश अचेत होकर अपने विमानसे गिर पड़ा था ॥ १७ ॥ वही इस समय यहाँ स्वयं आकर प्रार्थना कर रही है; ऐसी अवस्थामें कौन समझदार पुरुष इसे स्वीकार न करेगा? यह तो साक्षात् आप महाराज श्रीस्वायम्भुवमनुकी दुलारी कन्या और उत्तानपादकी प्यारी बहिन हैं तथा यह रमणियोंमें रत्नके समान हैं। जिन लोगोंने कभी श्रीलक्ष्मीजीके चरणोंकी उपासना नहीं की है, उन्हें तो इसका दर्शन भी नहीं हो सकता ॥ १८ ॥ अतः मैं आपकी इस साध्वी कन्याको अवश्य स्वीकार करूँगा, किन्तु एक शर्तके साथ। जबतक इसके संतान न हो जायगी, तबतक मैं गृहस्थ-धर्मानुसार इसके साथ रहूँगा। उसके बाद भगवान्के बताये हुए संन्यासप्रधान हिंसारहित शम-दमादि धर्मोंको ही अधिक महत्त्व दूँगा ॥ १९ ॥ जिनसे इस विचित्र जगत्की उत्पत्ति हुई है, जिनमें यह लीन हो जाता है और जिनके आश्रयसे यह स्थित है—मुझे तो वे प्रजापतियोंके भी पति भगवान् श्रीअनन्त ही सबसे अधिक मान्य हैं ॥ २० ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—प्रचण्ड धनुर्धर विदुर! कर्दमजी केवल इतना ही कह सके, फिर वे हृदयमें भगवान् कमलनाभका ध्यान करते हुए मौन हो गये। उस समय उनके मन्द हास्ययुक्त मुखकमलको देखकर देवहूतिका चित्त लुभा गया ॥ २१ ॥ मनुजीने देखा कि इस सम्बन्धमें महारानी शतरूपा और राजकुमारीकी स्पष्ट अनुमति है, अतः उन्होंने अनेक गुणोंसे सम्पन्न कर्दमजीको उन्हींके समान गुणवती कन्याका प्रसन्नतापूर्वक दान कर दिया ॥ २२ ॥ महारानी शतरूपाने भी बेटी और दामादको बड़े प्रेमपूर्वक बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थोचित पात्रादि दहेजमें दिये ॥ २३ ॥ इस प्रकार सुयोग्य वरको अपनी कन्या देकर महाराज मनु निश्चिन्त हो गये। चलती बार उसका वियोग न सह सकनेके कारण उन्होंने उत्कण्ठावश विह्वलचित्त होकर उसे अपनी छातीसे चिपटा लिया और 'बेटी! बेटी!' कहकर रोने लगे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी और उनसे उन्होंने देवहूतिके सिरके सारे बाल भिगो दिये ॥ २४-२५ ॥

अशकुवंस्तद्विरहं मुञ्चन् बाष्पकलां मुहुः ।
आसिञ्चदम्ब^१ वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः ॥ २५

आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः ।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः ॥ २६

उभयोर्ऋषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः ।
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः ॥ २७

तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजाः पतिम् ।
गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ॥ २८

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता ।
न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः ॥ २९

कुशाः^२ काशास्त एवासन् शश्वद्धरितवर्चसः ।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञमीजिरे ॥ ३०

कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान्मनुः ।
अयजद्यज्ञपुरुषं लब्ध्वा स्थानं यतो भुवम्^३ ॥ ३१

बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निर्विशय समावसत् ।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ॥ ३२

सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः ।
सङ्गीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः ।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाः ॥ ३३

निष्णातं योगमायासु मुनिं^४ स्वायम्भुवं मनुम्^५ ।
यदा भ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ॥ ३४

अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः ।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः ॥ ३५

स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम् ।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः ॥ ३६

फिर वे मुनिवर कर्दमसे पृछकर, उनकी आज्ञा ले रानीके सहित रथपर सवार हुए और अपने सेवकोंसहित ऋषिकुलसेवित सरस्वती नदीके दोनों तीरोंपर मुनियोंके आश्रमोंकी शोभा देखते हुए अपनी राजधानीमें चले आये ॥ २६-२७ ॥

जब ब्रह्मावर्तकी प्रजाको यह समाचार मिला कि उसके स्वामी आ रहे हैं तब वह अत्यन्त आनन्दित होकर स्तुति, गीत एवं बाजे-गाजेके साथ अगवानी करनेके लिये ब्रह्मावर्तकी राजधानीसे बाहर आयी ॥ २८ ॥ सब प्रकारकी सम्पदाओंसे युक्त बर्हिष्मती नगरी मनुजीकी राजधानी थी, जहाँ पृथ्वीको रसातलसे ले आनेके पश्चात् शरीर कँपाते समय श्रीवराहभगवान्के रोम झड़कर गिरे थे ॥ २९ ॥ वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और कास हुए, जिनके द्वारा मुनियोंने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंका तिरस्कार कर भगवान् यज्ञपुरुषकी यज्ञोद्धार आराधना की है ॥ ३० ॥ महाराज मनुने भी श्रीवराहभगवान्से भूमिरूप निवासस्थान प्राप्त होनेपर इसी स्थानमें कुश और कासकी बर्हि(चटाई) बिछाकर श्रीयज्ञभगवान्की पूजा की थी ॥ ३१ ॥

जिस बर्हिष्मती पुरीमें मनुजी निवास करते थे, उसमें पहुँचकर उन्होंने अपने त्रितापनाशक भवनमें प्रवेश किया ॥ ३२ ॥ वहाँ अपनी भार्या और सन्ततिके सहित वे धर्म, अर्थ और मोक्षके अनुकूल भोगोंको भोगने लगे । प्रातःकाल होनेपर गन्धर्वगण अपनी स्त्रियोंके सहित उनका गुणगान करते थे; किन्तु मनुजी उसमें आसक्त न होकर प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीहरिकी कथाएँ ही सुना करते थे ॥ ३३ ॥ वे इच्छानुसार भोगोंका निर्माण करनेमें कुशल थे; किन्तु मननशील और भगवत्परायण होनेके कारण भोग उन्हें किंचित् भी विचलित नहीं कर पाते थे ॥ ३४ ॥ भगवान् विष्णुकी कथाओंका श्रवण, ध्यान, रचना और निरूपण करते रहनेके कारण उनके मन्वन्तरको व्यतीत करनेवाले क्षण कभी व्यर्थ नहीं जाते थे ॥ ३५ ॥ इस प्रकार अपनी जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं अथवा तीनों गुणोंको अभिभूत करके उन्होंने भगवान् वासुदेवके कथाप्रसङ्गमें अपने मन्वन्तरके इकहत्तर चतुर्युग पूरे कर दिये ॥ ३६ ॥

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥ ३७

यः पृष्ठो मुनिभिः प्राह धर्मात्रानाविधाञ्छुभान् ।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा ॥ ३८

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम् ।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥ ३९

व्यासनन्दन विदुरजी ! जो पुरुष श्रीहरिके आश्रित रहता है, उसे शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक अथवा भौतिक दुःख किस प्रकार कष्ट पहुँचा सकते हैं ॥ ३७ ॥ मनुजी निरन्तर समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहते थे । मुनियोंके पूछनेपर उन्होंने मनुष्योंके तथा समस्त वर्ण और आश्रमोंके अनेक प्रकारके मङ्गलमय धर्मोंका भी वर्णन किया (जो मनुसंहिताके रूपमें अब भी उपलब्ध है) ॥ ३८ ॥

जगतके सर्वप्रथम सम्राट् महाराज मनु वास्तवमें कीर्तनके योग्य थे । यह मैंने उनके अद्भुत चरित्रका वर्णन किया, अब उनकी कन्या देवहूतिका प्रभाव सुनो ॥ ३९ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥



अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

कर्दम और देवहूतिका विहार

मैत्रेय उवाच

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिद्विजितकोविदा ।
नित्यं पर्यचरन्तीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥ १

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च^१ भोः ॥ २

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम् ।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत् ॥ ३

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् ।
दैवाद्वारीयसः^२ पत्युराशासानां महाशिषः ॥ ४

कालेन भूयसा क्षामां कर्षितां व्रतचर्यया ।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत् ॥ ५

कर्दम उवाच

तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः
शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या ।
यो देहिनामयमतीव सुहृत्स्वदेहो
नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ॥ ६

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी! माता-पिताके चले जानेपर पतिके अभिप्रायको समझ लेनेमें कुशल साध्वी देवहूति कर्दमजीकी प्रतिदिन प्रेमपूर्वक सेवा करने लगी, ठीक उसी तरह, जैसे श्रीपार्वतीजी भगवान् शङ्करकी सेवा करती हैं ॥ १ ॥ उसने काम-वासना, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप और मदका त्यागकर बड़ी सावधानी और लगनके साथ सेवामें तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुरभाषणादि गुणोंसे अपने परम तेजस्वी पतिदेवको सन्तुष्ट कर लिया ॥ २-३ ॥ देवहूति समझती थी कि मेरे पतिदेव दैवसे भी बढ़कर हैं, इसलिये वह उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखकर उनकी सेवामें लगी रहती थी । इस प्रकार बहुत दिनोंतक अपना अनुवर्तन करनेवाली उस मनुपुत्रीको व्रतादिका पालन करनेसे दुर्बल हुई देख देवर्षि-श्रेष्ठ कर्दमको दयावश कुछ खेद हुआ और उन्होंने उससे प्रेमगद्गद वाणीमें कहा ॥ ४-५ ॥

कर्दमजी बोले—मनुनन्दिनी ! तुमने मेरा बड़ा आदर किया है । मैं तुम्हारी उत्तम सेवा और परम भक्तिसे बहुत सन्तुष्ट हूँ । सभी देहधारियोंको अपना शरीर बहुत प्रिय एवं आदरकी वस्तु होता है, किन्तु तुमने मेरी सेवाके आगे उसके क्षीण होनेकी भी कोई परवा नहीं की ॥ ६ ॥

ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधि-
विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः ।
तानेव ते मदनसेवनयावरुद्धान्
दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान् ॥ ७

अन्ये पुनर्भगवतो भृव उद्विजृम्भ-
विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्मदोहान्^१
दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृपविक्रियाभिः ॥ ८

एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमाया-
विद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत् ।
सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्-
ब्रीडावलोकविलसद्भसिताननाऽऽह ॥ ९

देवहूतिरुवाच

राद्धं बत^२ द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः ।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो
भूयाद्गुरीयसि गुणः प्रसवः^३ सतीनाम् ॥ १०

तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं
येनैष मे कर्षितोऽतिरिरंसयाऽऽत्मा ।
सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया
दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व ॥ ११

मैत्रेय उवाच

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः ।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत् ॥ १२

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम् ।
सर्वद्वैतपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ॥ १३

दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम् ।
पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलंकृतम् ॥ १४

अतः अपने धर्मका पालन करते रहनेसे मुझे तप, समाधि, उपासना और योगके द्वारा जो भय और शोकसे रहित भगवत्प्रसाद-स्वरूप विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनपर मेरी सेवाके प्रभावसे अब तुम्हारा भी अधिकार हो गया है। मैं तुम्हें दिव्य-दृष्टि प्रदान करता हूँ, उसके द्वारा तुम उन्हें देखो ॥ ७ ॥ अन्य जितने भी भोग हैं, वे तो भगवान् श्रीहरिके भुक्कुटि-विलासमात्रसे नष्ट हो जाते हैं; अतः वे इनके आगे कुछ भी नहीं हैं। तुम मेरी सेवासे भी कृतार्थ हो गयी हो; अपने पातिव्रत-धर्मका पालन करनेसे तुम्हें ये दिव्य भोग प्राप्त हो गये हैं, तुम इन्हें भोग सकती हो। हम राजा हैं, हमें सब कुछ सुलभ है, इस प्रकार जो अधिमान आदि विकार हैं, उनके रहते हुए मनुष्योंको इन दिव्य भोगोंकी प्राप्ति होनी कठिन है ॥ ८ ॥

कर्दमजीके इस प्रकार कहनेसे अपने पतिदेवको सम्पूर्ण योगमाया और विद्याओंमें कुशल जानकर उस अबलाकी सारी चिन्ता जाती रही। उसका मुख किञ्चित् संकोचभरी चितवन और मधुर मुसकानसे खिल उठा और वह विनय एवं प्रेमसे गद्गद वाणीमें इस प्रकार कहने लगी ॥ ९ ॥

देवहूतिने कहा—द्विजश्रेष्ठ! स्वामिन्! मैं यह जानती हूँ कि कभी निष्फल न होनेवाली योगशक्ति और त्रिगुणात्मिका मायापर अधिकार रखनेवाले आपको ये सब ऐश्वर्य प्राप्त हैं। किन्तु प्रभो! आपने विवाहके समय जो प्रतिज्ञा की थी कि गर्भाधान होनेतक मैं तुम्हारे साथ गृहस्थ-सुखका उपभोग करूँगा, उसकी अब पूर्ति होनी चाहिये। क्योंकि श्रेष्ठ पतिके द्वारा सन्तान प्राप्त होना पातिव्रता स्त्रीके लिये महान् लाभ है ॥ १० ॥ हम दोनोंके समागमके लिये शास्त्रके अनुसार जो कर्तव्य हो, उसका आप उपदेश दीजिये और उबटन, गन्ध, भोजन आदि उपयोगी सामग्रियाँ भी जुटा दीजिये, जिससे मिलनकी इच्छासे अत्यन्त दीन, दुर्बल हुआ मेरा यह शरीर आपके अङ्ग-सङ्गके योग्य हो जाय; क्योंकि आपकी ही बढ़ायी हुई कामवेदनासे मैं पीड़ित हो रही हूँ। स्वामिन्! इस कार्यके लिये एक उपयुक्त भवन तैयार हो जाय, इसका भी विचार कीजिये ॥ ११ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! कर्दम मुनिने अपनी प्रियाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसी समय योगमें स्थित होकर एक विमान रचा, जो इच्छानुसार सर्वत्र जा सकता था ॥ १२ ॥ यह विमान सब प्रकारके इच्छित भोग-सुख प्रदान करनेवाला, अत्यन्त सुन्दर, सब प्रकारके रत्नोंसे युक्त, सब सम्पत्तियोंकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे सम्पन्न तथा मणिमय खंभोंसे सुशोभित था ॥ १३ ॥ वह सभी ऋतुओंमें सुखदायक था और उसमें जहाँ-तहाँ सब प्रकारकी दिव्य सामग्रियाँ रखी हुई थीं तथा उसे चित्र-विचित्र रेशमी झंडियों और पताकाओंसे खूब सजाया गया था ॥ १४ ॥

स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुशिञ्जित्वडङ्घ्रिभिः^१ ।
दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम् ॥ १५

उपर्युपरि विन्यस्तनिलयेषु पृथक्पृथक् ।
क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्क्यजनासनैः ॥ १६

तत्र तत्र विनिक्षिप्तनानाशिल्पोपशोभितम् ।
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः ॥ १७

द्वाःसु^२ विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत् ।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम् ॥ १८

चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः ।
जुष्टं विचित्रवैतानैर्महाहैर्महमतोरणैः ॥ १९

हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम्^३ ।
कृत्रिमान् मन्यमानैः^४ स्वानधिरुह्याधिरुह्य च ॥ २०

विहारस्थानविश्रामसंवेशप्राङ्गणाजिरैः ।
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः ॥ २१

ईदृग्गृहं^५ तत्पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा ।
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत्कर्दमः^६ स्वयम् ॥ २२

निमज्ज्यास्मिन् हृदे भीरु विमानमिदमारुह ।
इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं^७ नृणाम् ॥ २३

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा ।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान् ॥ २४

अङ्गं च मलपङ्केन संछन्नं शबलस्तनम् ।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम् ॥ २५

सान्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः ।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः ॥ २६

जिनपर भ्रमरगण मधुर गुंजार कर रहे थे, ऐसे रंग-विरंगे पुष्पोंकी मालाओंसे तथा अनेक प्रकारके सूती और रेशमी वस्त्रोंसे वह अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥ १५ ॥ एकके ऊपर एक बनाये हुए कमरोंमें अलग-अलग रखी हुई शय्या, पलंग, पंखे और आसनोंके कारण वह बड़ा सुन्दर जान पड़ता था ॥ १६ ॥ जहाँ-तहाँ दीवारोंमें की हुई शिल्परचनासे उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी । उसमें पत्रिका फर्श था और बैठनेके लिये मृगोंकी वेदियाँ बनायी गयी थीं ॥ १७ ॥ मृगोंकी ही देहलियाँ थीं । उसके द्वारोंमें हीरेके किवाड़ थे तथा इन्द्रनील मणिके शिखरोंपर सोनेके कलश रखे हुए थे ॥ १८ ॥ उसकी हीरेकी दीवारोंमें बढ़िया लाल जड़े हुए थे, जो ऐसे जान पड़ते थे मानो विमानकी आँखें हों तथा उसे रंग-विरंगे चंदोवे और बहुमूल्य सुनहरी बन्दनवारोंसे सजाया गया था ॥ १९ ॥ उस विमानमें जहाँ-तहाँ कृत्रिम हंस और कबूतर आदि पक्षी बनाये गये थे, जो बिलकुल सजीव-से मालूम पड़ते थे; उन्हें अपना सजातीय समझकर बहुत-से हंस और कबूतर उनके पास बैठ-बैठकर अपनी बोली बोलते थे ॥ २० ॥ उसमें सुविधानुसार क्रीडास्थली, शयनगृह, बैठक, आँगन और चौक आदि बनाये गये थे—जिनके कारण वह विमान स्वयं कर्दमजीको भी विस्मित-सा कर रहा था ॥ २१ ॥

ऐसे सुन्दर घरको भी जब देवहूतिने बहुत प्रसन्न चित्तसे नहीं देखा, तो सबके आन्तरिक भावको परख लेनेवाले कर्दमजीने स्वयं ही कहा— ॥ २२ ॥ 'भीरु ! तुम इस विन्दुसरोवरमें स्नान करके विमानपर चढ़ जाओ; यह विष्णुभगवान्का रचा हुआ तीर्थ मनुष्योंको सभी कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला है' ॥ २३ ॥

कमललोचना देवहूतिने अपने पतिकी बात मानकर सरस्वतीके पवित्र जलसे भरे हुए उस सरोवरमें प्रवेश किया । उस समय वह बड़ी मैली-कुचैली साड़ी पहने हुए थी, उसके सिरके बाल चिपक जानेसे उनमें लटे पड़ गयी थीं, शरीरमें मैल जम गया था तथा स्तन कान्तिहीन हो गये थे ॥ २४-२५ ॥ सरोवरमें गोता लगानेपर उसने उसके भीतर एक महलमें एक हजार कन्याएँ देखीं । वे सभी किशोर-अवस्थाकी थीं और उनके शरीरोंसे कमलकी-सी गन्ध आती थी ॥ २६ ॥

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः ।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ॥ २७

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम् ।
दुकूले निर्मले नूत्रे^१ ददुरस्यै च मानदाः^२ ॥ २८

भूषणानि परार्घ्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च ।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम् ॥ २९

अथादर्शं स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम् ।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम् ॥ ३०

स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम् ।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम् ॥ ३१

श्रोणयोरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया ।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम् ॥ ३२

सुदता^३ सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्त्रिधापाङ्गेन चक्षुषा ।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम् ॥ ३३

यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम् ।
तत्र चास्ते^४ सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः ॥ ३४

भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा ।
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ॥ ३५

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत् ।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ॥ ३६

विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम् ।
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन् ॥ ३७

देवहूतिको देखते ही वे सब स्त्रियाँ सहसा खड़ी हो गयीं और हाथ जोड़कर कहने लगीं, 'हम आपकी दासियाँ हैं; हमें आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा करें?' ॥ २७ ॥

विदुरजी ! तब स्वामिनीको सम्मान देनेवाली उन रमणियोंने बहुमूल्य मसालों तथा गन्ध आदिसे मिश्रित जलके द्वारा मनस्विनी देवहूतिको स्नान कराया तथा उसे दो नवीन और निर्मल वस्त्र पहननेको दिये ॥ २८ ॥ फिर उन्होंने ये बहुत मूल्यके बड़े सुन्दर और कान्तिमान् आभूषण, सर्वगुणसम्पन्न भोजन और पीनेके लिये अमृतके समान स्वादिष्ट आसव प्रस्तुत किये ॥ २९ ॥ अब देवहूतिने दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखा तो उसे मालूम हुआ कि वह भाँति-भाँतिके सुगंधित फूलोंके हारोंसे विभूषित है, स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुए है, उसका शरीर भी निर्मल और कान्तिमान् हो गया है तथा उन कन्याओंने बड़े आदरपूर्वक उसका माङ्गलिक शृङ्गार किया है ॥ ३० ॥ उसे सिरसे स्नान कराया गया है, स्नानके पश्चात् अङ्ग-अङ्गमें सब प्रकारके आभूषण सजाये गये हैं तथा उसके गलेमें हार-हुमेल, हाथोंमें कङ्कण और पैरोंमें छमछमाते हुए सोनेके पायजेब सुशोभित हैं ॥ ३१ ॥ कमरमें पड़ी हुई सोनेकी रत्नजटित करधनीसे, बहुमूल्य मणियोंके हारसे और अङ्ग-अङ्गमें लगे हुए कुङ्कुमादि मङ्गलद्रव्योंसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही है ॥ ३२ ॥ उसका मुख सुन्दर दन्तावली, मनोहर भौंहें, कमलकी कलीसे स्पर्धा करनेवाले प्रेमकटाक्षमय सुन्दर नेत्र और नीली अलकावलीसे बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता है ॥ ३३ ॥ विदुरजी ! जब देवहूतिने अपने प्रिय पतिदेवका स्मरण किया, तो अपनेको सहेलियोंके सहित वहीं पाया, जहाँ प्रजापति कर्दमजी विराजमान थे ॥ ३४ ॥ उस समय अपनेको सहस्रों स्त्रियोंके सहित अपने प्राणनाथके सामने देख और इसे उनके योगका प्रभाव समझकर देवहूतिको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३५ ॥

शत्रुविजयी विदुर ! जब कर्दमजीने देखा कि देवहूतिका शरीर स्नान करनेसे अत्यन्त निर्मल हो गया है, और विवाहकालसे पूर्व उसका जैसा रूप था, उसी रूपको पाकर वह अपूर्व शोभासे सम्पन्न हो गयी है। उसका सुन्दर वक्षःस्थल चोलीसे ढका हुआ है, हजारों विद्याधरियाँ

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुदगणवानपीच्य-^१
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ॥ ३८

तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीध्वनङ्गसखमारुतसौभगासु^२ ।

सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥ ३९

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके ।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः ॥ ४०

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा ।
वैमानिकानत्यशेत चरैल्लोकान् यथानिलः ॥ ४१

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥ ४२

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया ।
वह्नाश्चर्य महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ॥ ४३

विभज्य नवधाऽऽत्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम् ।
रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत् ॥ ४४

तस्मिन् विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता ।
न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीच्येन सङ्गता ॥ ४५

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः ।
शतं व्यतीयुः शरदः^३ कामलालसयोर्मनाक् ॥ ४६

तस्यामाधत्त रेतस्तां^४ भावयन्नात्मनाऽऽत्मवित् ।
नोधा^५ विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद्विभुः ॥ ४७

उसकी सेवामें लगी हुई हैं तथा उसके शरीरपर बढ़िया-बढ़िया वस्त्र शोभा पा रहे हैं, तब उन्होंने बड़े प्रेमसे उसे विमानपर चढ़ाया ॥ ३६-३७ ॥ उस समय अपनी प्रियाके प्रति अनुरक्त होनेपर भी कर्दमजीकी महिमा (मन और इन्द्रियोंपर प्रभुता) कम नहीं हुई। विद्याधरियाँ उनके शरीरकी सेवा कर रही थीं। खिले हुए कुमुदके फूलोंसे शृङ्गार करके अत्यन्त सुन्दर बने हुए वे विमानपर इस प्रकार शोभा पा रहे थे, मानो आकाशमें तारागणसे घिरे हुए चन्द्रदेव विराजमान हों ॥ ३८ ॥ उस विमानपर निवासकर उन्होंने दीर्घकालतक कुबेरजीके समान मेरुपर्वतकी घाटियोंमें विहार किया। ये घाटियाँ आठों लोकपालोंकी विहारभूमि हैं; इनमें कामदेवको बढ़ानेवाली शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलकर इनकी कमनीय शोभाका विस्तार करती है तथा श्रीगङ्गाजीके स्वर्गलोकसे गिरनेकी मङ्गलमय ध्वनि निरन्तर गूँजती रहती है। उस समय भी दिव्य विद्याधरियोंका समुदाय उनकी सेवामें उपस्थित था और सिद्धगण वन्दना किया करते थे ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार प्राणप्रिया देवहूतिके साथ उन्होंने वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र और चैत्ररथ आदि अनेकों देवोद्यानों तथा मानस-सरोवरमें अनुरागपूर्वक विहार किया ॥ ४० ॥ उस कान्तिमान् और इच्छानुसार चलनेवाले श्रेष्ठ विमानपर बैठकर वायुके समान सभी लोकोंमें विचरते हुए कर्दमजी विमानविहारी देवताओंसे भी आगे बढ़ गये ॥ ४१ ॥ विदुरजी! जिन्होंने भगवान्‌के भवभयहारी पवित्र पादपद्मोंका आश्रय लिया है, उन धीर पुरुषोंके लिये कौन-सी वस्तु या शक्ति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार महायोगी कर्दमजी यह सारा भूमण्डल, जो द्रौप-वर्ष आदिकी विचित्र रचनाके कारण बड़ा आश्चर्यमय प्रतीत होता है, अपनी प्रियाको दिखाकर अपने आश्रमको लौट आये ॥ ४३ ॥ फिर उन्होंने अपनेको नौ रूपोंमें विभक्त कर रतिसुखके लिये अत्यन्त उत्सुक मनुकुमारी देवहूतिको आनन्दित करते हुए उसके साथ बहुत वर्षोंतक विहार किया, किन्तु उनका इतना लम्बा समय एक मुहूर्तके समान बीत गया ॥ ४४ ॥ उस विमानमें रतिसुखको बढ़ानेवाली बड़ी सुन्दर शय्याका आश्रय ले अपने परम रूपवान् प्रियतमके साथ रहती हुई देवहूतिको इतना काल कुछ भी न जान पड़ा ॥ ४५ ॥ इस प्रकार उस कामासक्त दम्पतिको अपने योगबलसे सैकड़ों वर्षोंतक विहार करते हुए भी वह काल बहुत थोड़े समयके समान निकल गया ॥ ४६ ॥ आत्मज्ञानी कर्दमजी सब प्रकारके सङ्कल्पोंको जानते थे; अतः देवहूतिको सन्तानप्राप्तिके लिये उत्सुक देख तथा भगवान्‌के आदेशको स्मरणकर उन्होंने अपने स्वरूपके नौ विभाग किये तथा कन्याओंकी उत्पत्तिके लिये एकाग्रचित्तसे अर्धाङ्गरूपमें अपनी

अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः ।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः ॥ ४८

पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदाऽऽलक्ष्योशती सती ।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ॥ ४९

लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया ।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलां शनैः ॥ ५०

देवहूतिरुवाच १

सर्वं तद्भगवान्महामुपोवाह प्रतिश्रुतम् ।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥ ५१

ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः ।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥ ५२

एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो ।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः ॥ ५३

इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः ।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे ॥ ५४

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया ।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥ ५५

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥ ५६

साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् ।
यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात् ॥ ५७

पत्नीकी भावना करते हुए उसके गर्भमें वीर्य स्थापित किया ॥ ४७ ॥ इससे देवहूतिके एक ही साथ नौ कन्याएँ पैदा हुईं । वे सभी सर्वाङ्गसुन्दरी थीं और उनके शरीरसे लाल कमलकी-सी सुगन्ध निकलती थी ॥ ४८ ॥

इसी समय शुद्ध स्वभाववाली सती देवहूतिने देखा कि पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार उसके पतिदेव संन्यासाश्रम ग्रहण करके वनको जाना चाहते हैं, तो उसने अपने आँसुओंको रोककर ऊपरसे मुसकराते हुए व्याकुल एवं संतप्त हृदयसे धीर-धीरे अति मधुर वाणीमें कहा । उस समय वह सिर नीचा किये हुए अपने नखमणिमण्डित चरणकमलसे पृथ्वीको कुरेद रही थी ॥ ४९-५० ॥

देवहूतिने कहा—भगवन् ! आपने जो कुछ प्रतिज्ञा की थी, वह सब तो पूर्णतः निभा दी; तो भी मैं आपकी शरणागत हूँ, अतः आप मुझे अभयदान और दीजिये ॥ ५१ ॥ ब्रह्मन् ! इन कन्याओंके लिये योग्य वर खोजने पड़ेंगे और आपके वनको चले जानेके बाद मेरे जन्म-मरणरूप शोकको दूर करनेके लिये भी कोई होना चाहिये ॥ ५२ ॥ प्रभो ! अबतक परमात्मासे विमुख रहकर मेरा जो समय इन्द्रियसुख भोगनेमें बीता है, वह तो निरर्थक ही गया ॥ ५३ ॥ आपके परम प्रभावको न जाननेके कारण ही मैंने इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहकर आपसे अनुराग किया, तथापि यह भी मेरे संसार-भयको दूर करनेवाला ही होना चाहिये ॥ ५४ ॥ अज्ञानवश असत्पुरुषोंके साथ किया हुआ जो संग संसार-बन्धनका कारण होता है, वही सत्पुरुषोंके साथ किये जानेपर असङ्गता प्रदान करता है ॥ ५५ ॥ संसारमें जिस पुरुषके कर्मोंसे न तो धर्मका सम्पादन होता है, न वैराग्य उत्पन्न होता है और न भगवान्की सेवा ही सम्पन्न होती है वह पुरुष जीते ही मुर्देके समान है ॥ ५६ ॥ अवश्य ही मैं भगवान्की मायासे बहुत ठगी गयी, जो आप-जैसे मुक्तिदाता पतिदेवको पाकर भी मैंने संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा नहीं की ॥ ५७ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कापिलेयोपाख्याने^२ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥



अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

श्रीकपिलदेवजीका जन्म

मैत्रेय उवाच

निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः ।
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन् ॥ १

ऋषिरुवाच

मा खिदो राजपुत्रीत्यमात्मानं प्रत्यनिन्दिते ।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्सम्प्रपत्स्यते ॥ २

धृतव्रतासि^१ भद्रं ते दमेन^२ नियमेन च ।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ॥ ३

स त्वयाऽऽराधितः शुक्लो वितन्वन्मामकं यशः ।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः ॥ ४

मैत्रेय उवाच

देवहूत्यपि संदेशं गौरवेण प्रजापतेः ।
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम् ॥ ५

तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥ ६

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः ।
गायन्ति तं^३ स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा ॥ ७

पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः ।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ॥ ८

तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम्^४ ।
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात् ॥ ९

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ॥ १०

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—उत्तम गुणोंसे सुशोभित मनुकुमारी देवहूतिने जब ऐसी वैराग्ययुक्त बातें कहीं, तब कृपालु कर्दम मुनिको भगवान् विष्णुके कथनका स्मरण हो आया और उन्होंने उससे कहा ॥ १ ॥

कर्दमजी बोले—दोषरहित राजकुमारी ! तुम अपने विषयमें इस प्रकार खेद न करो; तुम्हारे गर्भमें अविनाशी भगवान् विष्णु शीघ्र ही पधारेगे ॥ २ ॥ प्रिये ! तुमने अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन किया है, अतः तुम्हारा कल्याण होगा । अब तुम संयम, नियम, तप और दानादि करती हुई श्रद्धापूर्वक भगवान्का भजन करो ॥ ३ ॥ इस प्रकार आराधना करनेपर श्रीहरि तुम्हारे गर्भसे अवतीर्ण होकर मेरा यश बढ़ावेगे और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके तुम्हारे हृदयकी अहङ्कारमयी ग्रन्थिका छेदन करेंगे ॥ ४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! प्रजापति कर्दमके आदेशमें गौरव-बुद्धि होनेसे देवहूतिने उसपर पूर्ण विश्वास किया और वह निर्विकार, जगद्गुरु भगवान् श्रीपुरुषोत्तमकी आराधना करने लगी ॥ ५ ॥ इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर भगवान् मधुसूदन कर्दमजीके वीर्यका आश्रय ले उसके गर्भसे इस प्रकार प्रकट हुए, जैसे काष्ठमेंसे अग्नि ॥ ६ ॥ उस समय आकाशमें मेघ जल बरसाते हुए गरज-गरजकर बाजे बजाने लगे, गन्धर्वगण गान करने लगे और अप्सराएँ आनन्दित होकर नाचने लगीं ॥ ७ ॥ आकाशसे देवताओंके बरसाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी; सब दिशाओंमें आनन्द छा गया, जलाशयोंका जल निर्मल हो गया और सभी जीवोंके मन प्रसन्न हो गये ॥ ८ ॥ इसी समय सरस्वती नदीसे घिरे हुए कर्दमजीके उस आश्रममें मरीचि आदि मुनियोंके सहित श्रीब्रह्माजी आये ॥ ९ ॥ शत्रुदमन विदुरजी ! स्वतःसिद्ध ज्ञानसे सम्पन्न अजन्मा ब्रह्माजीको यह मालूम हो गया था कि साक्षात् परब्रह्म भगवान् विष्णु सांख्यशास्त्रका उपदेश करनेके लिये अपने विशुद्ध सत्त्वमय अंशसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ १० ॥

सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् ।
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदमभ्यधात् ११

ब्रह्मोवाच

त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकतः ।
यन्मे सञ्जगृहे वाक्यं भवान्मानद मानयन् ॥ १२

एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः ।
बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ॥ १३

इमा दुहितरः सभ्य तव वत्स सुमध्यमाः ।
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृहयिष्यन्त्यनेकधा १४
अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ॥ १५

वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया ।
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने ॥ १६

ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन् जटाः ।
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः ॥ १७

एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः ।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति ॥ १८

अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैः सुसम्मतः ।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः ॥ १९

मैत्रेय उवाच

तावाश्वास्य जगत्त्रष्टा कुमारैः सहनारदः ।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधामपरमं ययौ ॥ २०

गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।
यथोदितं स्वदुहितृः प्रादाद्विश्वसृजां ततः ॥ २१

मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये ।
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम् ॥ २२

अतः भगवान् जिस कार्यको करना चाहते थे, उसका उन्होंने विशुद्ध चित्तसे अनुमोदन एवं आदर किया और अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए कर्दमजीसे इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—प्रिय कर्दम ! तुम दूसरोंको मान देनेवाले हो । तुमने मेरा सम्मान करते हुए जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारे द्वारा निष्कपट-भावसे मेरी पूजा सम्पन्न हुई है ॥ १२ ॥ पुत्रोंको अपने पिताकी सबसे बड़ी सेवा यही करनी चाहिये कि 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर आदरपूर्वक उनके आदेशको स्वीकार करें ॥ १३ ॥ बेटा ! तुम सभ्य हो, तुम्हारी ये सुन्दरी कन्याएँ अपने वंशोंद्वारा इस सृष्टिको अनेक प्रकारसे बढ़ावेंगी ॥ १४ ॥ अब तुम इन मरीचि आदि मुनिवरोंको इनके स्वभाव और रुचिके अनुसार अपनी कन्याएँ समर्पित करो और संसारमें अपना सुयश फैलाओ ॥ १५ ॥ मुने ! मैं जानता हूँ, जो सम्पूर्ण प्राणियोंकी निधि हैं—उनके अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं, वे आदिपुरुष श्रीनारायण ही अपनी योगमायासे कपिलके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ १६ ॥ [फिर देवहूतिसे बोले—] राजकुमारी ! सुनहरे बाल, कमल-जैसे विशाल नेत्र और कमलाङ्कित चरणकमलोंवाले शिशुके रूपमें कैटभासुरको मारनेवाले साक्षात् श्रीहरिने ही, ज्ञान-विज्ञानद्वारा कर्मोंकी वासनाओंका मूलोच्छेदन करनेके लिये, तेरे गर्भमें प्रवेश किया है । ये अविद्याजनित मोहकी ग्रन्थियोंको काटकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरेंगे ॥ १७-१८ ॥ ये सिद्धगणोंके स्वामी और सांख्याचार्योंकी भी माननीय होंगे । लोकमें तेरी कीर्तिका विस्तार करेंगे और 'कपिल' नामसे विख्यात होंगे ॥ १९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजी उन दोनोंको इस प्रकार आश्वासन देकर नारद और सनकादिको साथ ले, हंसपर चढ़कर ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २० ॥ ब्रह्माजीके चले जानेपर कर्दमजीने उनके आज्ञानुसार मरीचि आदि प्रजापतियोंके साथ अपनी कन्याओंका विधिपूर्वक विवाह कर दिया ॥ २१ ॥ उन्होंने अपनी कला नामकी कन्या मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अङ्गिराको और हविर्भू पुलस्त्यको समर्पित की ॥ २२ ॥

पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम् ।
 ख्यातिं च^१ भृगवेऽयच्छद्वसिष्ठायाप्यरुन्धतीम् ॥ २३
 अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते ।
 विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत् ॥ २४
 ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्य तम् ।
 प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम् ॥ २५
 स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम् ।
 विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ॥ २६
 अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः ।
 कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः ॥ २७
 बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना ।
 द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥ २८
 स एव भगवानद्य हेलनं नगण्य नः ।
 गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः^२ स्वानां पक्षपोषणः ॥ २९
 स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे ।
 चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ॥ ३०
 तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
 यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥ ३१
 त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा
 सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
 ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध-
 वीर्यश्रिया पूर्तमहं प्रपद्ये ॥ ३२
 परं प्रधानं पुरुषं महान्तं
 कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
 आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं
 स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥ ३३

पुलहको उनके अनुरूप गति नामकी कन्या दी,
 क्रतुके साथ परम साध्वी क्रियाका विवाह किया,
 भृगुजीको ख्याति और वसिष्ठजीको अरुन्धती समर्पित
 की ॥ २३ ॥ अथर्वा ऋषिको शान्ति नामकी कन्या दी,
 जिससे यज्ञकर्मका विस्तार किया जाता है । कर्दमजीने उन
 विवाहित ऋषियोंका उनकी पत्नियोंके सहित खूब सत्कार
 किया ॥ २४ ॥ विदुरजी ! इस प्रकार विवाह हो जानेपर वे
 सब ऋषि कर्दमजीकी आज्ञा ले अति आनन्दपूर्वक
 अपने-अपने आश्रमोंको चले गये ॥ २५ ॥

कर्दमजीने देखा कि उनके यहाँ साक्षात् देवाधिदेव
 श्रीहरिने ही अवतार लिया है, तो वे एकान्तमें उनके पास
 गये और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहने लगे ॥ २६ ॥
 'अहो ! अपने पापकर्मोंके कारण इस दुःखमय संसारमें
 नाना प्रकारसे पीडित होते हुए पुरुषोंपर देवगण तो बहुत
 काल बीतनेपर प्रसन्न होते हैं ॥ २७ ॥ किन्तु जिनके
 स्वरूपको योगिजन अनेकों जन्मोंके साधनसे सिद्ध हुई
 सुदृढ़ समाधिके द्वारा एकान्तमें देखनेका प्रयत्न करते हैं,
 अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाले वे ही श्रीहरि हम
 विषयलोलुपोंके द्वारा होनेवाली अपनी अवज्ञाका कुछ भी
 विचार न कर आज हमारे घर अवतीर्ण हुए
 हैं ॥ २८-२९ ॥ आप वास्तवमें अपने भक्तोंका मान
 बढ़ानेवाले हैं । आपने अपने वचनोंको सत्य करने और
 सांख्ययोगका उपदेश करनेके लिये ही मेरे यहाँ अवतार
 लिया है ॥ ३० ॥ भगवन् ! आप प्राकृतरूपसे रहित हैं,
 आपके जो चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप हैं, वे ही आपके
 योग्य हैं तथा जो मनुष्य-सदृश रूप आपके भक्तोंको प्रिय
 लगते हैं, वे भी आपको रुचिकर प्रतीत होते हैं ॥ ३१ ॥
 आपका पाद-पीठ तत्त्वज्ञानकी इच्छासे विद्वानोंद्वारा सर्वदा
 वन्दनीय है तथा आप ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और
 श्री—इन छहों ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं । मैं आपकी शरणमें
 हूँ ॥ ३२ ॥ भगवन् ! आप परब्रह्म हैं; सारी शक्तियाँ
 आपके अधीन हैं; प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, काल, त्रिविध
 अहङ्कार, समस्त लोक एवं लोकपालोंके रूपमें आप ही
 प्रकट हैं; तथा आप सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सारे प्रपञ्चको
 चेतनशक्तिके द्वारा अपनेमें लीन कर लेते हैं । अतः इन
 सबसे परे भी आप ही हैं । मैं आप भगवान् कपिलकी
 शरण लेता हूँ ॥ ३३ ॥

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां
 त्वयावतीर्णार्ण उताप्तकामः ।
 परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं
 चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन्^१ विशोकः ॥ ३४

श्रीभगवानुवाच

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके^२ ।
 अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने ॥ ३५

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन्मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
 प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्प्रतायात्मदर्शने ॥ ३६

एष आत्मपथोऽव्यक्तो^३ नष्टः कालेन भूयसा ।
 तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भूतम् ॥ ३७

गच्छ कामं मयाऽऽपृष्टो मयि संन्यस्तकर्मणा ।
 जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज ॥ ३८

मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम् ।
 आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ॥ ३९

मात्र आध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् ।
 वितरिष्ये यया चासौ भयं चातितरिष्यति ॥ ४०

मैत्रेय उवाच

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः ।
 दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ॥ ४१

व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः ।
 निःसङ्गो व्यचरत्क्षोणीमनग्निरनिकेतनः ॥ ४२

मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत्सदसतः परम् ।
 गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते ॥ ४३

निरहंकृतिर्निर्ममश्च^४ निर्वन्द्वः समदृक् स्वदृक् ।
 प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ॥ ४४

प्रभो ! आपकी कृपासे मैं तीनों ऋणोंसे मुक्त हो गया हूँ और मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं। अब मैं संन्यास-मार्गको ग्रहणकर आपका चिन्तन करते हुए शोकरहित होकर विचरूँगा। आप समस्त प्रजाओंके स्वामी हैं, अतएव इसके लिये मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—मुने ! वैदिक और लौकिक सभी कर्मोंमें संसारके लिये मेरा कथन ही प्रमाण है। इसलिये मैंने जो तुमसे कहा था कि 'मैं तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगा', उसे सत्य करनेके लिये ही मैंने यह अवतार लिया है ॥ ३५ ॥ इस लोकमें मेरा यह जन्म लिङ्गशरीरसे मुक्त होनेकी इच्छावाले मुनियोंके लिये आत्मदर्शनमें उपयोगी प्रकृति आदि तत्त्वोंका विवेचन करनेके लिये ही हुआ है ॥ ३६ ॥ आत्मज्ञानका यह सूक्ष्म मार्ग बहुत समयसे लुप्त हो गया है। इसे फिरसे प्रवर्तित करनेके लिये ही मैंने यह शरीर ग्रहण किया है—ऐसा जानो ॥ ३७ ॥ मुने ! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम इच्छानुसार जाओ और अपने सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते हुए दुर्जय मृत्युको जीतकर मोक्षपद प्राप्त करनेके लिये मेरा भजन करो ॥ ३८ ॥ मैं स्वयंप्रकाश और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणोंमें रहनेवाला परमात्मा ही हूँ। अतः जब तुम विशुद्ध बुद्धिके द्वारा अपने अन्तःकरणमें मेरा साक्षात्कार कर लोगे, तब सब प्रकारके शोकोंसे छूटकर निर्भय पद (मोक्ष) प्राप्त कर लोगे ॥ ३९ ॥ माता देवहूतिको भी मैं सम्पूर्ण कर्मोंसे छुड़ानेवाला आत्मज्ञान प्रदान करूँगा, जिससे यह संसाररूप भयसे पार हो जायगी ॥ ४० ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान् कपिलके इस प्रकार कहनेपर प्रजापति कर्दमजी उनको परिक्रमा कर प्रसन्नतापूर्वक वनको चले गये ॥ ४१ ॥ वहाँ अहिसामय संन्यास-धर्मका पालन करते हुए वे एकमात्र श्रीभगवान्की शरण हो गये तथा अग्नि और आश्रमका त्याग करके निःसङ्गभावसे पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ४२ ॥ जो कार्यकारणसे अतीत है, सत्त्वादि गुणोंका प्रकाशक एवं निर्गुण है और अनन्य भक्तिसे ही प्रत्यक्ष होता है, उस परब्रह्ममें उन्होंने अपना मन लगा दिया ॥ ४३ ॥ वे अहंकार, ममता और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे छूटकर समदर्शी (भेददृष्टिसे रहित) हो, सबमें अपने आत्माको ही देखने लगे। उनकी बुद्धि अन्तर्मुख एवं शान्त हो गयी। उस समय धीर कर्दमजी शान्त लहरोंवाले समुद्रके समान जान पड़ने लगे ॥ ४४ ॥

वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि ।
 परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥ ४५
 आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
 अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥ ४६
 इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
 भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥ ४७

परम भक्तिभावके द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीवासुदेवमें चित्त स्थिर हो जानेसे वे सारे बन्धनोंसे मुक्त हो गये ॥ ४५ ॥ सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्मा श्रीभगवान्को और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मस्वरूप श्रीहरिमें स्थित देखने लगे ॥ ४६ ॥ इस प्रकार इच्छा और द्वेषसे रहित, सर्वत्र समबुद्धि और भगवद्भक्तिसे सम्पन्न होकर श्रीकर्मजोने भगवान्का परमपद प्राप्त कर लिया ॥ ४७ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये^१ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥



अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

देवहूतिका प्रश्न तथा भगवान् कपिलद्वारा भक्तियोगकी महिमाका वर्णन

शौनक उवाच

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया ।
 जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥ १
 न^२ ह्यस्य वर्षणः पुंसां वरिष्णः सर्वयोगिनाम् ।
 विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः ॥ २
 यद्यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्माऽऽत्ममायया ।
 तानि मे श्रद्धानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ॥ ३

सूत उवाच

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा ।
 प्राहेदं^३ विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ॥ ४

मैत्रेय उवाच

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
 तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान् कपिलः किल ॥ ५
 तमासीनमकर्माणं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम्^४ ।
 स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः ॥ ६

शौनकजीने पूछा—सूतजी ! तत्त्वोंकी संख्या करनेवाले भगवान् कपिल साक्षात् अजन्मा नारायण होकर भी लोगोंको आत्मज्ञानका उपदेश करनेके लिये अपनी मायासे उत्पन्न हुए थे ॥ १ ॥ मैंने भगवान्के बहुत-से चरित्र सुने हैं, तथापि इन योगिप्रवर पुरुषश्रेष्ठ कपिलजीकी कीर्तिको सुनते-सुनते मेरी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होतीं ॥ २ ॥ सर्वथा स्वतन्त्र श्रीहरि अपनी योगमायाद्वारा भक्तोंकी इच्छाके अनुसार शरीर धारण करके जो-जो लीलाएँ करते हैं, वे सभी कीर्तन करनेयोग्य हैं; अतः आप मुझे वे सभी सुनाइये, मुझे उन्हें सुननेमें बड़ी श्रद्धा है ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—मुने ! आपकी ही भाँति जब विदुरने भी यह आत्मज्ञानविषयक प्रश्न किया, तो श्रीव्यासजीके सखा भगवान् मैत्रेयजी प्रसन्न होकर इस प्रकार कहने लगे ॥ ४ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! पिताके वनमें चले जानेपर भगवान् कपिलजी माताका प्रिय करनेकी इच्छासे उस बिन्दुसर तीर्थमें रहने लगे ॥ ५ ॥ एक दिन तत्त्वसमूहके पारदर्शी भगवान् कपिल कर्मकलापसे विरत हो आसनपर विराजमान थे। उस समय ब्रह्माजीके वचनोंका स्मरण करके देवहूतिने उनसे कहा ॥ ६ ॥

देवहूतिरुवाच^१

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात् ।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥ ७

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥ ८

य आद्यो भगवान् पुंसामीश्वरो वै भवान् किल ।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥ ९

अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि ।
योऽवग्रहोऽहंममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया ॥ १०

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य
नमामि^२ सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥ ११

मैत्रेय उवाच^३

इति स्वमातुर्निर्वद्यमीप्सितं
निशम्य पुंसामपवर्गवर्धनम् ।
धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभिताननः ॥ १२

श्रीभगवानुवाच

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥ १३

तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे ।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम् ॥ १४

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥ १५

अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥ १६

देवहूति बोली—भूमन् ! प्रभो ! इन दुष्ट इन्द्रियोंकी विषय-लालसासे मैं बहुत ऊब गयी हूँ और इनकी इच्छा पूरी करते रहनेसे ही घोर अज्ञानान्धकारमें पड़ी हुई हूँ ॥ ७॥ अब आपकी कृपासे मेरी जन्मपरम्परा समाप्त हो चुकी है, इसीसे इस दुस्तर अज्ञानान्धकारसे पार लगानेके लिये सुन्दर नेत्ररूप आप प्राप्त हुए हैं ॥ ८ ॥ आप सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी भगवान् आदिपुरुष हैं तथा अज्ञानान्धकारसे अन्धे पुरुषोंके लिये नेत्रस्वरूप सूर्यकी भाँति उदित हुए हैं ॥ ९ ॥ देव ! इन देह-गेह आदिमें जो मैं-मेरेपनका दुराग्रह होता है, वह भी आपका ही कराया हुआ है; अतः अब आप मेरे इस महामोहको दूर कीजिये ॥ १० ॥ आप अपने भक्तोंके संसाररूप वृक्षके लिये कुठारके समान हैं; मैं प्रकृति और पुरुषका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आप शरणागतवत्सलकी शरणमें आयी हूँ । आप भागवतधर्म जाननेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, मैं आपको प्रणाम करती हूँ ॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार माता देवहूतिने अपनी जो अभिलाषा प्रकट की, वह परम पवित्र और लोगोंका मोक्षमार्गमें अनुराग उत्पन्न करनेवाली थी, उसे सुनकर आत्मज्ञ सत्पुरुषोंकी गति श्रीकपिलजी उसकी मन-ही-मन प्रशंसा करने लगे और फिर मृदु मुसकानसे सुशोभित मुखारविन्दसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १२ ॥

भगवान् कपिलने कहा—माता ! यह मेरा निश्चय है कि अध्यात्मयोग ही मनुष्योंके आत्यन्तिक कल्याणका मुख्य साधन है, जहाँ दुःख और सुखकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है ॥ १३ ॥ साध्वि ! सब अङ्गोंसे सम्पन्न उस योगका मैंने पहले नारदादि ऋषियोंके सामने, उनकी सुननेकी इच्छा होनेपर, वर्णन किया था । वही अब मैं आपको सुनाता हूँ ॥ १४ ॥

इस जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही माना गया है । विषयोंमें आसक्त होनेपर वह बन्धनका हेतु होता है और परमात्मामें अनुरक्त होनेपर वही मोक्षका कारण बन जाता है ॥ १५ ॥ जिस समय यह मन मैं और मेरेपनके कारण होनेवाले काम-लोभ आदि विकारोंसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःखसे छूटकर सम अवस्थामें आ जाता है ॥ १६ ॥

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
 निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥ १७
 ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना^१ ।
 परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥ १८
 न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
 सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ १९
 प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
 स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥ २०
 तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
 अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥ २१
 मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
 मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥ २२
 मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
 तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्वतचेतसः^२ ॥ २३
 त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः^३ ।
 सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥ २४
 सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
 भवन्ति हत्कर्णरसायनाः कथाः ।
 तज्जोषणादाश्चपवर्गवर्त्मनि
 श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २५
 भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
 दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
 चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
 यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥ २६
 असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
 ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
 योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
 मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥ २७

तब जीव अपने ज्ञान-वैराग्य और भक्तिसे युक्त हृदयसे आत्माको प्रकृतिसे परे, एकमात्र (अद्वितीय), भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और उदासीन (सुख-दुःखशून्य) देखता है तथा प्रकृतिको शक्तिहीन अनुभव करता है ॥ १७-१८ ॥ योगियोंके लिये भगवत्प्राप्तिके निमित्त सर्वात्मा श्रीहरिके प्रति की हुई भक्तिके समान और कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है ॥ १९ ॥ विवेकीजन सङ्ग या आसक्तिको ही आत्माका अच्छेद्य बन्धन मानते हैं; किन्तु वही सङ्ग या आसक्ति जब संतों—महापुरुषोंके प्रति हो जाती है, तो मोक्षका खुला द्वार बन जाती है ॥ २० ॥

जो लोग सहनशील, दयालु, समस्त देहधारियोंके अकारण हितू, किसीके प्रति भी शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्त, सरलस्वभाव और सत्पुरुषोंका सम्मान करनेवाले होते हैं, जो मुझमें अनन्यभावसे सुदृढ़ प्रेम करते हैं, मेरे लिये सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी त्याग देते हैं, और मेरे परायण रहकर मेरी पवित्र कथाओंका श्रवण, कीर्तन करते हैं तथा मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं—उन भक्तोंको संसारके तरह-तरहके ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते हैं ॥ २१—२३ ॥ साध्वि ! ऐसे-ऐसे सर्वसङ्गपरित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हींके सङ्गकी इच्छा करनी चाहिये; क्योंकि वे आसक्तिसे उत्पन्न सभी दोषोंको हर लेनेवाले हैं ॥ २४ ॥ सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा, प्रेम और भक्तिका क्रमशः विकास होगा ॥ २५ ॥ फिर मेरी सृष्टि आदि लीलाओंका चिन्तन करनेसे प्राप्त हुई भक्तिके द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक सुखोंमें वैराग्य हो जानेपर मनुष्य सावधानतापूर्वक योगके भक्तिप्रधान सरल उपायोंसे समाहित होकर मनोनिग्रहके लिये यत्न करेगा ॥ २६ ॥ इस प्रकार प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न हुए शब्दादि विषयोंका त्याग करनेसे, वैराग्ययुक्त ज्ञानसे, योगसे और मेरे प्रति की हुई सुदृढ़ भक्तिसे मनुष्य मुझ अपने अन्तरात्माको इस देहमें ही प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

देवहूतिरुवाच

काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा ।
यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्रवा अहम् ॥ २८
यो योगो भगवद्वाणो निर्वाणात्मस्त्वयोदितः ।
कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम् ॥ २९
तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे ।
सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात् ॥ ३०

मैत्रेय उवाच

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्त्रेहो यत्र तन्वाभिजातः ।
तत्त्वान्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं
प्रोवाच^१ वै भक्तिवितानयोगम् ॥ ३१

श्रीभगवानुवाच

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥ ३२
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ ३३
नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्-
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥ ३४
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥ ३५
तैर्दर्शनीयावयवैरुद्धार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हतात्मनो हतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥ ३६

देवहूतिने कहा—भगवन् ! आपकी समुचित भक्तिका स्वरूप क्या है ? और मेरी-जैसी अबलाओंके लिये कैसी भक्ति ठीक है, जिससे कि मैं सहजमें ही आपके निर्वाणपदको प्राप्त कर सकूँ ? ॥ २८ ॥ निर्वाणस्वरूप प्रभो ! जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान होता है और जो लक्ष्यको बेधनेवाले बाणके समान भगवान्की प्राप्ति करानेवाला है, वह आपका कहा हुआ योग कैसा है और उसके कितने अङ्ग हैं ? ॥ २९ ॥ हरे ! यह सब आप मुझे इस प्रकार समझाइये जिससे कि आपकी कृपासे मैं मन्दमति स्त्रीजाति भी इस दुर्बोध विषयको सुगमतासे समझ सकूँ ॥ ३० ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जिसके शरीरसे उन्होंने स्वयं जन्म लिया था, उस अपनी माताका ऐसा अभिप्राय जानकर कपिलजीके हृदयमें स्नेह उमड़ आया और उन्होंने प्रकृति आदि तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले शास्त्रका, जिसे सांख्य कहते हैं, उपदेश किया । साथ ही भक्ति-विस्तार एवं योगका भी वर्णन किया ॥ ३१ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—माता ! जिसका चित्त एकमात्र भगवान्में ही लग गया है, ऐसे मनुष्यकी वेदविहित कर्मोंमें लगी हुई तथा विषयोंका ज्ञान करानेवाली (कर्मोन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय—दोनों प्रकारकी) इन्द्रियोंकी जो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिके प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, वही भगवान्की अहैतुकी भक्ति है । यह मुक्तिसे भी बढ़कर है; क्योंकि जठरानल जिस प्रकार खाये हुए अन्नको पचाता है, उसी प्रकार यह भी कर्मसंस्कारोंके भण्डाररूप लिङ्गशरीरको तत्काल भस्म कर देती है ॥ ३२-३३ ॥ मेरी चरणसेवामें प्रीति रखनेवाले और मेरी ही प्रसन्नताके लिये समस्त कार्य करनेवाले कितने ही बड़भागी भक्त, जो एक-दूसरेसे मिलकर प्रेमपूर्वक मेरे ही पराक्रमोंकी चर्चा किया करते हैं, मेरे साथ एकीभाव (सायुज्यमोक्ष) की भी इच्छा नहीं करते ॥ ३४ ॥ मा ! वे साधुजन अरुण-नयन एवं मनोहर मुखारविन्दसे युक्त मेरे परम सुन्दर और वरदायक दिव्य रूपोंकी झाँकी करते हैं और उनके साथ सप्रेम सम्भाषण भी करते हैं, जिसके लिये बड़े-बड़े तपस्वी भी लालायित रहते हैं ॥ ३५ ॥ दर्शनीय अङ्ग-प्रत्यङ्ग, उदार हास-विलास, मनोहर चितवन और सुमधुर वाणीसे युक्त मेरे उन रूपोंकी माधुरीमें उनका मन और इन्द्रियाँ फँस जाती हैं । ऐसी मेरी भक्ति न चाहनेपर भी उन्हें परमपदकी प्राप्ति करा देती है ॥ ३६ ॥

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता-
 मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
 श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
 परस्य मे तेऽश्रुवते तु लोके ॥ ३७

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
 नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
 येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
 सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ ३८

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम् ।
 आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ॥ ३९

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
 भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये^१ ॥ ४०

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात् ।
 आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं^२ निवर्तते ॥ ४१

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
 वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥ ४२

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
 क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम्^३ ॥ ४३

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
 तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥ ४४

अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर यद्यपि वे मुझ मायापतिके सत्यादि लोकोंकी भोगसम्पत्ति, भक्तिकी प्रवृत्तिके पश्चात् स्वयं प्राप्त होनेवाली अष्टसिद्धि अथवा वैकुण्ठलोकके भगवदीय ऐश्वर्यकी भी इच्छा नहीं करते, तथापि मेरे धाममें पहुँचनेपर उन्हें ये सब विभूतियाँ स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं ॥ ३७ ॥ जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव हूँ—वे मेरे ही आश्रयमें रहनेवाले भक्तजन शान्तिमय वैकुण्ठधाममें पहुँचकर किसी प्रकार भी इन दिव्य भोगोंसे रहित नहीं होते और न उन्हें मेरा कालचक्र ही ग्रस सकता है ॥ ३८ ॥

माताजी ! जो लोग इहलोक, परलोक और इन दोनों लोकोंमें साथ जानेवाले वासनामय लिङ्गदेहको तथा शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले जो धन, पशु एवं गृह आदि पदार्थ हैं, उन सबको और अन्यान्य संग्रहोंको भी छोड़कर अनन्य भक्तिसे सब प्रकार मेरा ही भजन करते हैं—उन्हें मैं मृत्युरूप संसारसागरसे पार कर देता हूँ ॥ ३९-४० ॥ मैं साक्षात् भगवान् हूँ, प्रकृति और पुरुषका भी प्रभु हूँ तथा समस्त प्राणियोंका आत्मा हूँ; मेरे सिवा और किसीका आश्रय लेनेसे मृत्युरूप महाभयसे छुटकारा नहीं मिल सकता ॥ ४१ ॥ मेरे भयसे यह वायु चलती है, मेरे भयसे सूर्य तपता है, मेरे भयसे इन्द्र वर्षा करता और अग्नि जलाती है तथा मेरे ही भयसे मृत्यु अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है ॥ ४२ ॥ योगिजन ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तियोगके द्वारा शान्ति प्राप्त करनेके लिये मेरे निर्भय चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं ॥ ४३ ॥ संसारमें मनुष्यके लिये सबसे बड़ी कल्याणप्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोगके द्वारा मुझमें लगकर स्थिर हो जाय ॥ ४४ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने^४
 पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥



अथ षड्विंशोऽध्यायः

महदादि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥ १

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ २

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥ ३

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ ४

गुणैर्विचित्राः सृजतीं स्वरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥ ५

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥ ६

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥ ७

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥ ८

देवहूतिरुवाच

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम ।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥ ९

श्रीभगवानुवाच

यत्तन्निगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥ १०

पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥ ११

श्रीभगवान्ने कहा—माताजी ! अब मैं तुम्हें

प्रकृति आदि सब तत्त्वोंके अलग-अलग लक्षण बतलाता हूँ; इन्हें जानकर मनुष्य प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥ आत्मदर्शनरूप ज्ञान ही पुरुषके मोक्षका कारण है और वही उसकी अहङ्काररूप हृदयग्रन्थिका छेदन करनेवाला है, ऐसा पण्डितजन कहते हैं। उस ज्ञानका मैं तुम्हारे आगे वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥ यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृतिसे परे, अन्तःकरणमें स्फुरित होनेवाला और स्वयंप्रकाश है ॥ ३ ॥ उस सर्वव्यापक पुरुषने अपने पास लीला-विलासपूर्वक आयी हुई अव्यक्त और त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायाको स्वेच्छासे स्वीकार कर लिया ॥ ४ ॥ लीलापरायण प्रकृति अपने सत्त्वादि गुणोंद्वारा उन्हींके अनुरूप प्रजाकी सृष्टि करने लगी; यह देख पुरुष ज्ञानको आच्छादित करनेवाली उसकी आवरणशक्तिसे मोहित हो गया, अपने स्वरूपको भूल गया ॥ ५ ॥ इस प्रकार अपनेसे भिन्न प्रकृतिको ही अपना स्वरूप समझ लेनेसे पुरुष प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको ही कर्ता मानने लगता है ॥ ६ ॥ इस कर्तृत्वा भिमानसे ही अकर्ता, स्वाधीन, साक्षी और आनन्दस्वरूप पुरुषको जन्म-मृत्युरूप बन्धन एवं परतन्त्रताकी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ कार्यरूप शरीर, कारणरूप इन्द्रिय तथा कर्तारूप इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवताओंमें पुरुष जो अपनेपनका आरोप कर लेता है, उसमें पण्डितजन प्रकृतिको की कारण मानते हैं तथा वास्तवमें प्रकृतिसे परे होकर भी जो प्रकृतिस्थ हो रहा है, उस पुरुषको सुख-दुःखोंके भोगनेमें कारण मानते हैं ॥ ८ ॥

देवहूतिने कहा—पुरुषोत्तम ! इस विश्वके स्थूल-सूक्ष्म कार्य जिनके स्वरूप हैं तथा जो इसके कारण हैं उन प्रकृति और पुरुषका लक्षण भी आप मुझसे कहिये ॥ ९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—जो त्रिगुणात्मक, अव्यक्त, नित्य और कार्य-कारणरूप है तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण विशेष धर्मोंका आश्रय है, उस प्रधान नामक तत्त्वको ही प्रकृति कहते हैं ॥ १० ॥ पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रिय—इन चौबीस तत्त्वोंके समूहको विद्वान् लोग प्रकृतिका कार्य मानते हैं ॥ ११ ॥

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः ।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ॥ १२

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्गसननासिकाः ।
वाक्करो चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥ १३

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥ १४

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह ।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः ॥ १५

प्रभावं^१ पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम् ।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः ॥ १६

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ॥ १७

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ॥ १८

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥ १९

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसापिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥ २०

यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् ।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥ २१

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः ।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥ २२

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं; गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच तन्मात्र माने गये हैं ॥ १२ ॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु—ये दस इन्द्रियाँ हैं ॥ १३ ॥ मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—इन चारके रूपमें एक ही अन्तःकरण अपनी सङ्कल्प, निश्चय, चिन्ता और अभिमानरूपा चार प्रकारकी वृत्तियोंसे लक्षित होता है ॥ १४ ॥ इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने सगुण ब्रह्मके सन्निवेशस्थान इन चौबीस तत्त्वोंकी संख्या बतलायी है। इनके सिवा जो काल है, वह पचीसवाँ तत्त्व है ॥ १५ ॥ कुछ लोग कालको पुरुषसे भिन्न तत्त्व न मानकर पुरुषका प्रभाव अर्थात् ईश्वरकी संहारकारिणी शक्ति बतलाते हैं। जिससे मायाके कार्यरूप देहादिमें आत्मत्वका अभिमान करके अहङ्कारसे मोहित और अपनेको कर्ता माननेवाले जीवको निरन्तर भय लगा रहता है ॥ १६ ॥ मनुपुत्रि ! जिनकी प्रेरणासे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृतिमें गति उत्पन्न होती है, वास्तवमें वे पुरुषरूप भगवान् ही 'काल' कहे जाते हैं ॥ १७ ॥ इस प्रकार जो अपनी मायाके द्वारा सब प्राणियोंके भीतर जीवरूपसे और बाहर कालरूपसे व्याप्त हैं, वे भगवान् ही पचीसवें तत्त्व हैं ॥ १८ ॥

जब परमपुरुष परमात्माने जीवोंके अदृष्टवश क्षोभको प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवोंकी उत्पत्तिस्थानरूपा अपनी मायामें चिच्छक्तिरूप वीर्य स्थापित किया, तो उससे तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥ लय-विक्षेपादि रहित तथा जगत्के अङ्कुररूप इस महत्तत्त्वने अपनेमें स्थित विश्वको प्रकट करनेके लिये अपने स्वरूपको आच्छादित करनेवाले प्रलयकालीन अन्धकारको अपने ही तेजसे पी लिया ॥ २० ॥

जो सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान्की उपलब्धिका स्थानरूप चित्त है, वही महत्तत्त्व है और उसीको 'वासुदेव' कहते हैं * ॥ २१ ॥ जिस प्रकार पृथ्वी आदि अन्य पदार्थोंके संसर्गसे पूर्व जल अपनी स्वाभाविक (फेन-तरङ्गादिरहित) अवस्थामें अत्यन्त स्वच्छ, विकारशून्य एवं शान्त होता है, उसी प्रकार अपनी स्वाभाविकी अवस्थाकी दृष्टिसे स्वच्छत्व, अविकारित्व और शान्तत्व ही वृत्तियोंसहित चित्तका लक्षण कहा गया है ॥ २२ ॥ तदनन्तर भगवान्की वीर्यरूप

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्दीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत ॥ २३

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥ २४

सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते^१ ।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥ २५

कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।
शान्तघोरविमूढत्वमिति^२ वा स्यादहंकृते ॥ २६

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः^३ ॥ २७

यद्विदुर्हानिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम् ।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ॥ २८

तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वमभूत्सति ।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ २९

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्^४ ॥ ३०

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः ।
प्राणस्य हि क्रिया शक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥ ३१

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्दीर्यचोदितात् ।
शब्दमात्रमभूत्तस्मात्त्रयः^५ श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥ ३२

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च ।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥ ३३

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥ ३४

चित्-शक्तिसे उत्पन्न हुए महत्तत्त्वके विकृत होनेपर उससे क्रिया-शक्तिप्रधान अहङ्कार उत्पन्न हुआ । वह वैकारिक, तैजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका है । उसीसे क्रमशः मन, इन्द्रियों और पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई ॥ २३-२४ ॥ इस भूत, इन्द्रिय और मनरूप अहङ्कारको ही पण्डितजन साक्षात् 'सङ्कर्षण' नामक सहस्र शिरवाले अनन्तदेव कहते हैं ॥ २५ ॥ इस अहङ्कारका देवतारूपसे कर्तृत्व, इन्द्रियरूपसे करणत्व और पञ्चभूतरूपसे कार्यत्व लक्षण है तथा सत्त्वादि गुणोंके सम्बन्धसे शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व भी इसीके लक्षण हैं ॥ २६ ॥ उपर्युक्त तीन प्रकारके अहङ्कारमेंसे वैकारिक अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे मन हुआ, जिसके सङ्कल्प-विकल्पोसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है ॥ २७ ॥ यह मनस्तत्त्व ही इन्द्रियोंके अधिष्ठाता 'अनिरुद्ध' के नामसे प्रसिद्ध है । योगिजन शरत्कालीन नीलकमलके समान श्याम वर्णवाले इन अनिरुद्धजीकी शनैः-शनैः मनको वशीभूत करके आराधना करते हैं ॥ २८ ॥ साध्वि ! फिर तैजस अहङ्कारमें विकार होनेपर उससे बुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ । वस्तुका स्फुरणरूप विज्ञान और इन्द्रियोंके व्यापारमें सहायक होना—पदार्थोंका विशेष ज्ञान करना—ये बुद्धिके कार्य हैं ॥ २९ ॥ वृत्तियोंके भेदसे संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान), निश्चय, स्मृति और निद्रा भी बुद्धिके ही लक्षण हैं । यह बुद्धितत्त्व ही 'प्रद्युम्न' है ॥ ३० ॥ इन्द्रियाँ भी तैजस अहङ्कारका ही कार्य हैं । कर्म और ज्ञानके विभागसे उनके कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भेद हैं । इनमें कर्म प्राणकी शक्ति है और ज्ञान बुद्धिकी ॥ ३१ ॥

भगवान्की चेतनशक्तिकी प्रेरणासे तामस अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे शब्दतन्मात्रका प्रादुर्भाव हुआ । शब्दतन्मात्रसे आकाश तथा शब्दका ज्ञान करानेवाली श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न हुई ॥ ३२ ॥ अर्थका प्रकाशक होना, ओटमें खड़े हुए वक्ताका भी ज्ञान करा देना और आकाशका सूक्ष्म रूप होना—विद्वानोंके मतमें यही शब्दके लक्षण हैं ॥ ३३ ॥ भूतोंको अवकाश देना, सबके बाहर-भीतर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मनका आश्रय होना—ये आकाशके वृत्ति (कार्य) रूप लक्षण हैं ॥ ३४ ॥

नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः ।
 स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः ॥ ३५
 मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च ।
 एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥ ३६
 चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।
 सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥ ३७
 वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत् ।
 समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥ ३८
 द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च ।
 तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥ ३९
 द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम् ।
 तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥ ४०
 रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् ।
 रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥ ४१
 कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा^१ ।
 भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥ ४२
 क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम् ।
 तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥ ४३
 रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् ।
 गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥ ४४
 करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः^२ पृथक् ।
 द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥ ४५
 भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।
 सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥ ४६

फिर शब्दतन्मात्रके कार्य आकाशमें कालगतिसे विकार होनेपर स्पर्शतन्मात्र हुआ और उससे वायु तथा स्पर्शका ग्रहण करानेवाली त्वगिन्द्रिय (त्वचा) उत्पन्न हुई ॥ ३५ ॥ कोमलता, कठोरता, शीतलता और उष्णता तथा वायुका सूक्ष्म रूप होना—ये स्पर्शके लक्षण हैं ॥ ३६ ॥ वृक्षकी शाखा आदिको हिलाना, तृणादिको इकट्ठा कर देना, सर्वत्र पहुँचना, गन्धादियुक्त द्रव्यको घ्राणादि इन्द्रियोके पास तथा शब्दको श्रोत्रेन्द्रियके समीप ले जाना तथा समस्त इन्द्रियोंको कार्यशक्ति देना—ये वायुकी वृत्तियोंके लक्षण हैं ॥ ३७ ॥

तदनन्तर दैवकी प्रेरणासे स्पर्शतन्मात्रविशिष्ट वायुके विकृत होनेपर उससे रूपतन्मात्र हुआ तथा उससे तेज और रूपको उपलब्ध करानेवाली नेत्रेन्द्रियका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३८ ॥ साध्वि ! वस्तुके आकारका बोध कराना, गौण होना—द्रव्यके अङ्गरूपसे प्रतीत होना, द्रव्यका जैसा आकार-प्रकार और परिमाण आदि हो, उसी रूपमें उपलक्षित होना तथा तेजका स्वरूपभूत होना—ये सब रूपतन्मात्रकी वृत्तियाँ हैं ॥ ३९ ॥ चमकना, पकाना, शीतको दूर करना, सुखाना, भूख-प्यास पैदा करना और उनकी निवृत्तिके लिये भोजन एवं जलपान कराना—ये तेजकी वृत्तियाँ हैं ॥ ४० ॥

फिर दैवकी प्रेरणासे रूपतन्मात्रमय तेजके विकृत होनेपर उससे रसतन्मात्र हुआ और उससे जल तथा रसको ग्रहण करानेवाली रसनेन्द्रिय (जिह्वा) उत्पन्न हुई ॥ ४१ ॥ रस अपने शुद्ध स्वरूपमें एक ही है; किन्तु अन्य भौतिक पदार्थोंके संयोगसे वह कसैला, मीठा, तीखा, कड़वा, खट्टा और नमकीन आदि कई प्रकारका हो जाता है ॥ ४२ ॥ गीला करना, मिट्टी आदिको पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, जीवित रखना, प्यास बुझाना, पदार्थोंको मृदु कर देना, तापकी निवृत्ति करना और कृपादिमेंसे निकाल लिये जानेपर भी वहाँ बार-बार पुनः प्रकट हो जाना—ये जलकी वृत्तियाँ हैं ॥ ४३ ॥

इसके पश्चात् दैवप्रेरित रसस्वरूप जलके विकृत होनेपर उससे गन्धतन्मात्र हुआ और उससे पृथ्वी तथा गन्धको ग्रहण करानेवाली घ्राणेन्द्रिय प्रकट हुई ॥ ४४ ॥ गन्ध एक ही है; तथापि परस्पर मिले हुए द्रव्यभागोंकी न्यूनाधिकतासे वह मिश्रितगन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध, मृदु, तीव्र और अम्ल (खट्टा) आदि अनेक प्रकारका हो जाता है ॥ ४५ ॥ प्रतिमादिरूपसे ब्रह्मकी साकार-भावनाका आश्रय होना, जल आदि कारण-तत्त्वोंसे भिन्न किसी दूसरे आश्रयकी अपेक्षा किये बिना ही स्थित

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रेत्रमुच्यते ।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥ ४७

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते ।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः ।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते ॥ ४८

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात् ।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते^१ ॥ ४९

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरूपाविशत् ॥ ५०

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥ ५१

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः ।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः^२ ।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥ ५२

हिरण्यमादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥ ५३

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोऽतो घ्राण एतयोः ॥ ५४

घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी^३ चक्षुरेतयोः ।
तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां^४ कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ॥ ५५

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः ।
तत ओषधयश्चासन् शिश्रं निर्बिभेदे ततः ॥ ५६

रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम् ।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युलोकभयङ्करः ॥ ५७

रहना, जल आदि अन्य पदार्थोंको धारण करना, आकाशादिका अवच्छेदक होना (घटाकाश, मठाकाश आदि भेदोंको सिद्ध करना) तथा परिणामविशेषसे सम्पूर्ण प्राणियोंके [स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि] गुणोंको प्रकट करना—ये पृथ्वीके कार्यरूप लक्षण हैं ॥ ४६ ॥

आकाशका विशेष गुण शब्द जिसका विषय है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है, वायुका विशेष गुण स्पर्श जिसका विषय है, वह त्वगिन्द्रिय है, ॥ ४७ ॥ तेजका विशेष गुण रूप जिसका विषय है, वह नेत्रेन्द्रिय है, जलका विशेष गुण रस जिसका विषय है, वह रसनेन्द्रिय है और पृथ्वीका विशेष गुण गन्ध जिसका विषय है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं ॥ ४८ ॥ वायु आदि कार्य-तत्त्वोंमें आकाशादि कारण-तत्त्वोंके रहनेसे उनके गुण भी अनुगत देखे जाते हैं; इसलिये समस्त महाभूतोंके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध केवल पृथ्वीमें ही पाये जाते हैं ॥ ४९ ॥ जब महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चभूत—ये सात तत्त्व परस्पर मिल न सके—पृथक्-पृथक् ही रह गये, तब जगत्के आदिकारण श्रीनारायणने काल, अदृष्ट और सत्त्वादि गुणोंके सहित उनमें प्रवेश किया ॥ ५० ॥

फिर परमात्माके प्रवेशसे क्षुब्ध और आपसमें मिले हुए उन तत्त्वोंसे एक जड़ अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्डसे इस विराट् पुरुषकी अभिव्यक्ति हुई ॥ ५१ ॥ इस अण्डका नाम विशेष है, इसीके अन्तर्गत श्रीहरिके स्वरूपभूत चौदहों भुवनोंका विस्तार है। यह चारों ओरसे क्रमशः एक-दूसरेसे दसगुने जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार और महत्तत्त्व—इन छः आवरणोंसे घिरा हुआ है। इन सबके बाहर सातवाँ आवरण प्रकृतिका है ॥ ५२ ॥ कारणमय जलमें स्थित उस तेजोमय अण्डसे उठकर उस विराट् पुरुषने पुनः उसमें प्रवेश किया और फिर उसमें कई प्रकारके छिद्र किये ॥ ५३ ॥ सबसे पहले उसमें मुख प्रकट हुआ, उससे वाक्-इन्द्रिय और उसके अनन्तर वाक्का अधिष्ठाता अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर नाकके छिद्र (नथुने) प्रकट हुए, उनसे प्राणसहित घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई ॥ ५४ ॥ घ्राणके बाद उसका अधिष्ठाता वायु उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् नेत्रगोलक प्रकट हुए, उनसे चक्षु-इन्द्रिय प्रकट हुई और उसके अनन्तर उसका अधिष्ठाता सूर्य उत्पन्न हुआ। फिर कानोंके छिद्र प्रकट हुए, उनसे उनकी इन्द्रिय श्रोत्र और उसके अभिमानी दिग्देवता प्रकट हुए ॥ ५५ ॥ इसके बाद उस विराट् पुरुषके त्वचा उत्पन्न हुई। उससे रोम, मूँछ-दाढ़ी तथा सिरके बाल प्रकट हुए और उनके बाद त्वचाकी अभिमानी ओषधियाँ (अन्न आदि) उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् लिङ्ग प्रकट हुआ ॥ ५६ ॥ उससे वीर्य और वीर्यके बाद लिङ्गका अभिमानी आपोदेव (जल) उत्पन्न

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराद् ।
 पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ॥ ५८
 नाड्योऽस्य निरभिद्यन्तताभ्यो लोहितमाभृतम्^१ ।
 नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत् ॥ ५९
 क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्वेतयोरभूत् ।
 अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम् ॥ ६०
 मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः ।
 अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥ ६१
 एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन् ।
 पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥ ६२
 वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराद् ।
 घ्राणेन^२ नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराद् ॥ ६३
 अक्षिणी चक्षुषाऽऽदित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराद् ।
 श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराद् ॥ ६४
 त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराद् ।
 रेतसा शिश्रमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराद् ॥ ६५
 गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराद् ।
 हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराद् ॥ ६६
 विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराद् ।
 नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराद् ॥ ६७
 क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराद् ।
 हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराद् ॥ ६८
 बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराद् ।
 रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराद् ॥ ६९

हुआ । फिर गुदा प्रकट हुई, उससे अपानवायु और अपानके बाद उसका अभिमानी लोकोंको भयभीत करनेवाला मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ ॥ ५७ ॥ तदनन्तर हाथ प्रकट हुए, उनसे बल और बलके बाद हस्तेन्द्रियका अभिमानि इन्द्र उत्पन्न हुआ । फिर चरण प्रकट हुए, उनसे गति (गमनकी क्रिया) और फिर पादेन्द्रियका अभिमानी विष्णुदेवता उत्पन्न हुआ ॥ ५८ ॥ इसी प्रकार जब विराट् पुरुषके नाडियाँ प्रकट हुई, तो उनसे रुधिर उत्पन्न हुआ और उससे नदियाँ हुई । फिर उसके उदर (पेट) प्रकट हुआ ॥ ५९ ॥ उससे क्षुधा-पिपासाकी अभिव्यक्ति हुई और फिर उदरका अभिमानी समुद्रदेवता उत्पन्न हुआ । तत्पश्चात् उसके हृदय प्रकट हुआ, हृदयसे मनका प्राकट्य हुआ ॥ ६० ॥ मनके बाद उसका अभिमानी देवता चन्द्रमा हुआ । फिर हृदयसे ही बुद्धि और उसके बाद उसका अभिमानी ब्रह्मा हुआ । तत्पश्चात् अहङ्कार और उसके अनन्तर उसका अभिमानी रुद्रदेवता उत्पन्न हुआ । इसके बाद चित्त और उसका अभिमानी क्षेत्रज्ञ प्रकट हुआ ॥ ६१ ॥

जब ये क्षेत्रज्ञके अतिरिक्त सारे देवता उत्पन्न होकर भी विराट् पुरुषको उठानेमें असमर्थ रहे, तो उसे उठानेके लिये क्रमशः फिर अपने-अपने उत्पत्तिस्थानोंमें प्रविष्ट होने लगे ॥ ६२ ॥ अग्निने वाणीके साथ मुखमें प्रवेश किया, परन्तु इससे विराट् पुरुष न उठा । वायुने घ्राणेन्द्रियके सहित नासाछिद्रोंमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६३ ॥ सूर्यने चक्षुके सहित नेत्रोंमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा । दिशाओंने श्रवणेन्द्रियके सहित कानोंमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६४ ॥ ओषधियोंने रोमोंके सहित त्वचामें प्रवेश किया फिर भी विराट् पुरुष न उठा । जलने वीर्यके साथ लिङ्गमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६५ ॥ मृत्युने अपानके साथ गुदामें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा । इन्द्रने बलके साथ हाथोंमें प्रवेश किया, परन्तु इससे भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६६ ॥ विष्णुने गतिके सहित चरणोंमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा । नदियोंने रुधिरके सहित नाडियोंमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६७ ॥ समुद्रने क्षुधा-पिपासाके सहित उदरमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा । चन्द्रमाने मनके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६८ ॥ ब्रह्माने बुद्धिके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा । रुद्रने अहङ्कारके सहित उसी हृदयमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६९ ॥

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥ ७०

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥ ७१

तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ ७२

किन्तु जब चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञने चित्तके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तो विराट् पुरुष उसी समय जलसे उठकर खड़ा हो गया ॥ ७० ॥ जिस प्रकार लोकमें प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञकी सहायताके बिना सोये हुए प्राणीको अपने बलसे नहीं उठा सकते, उसी प्रकार विराट् पुरुषको भी वे क्षेत्रज्ञ परमात्माके बिना नहीं उठा सके ॥ ७१ ॥ अतः भक्ति, वैराग्य और चित्तकी एकाग्रतासे प्रकट हुए ज्ञानके द्वारा उस अन्तरात्मस्वरूप क्षेत्रज्ञको इस शरीरमें स्थित जानकर उसका चिन्तन करना चाहिये ॥ ७२ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये तत्त्वसमाम्नाये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥



अथ सप्तविंशोऽध्यायः

प्रकृति-पुरुषके विवेकसे मोक्ष-प्राप्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ १

स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेषु भिविषज्जते ।
अहंक्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥ २

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ ३

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो^१ यथा ॥ ४

अत^२ एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि ।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ ५

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन् श्रद्धयान्वितः ।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च^३ ॥ ६

सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा^४ ॥ ७

श्रीभगवान् कहते हैं—माताजी ! जिस तरह जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके साथ जलके शीतलता, चञ्चलता आदि गुणोंका सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृतिके कार्य शरीरमें स्थित रहनेपर भी आत्मा वास्तवमें उसके सुख-दुःखादि धर्मोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह स्वभावसे निर्विकार, अकर्ता और निर्गुण है ॥ १ ॥ किन्तु जब वही प्राकृत गुणोंसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब अहङ्कारसे मोहित होकर 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानने लगता है ॥ २ ॥ उस अभिमानके कारण वह देहके संसर्गसे किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मोंके दोषसे अपनी स्वाधीनता और शान्ति खो बैठता है तथा उत्तम, मध्यम और नीच योनियोंमें उत्पन्न होकर संसारचक्रमें घूमता रहता है ॥ ३ ॥ जिस प्रकार स्वप्नमें भय-शोकादिका कोई कारण न होनेपर भी स्वप्नके पदार्थोंमें आस्था हो जानेके कारण दुःख उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भय-शोक, अहं-मम एवं जन्म-मरणादिरूप संसारकी कोई सत्ता न होनेपर भी अविद्यावश विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे जीवका संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता ॥ ४ ॥ इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि असन्मार्ग (विषय-चिन्तन) में फँसे हुए चित्तको तीव्र भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा धीरे-धीरे अपने वशमें लावे ॥ ५ ॥

यमादि योगसाधनोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्यास—चित्तको बारंबार एकाग्र करते हुए मुझमें सच्चा भाव रखने, मेरी कथा श्रवण करने, समस्त प्राणियोंमें समभाव रखने, किसीसे

यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ् मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ ८

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ९

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।
उपलभ्यात्मनाऽऽत्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक् ॥ १०

मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति^१ प्रतिपद्यते ।
सतो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम् ॥ ११

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते ।
स्वाभासेन तथा^२ सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः ॥ १२

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ॥ १३

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः ॥ १४

मन्यमानस्तदाऽऽत्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा ।
नष्टेऽहङ्कारणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ॥ १५

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते ।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः ॥ १६

देवहूतिरुवाच

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मत्र विमुञ्चति कर्हिचित् ।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः^३ प्रभो ॥ १७

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः ।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ॥ १८

वैर न करने, आसक्तिके त्याग, ब्रह्मचर्य, मौन-व्रत और बलिष्ठ (अर्थात् भगवान्को समर्पित किये हुए) स्वधर्मसे जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो गयी है कि—प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता है उसीमें सन्तुष्ट रहता है, परिमित भोजन करता है, सदा एकान्तमें रहता है, शान्तस्वभाव है, सबका मित्र है, दयालु और धैर्यवान् है, प्रकृति और पुरुषके वास्तविक स्वरूपके अनुभवसे प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानके कारण स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियोंके सहित इस देहमें मैं-मेरेपनका मिथ्या अभिनिवेश नहीं करता, बुद्धिकी जाग्रदादि अवस्थाओंसे भी अलग हो गया है तथा परमात्माके सिवा और कोई वस्तु नहीं देखता—वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रोंसे सूर्यको देखनेकी भाँति अपने शुद्ध अन्तःकरणद्वारा परमात्माका साक्षात्कार कर उस अद्वितीय ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है, जो देहादि सम्पूर्ण उपाधियोंसे पृथक्, अहङ्कारादि मिथ्या वस्तुओंमें सत्यरूपसे भासनेवाला, जगत्कारणभूता प्रकृतिका अधिष्ठान, महदादि कार्यवर्गका प्रकाशक और कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त है ॥ ६—११ ॥

जिस प्रकार जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब दीवालपर पड़े हुए अपने आभासके सम्बन्धसे देखा जाता है और जलमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बसे आकाशस्थित सूर्यका ज्ञान होता है, उसी प्रकार वैकारिक आदि भेदसे तीन प्रकारका अहङ्कार देह, इन्द्रिय और मनमें स्थित अपने प्रतिबिम्बोंसे लक्षित होता है और फिर सत् परमात्माके प्रतिबिम्बयुक्त उस अहङ्कारके द्वारा सत्य-ज्ञानस्वरूप परमात्माका दर्शन होता है—जो सुषुप्तिके समय निद्रासे शब्दादि भूतसूक्ष्म, इन्द्रिय और मनबुद्धि आदिके अव्याकृतमें लीन हो जानेपर स्वयं जागृत रहता है और सर्वथा अहङ्कारशून्य है ॥ १२—१४ ॥ (जाग्रत्-अवस्थामें यह आत्मा भूतसूक्ष्मादि दृश्यवर्गके द्रष्टारूपमें स्पष्टतया अनुभवमें आता है; किन्तु) सुषुप्तिके समय अपने उपाधिभूत अहङ्कारका नाश होनेसे वह भ्रमवश अपनेको ही नष्ट हुआ मान लेता है और जिस प्रकार धनका नाश हो जानेपर मनुष्य अपनेको भी नष्ट हुआ मानकर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार वह भी अत्यन्त विवश होकर नष्टवत् हो जाता है ॥ १५ ॥ माताजी ! इन सब बातोंका मनन करके विवेकी पुरुष अपने आत्माका अनुभव कर लेता है, जो अहङ्कारके सहित सम्पूर्ण तत्त्वोंका अधिष्ठान और प्रकाशक है ॥ १६ ॥

देवहूतिने पूछा—प्रभो ! पुरुष और प्रकृति दोनों ही नित्य और एक-दूसरेके आश्रयसे रहनेवाले हैं, इसलिये प्रकृति तो पुरुषको कभी छोड़ ही नहीं सकती ॥ १७ ॥ ब्रह्मन् ! जिस प्रकार गन्ध और पृथ्वी तथा रस और जलकी पृथक्-पृथक्

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।
 गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ॥ १९
 क्वचित्^१ तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम्^२ ।
 अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुनः प्रत्यवतिष्ठते^३ ॥ २०

श्रीभगवानुवाच^४

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
 तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥ २१
 ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
 तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥ २२
 प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
 तिरोभवित्री शनैरग्रेयोनिरिवारणिः ॥ २३
 भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
 नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥ २४
 यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
 स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥ २५
 एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।
 युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥ २६
 यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
 सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ २७
 मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
 निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्यारख्यं मदाश्रयम् ॥ २८
 प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाञ्छिन्नसंशयः ।
 यद्वत्त्वा न निवर्तेत योगी^५ लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ २९
 यदा न योगोपचितासु चेतो
 मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग^६ ।
 अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद्
 आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ ३०

स्थिति नहीं हो सकती, उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति भी एक-दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते ॥ १८ ॥ अतः जिनके आश्रयसे अकर्ता पुरुषको यह कर्मबन्धन प्राप्त हुआ है, उन प्रकृतिके गुणोंके रहते हुए उसे कैवल्यपद कैसे प्राप्त होगा ? ॥ १९ ॥ यदि तत्त्वोंका विचार करनेसे कभी यह संसारबन्धनका तीव्र भय निवृत्त हो भी जाय, तो भी उसके निमित्तभूत प्राकृत गुणोंका अभाव न होनेसे वह भय फिर उपस्थित हो सकता है ॥ २० ॥

श्रीभगवान्ने कहा—माताजी ! जिस प्रकार अग्निका उत्पत्तिस्थान अरणि अपनेसे ही उत्पन्न अग्निसे जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निष्कामभावसे किये हुए स्वधर्मपालनद्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेसे बहुत समयतक भगवत्कथा-श्रवणद्वारा पुष्ट हुई मेरी तीव्र भक्तिसे, तत्त्वसाक्षात्कार करानेवाले ज्ञानसे, प्रबल वैराग्यसे, व्रतनियमादिके सहित किये हुए ध्यानाभ्याससे और चित्तकी प्रगाढ़ एकाग्रतासे पुरुषकी प्रकृति (अविद्या) दिन-रात क्षीण होती हुई धीरे-धीरे लीन हो जाती है ॥ २१—२३ ॥ फिर नित्यप्रति दोष दीखनेसे भोगकर त्यागी हुई वह प्रकृति अपने स्वरूपमें स्थित और स्वतन्त्र (बन्धनमुक्त) हुए उस पुरुषका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ॥ २४ ॥ जैसे सोये हुए पुरुषको स्वप्नमें कितने ही अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है, किन्तु जग पड़नेपर उसे उन स्वप्नके अनुभवोंसे किसी प्रकारका मोह नहीं होता ॥ २५ ॥ उसी प्रकार जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है और जो निरन्तर मुझमें ही मन लगाये रहता है, उस आत्माराम मुनिका प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ॥ २६ ॥ जब मनुष्य अनेकों जन्मोंमें बहुत समयतक इस प्रकार आत्मचिन्तनमें ही निमग्न रहता है, तब उसे ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी प्रकारके भोगोंसे वैराग्य हो जाता है ॥ २७ ॥ मेरा वह धैर्यवान् भक्त मेरी ही महती कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभवके द्वारा सारे संशयोंसे मुक्त हो जाता है और फिर लिङ्गदेहका नाश होनेपर एकमात्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत कैवल्यसंज्ञक मङ्गलमय पदको सहजमें ही प्राप्त कर लेता है, जहाँ पहुँचनेपर योगी फिर लौटकर नहीं आता ॥ २८—२९ ॥ माताजी ! यदि योगीका चित्त योगसाधनासे बढ़ी हुई मायामयी अणिमादि सिद्धियोंमें, जिनकी प्राप्ति का योगके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है, नहीं फँसता, तो उसे मेरा वह अविनाशी परमपद प्राप्त होता है—जहाँ मृत्युकी कुछ भी दाल नहीं गलती ॥ ३० ॥

—★—

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने^७ सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

—★—

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

अष्टाङ्गयोगकी विधि

श्रीभगवानुवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्यथम् ॥ १

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माद्य निवर्तनम् ।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविद्यरणार्चनम् ॥ २

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा ।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ ३

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः ।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥ ४

मौनं सदाऽऽसनजयस्थैर्यं प्राणजयः शनैः ।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥ ५

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् ।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथाऽऽत्मनः ॥ ६

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्यथम् ।
बुद्ध्या युञ्जीत शनैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥ ७

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्ति^१ समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥ ८

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ ९

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ १०

प्राणायामैर्द्विदोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान्^२ ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ ११

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ॥ १२

कपिलभगवान् कहते हैं— माताजी ! अब मैं तुम्हें सबीज (ध्येयस्वरूपके आलम्बनसे युक्त) योगका लक्षण बताता हूँ, जिसके द्वारा चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर परमात्माके मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है ॥ १ ॥ यथाशक्ति शास्त्रविहित स्वधर्मका पालन करना तथा शास्त्रविरुद्ध आचरणका परित्याग करना, प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहना, आत्मज्ञानियोंके चरणोंकी पूजा करना, ॥ २ ॥ विषयवासनाओंको बढ़ानेवाले कर्मोंसे दूर रहना, संसारबन्धनसे छुड़ानेवाले धर्मोंमें प्रेम करना, पवित्र और परिमित भोजन करना, निरन्तर एकान्त और निर्भय स्थानमें रहना, ॥ ३ ॥ मन, वाणी और शरीरसे किसी जीवको न सताना, सत्य बोलना, चोरी न करना, आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका संग्रह न करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, तपस्या करना (धर्मपालनके लिये कष्ट सहना), बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्की पूजा करना, ॥ ४ ॥ वाणीका संयम करना, उत्तम आसनोंका अभ्यास करके स्थिरता-पूर्वक बैठना, धीरे-धीरे प्राणायामके द्वारा श्वासको जीतना, इन्द्रियोंको मनके द्वारा विषयोंसे हटाकर अपने हृदयमें ले जाना ॥ ५ ॥ मूलाधार आदि किसी एक केन्द्रमें मनके सहित प्राणोंको स्थिर करना, निरन्तर भगवान्की लीलाओंका चिन्तन और चित्तको समाहित करना ॥ ६ ॥ इनसे तथा व्रत-दानादि दूसरे साधनोंसे भी सावधानीके साथ प्राणोंको जीतकर बुद्धिके द्वारा अपने कुमार्गगामी दुष्ट चित्तको धीरे-धीरे एकाग्र करे, परमात्माके ध्यानमें लगावे ॥ ७ ॥

पहले आसनको जीते, फिर प्राणायामके अभ्यासके लिये पवित्र देशमें कुश-मृगचर्मादिसे युक्त आसन बिछावे। उसपर शरीरको सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर अभ्यास करे ॥ ८ ॥ आरम्भमें पूरक, कुम्भक और रेचक क्रमसे अथवा इसके विपरीत रेचक, कुम्भक और पूरक करके प्राणके मार्गका शोधन करे—जिससे चित्त स्थिर और निश्चल हो जाय ॥ ९ ॥

जिस प्रकार वायु और अग्निसे तपाया हुआ सोना अपने मलको त्याग देता है, उसी प्रकार जो योगी प्राणवायुको जीत लेता है, उसका मन बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है ॥ १० ॥ अतः योगीको उचित है कि प्राणायामसे वात-पित्तादिजनित दोषोंको, धारणासे पापोंको, प्रत्याहारसे विषयोंके सम्बन्धको और ध्यानसे भगवद्विमुख करनेवाले राग-द्वेषादि दुर्गुणोंको दूर करे ॥ ११ ॥ जब योगका अभ्यास करते-करते चित्त निर्मल और एकाग्र हो

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ १३

लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥ १४

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनुपुरम् ॥ १५

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रेणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ १६

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥ १७

कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥ १८

स्थितं ब्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥ १९

तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥ २०

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥ २१

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥ २२

जाय, तब नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर इस प्रकार भगवान्की मूर्तिका ध्यान करे ॥ १२ ॥

भगवान्का मुखकमल आनन्दसे प्रफुल्ल है, नेत्र कमलकोशके समान रतनारे हैं, शरीर नीलकमलदलके समान श्याम है; हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये हैं ॥ १३ ॥ कमलकी केसरके समान पीला रेशमी वस्त्र लहरा रहा है, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न है और गलेमें कौस्तुभमणि झिलमिला रही है ॥ १४ ॥ वनमाला चरणोतक लटकी हुई है, जिसके चारों ओर भौर सुगन्धसे मतवाले होकर मधुर गुंजार कर रहे हैं; अङ्ग-प्रत्यङ्गमें महामूल्य हार, कङ्कण, किरीट, भुजबन्ध और नूपुर आदि आभूषण विराजमान हैं ॥ १५ ॥ कमरमें करधनीकी लड़ियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही हैं; भक्तोंके हृदयकमल ही उनके आसन हैं, उनका दर्शनीय श्यामसुन्दर स्वरूप अत्यन्त शान्त एवं मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है ॥ १६ ॥ उनकी अति सुन्दर किशोर अवस्था है, वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आतुर हो रहे हैं। बड़ी मनोहर झाँकी है। भगवान् सदा सम्पूर्ण लोकोसे वन्दित हैं ॥ १७ ॥ उनका पवित्र यश परम कीर्तनीय है और वे राजा बलि आदि परम यशस्वियोंके भी यशको बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार श्रीनारायणदेवका सम्पूर्ण अङ्गोंके सहित तबतक ध्यान करे, जबतक चित्त वहाँसे हटे नहीं ॥ १८ ॥ भगवान्की लीलाएँ बड़ी दर्शनीय हैं; अतः अपनी रुचिके अनुसार खड़े हुए, चलते हुए, बैठे हुए, पड़े हुए अथवा अन्तर्यामीरूपमें स्थित हुए उनके स्वरूपका विशुद्ध भावयुक्त चित्तसे चिन्तन करे ॥ १९ ॥ इस प्रकार योगी जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवद्विग्रहमें चित्तकी स्थिति हो गयी, तब वह उनके समस्त अङ्गोंमें लगे हुए चित्तको विशेष रूपसे एक-एक अङ्गमें लगावे ॥ २० ॥

भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करना चाहिये। वे वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके मङ्गलमय चिह्नोंसे युक्त हैं तथा अपने उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नखचन्द्र-मण्डलकी चन्द्रिकासे ध्यान करनेवालोंके हृदयके अज्ञानरूप घोर अन्धकारको दूर कर देते हैं ॥ २१ ॥ इन्हींकी धोवनसे नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्र जलको मस्तकपर धारण करनेके कारण स्वयं मङ्गलरूप श्रीमहादेवजी और भी अधिक मङ्गलमय हो गये। ये अपना ध्यान करनेवालोंके पापरूप पर्वतोंपर छोड़े हुए इन्द्रके वज्रके समान हैं। भगवान्के इन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन करे ॥ २२ ॥

जानुद्वयं^१ जलजलोचनया जनन्या
लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्
संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥२३॥

ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमाना-
वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-
काञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम् ॥२४॥

नाभिहृदं भुवनकोशगुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य^२ ।
ध्यायेदद्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥२५॥

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥२६॥

बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम्^३ ॥२७॥

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत्
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां
चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ॥२८॥

भृत्यानुकम्पितधियेह^४ गृहीतमूर्तेः
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।

भवभयहारी अजन्मा श्रीहरिकी दोनों पिंडलियों एवं घुटनोंका ध्यान करे, जिनको विश्वविधाता ब्रह्माजीकी माता सुरवन्दिता कमललोचना लक्ष्मीजी अपनी जाँघोंपर रखकर अपने कान्तिमान् करकिसलयोंकी कान्तिसे लाड़ लड़ाती रहती हैं ॥ २३ ॥ भगवान्की जाँघोंका ध्यान करे, जो अलसीके फूलके समान नीलवर्ण और बलकी निधि हैं तथा गरुडजीकी पीठपर शोभायमान हैं । भगवान्के नितम्बबिम्बका ध्यान करे, जो एड़ीतक लटके हुए पीताम्बरसे ढका हुआ है और उस पीताम्बरके ऊपर पहनी हुई सुवर्णमयी करधनीकी लड़ियोंको आलिङ्गन कर रहा है ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयस्थान भगवान्के उदरदेशमें स्थित नाभिसरोवरका ध्यान करे; इसीमेंसे ब्रह्माजीका आधारभूत सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ है । फिर प्रभुके श्रेष्ठ मरकतमणिसदृश दोनों स्तनोंका चिन्तन करे, जो वक्षःस्थलपर पड़े हुये शुभ्र हारोंकी किरणोंसे गौरवर्ण जान पड़ते हैं ॥२५॥ इसके पश्चात् पुरुषोत्तम भगवान्के वक्षःस्थलका ध्यान करे, जो महालक्ष्मीका निवासस्थान और लोगोंके मन एवं नेत्रोंको आनन्द देनेवाला है । फिर सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय भगवान्के गलेका चिन्तन करे, जो मानो कौस्तुभमणिको भी सुशोभित करनेके लिये ही उसे धारण करता है ॥ २६ ॥

समस्त लोकपालोंकी आश्रयभूता भगवान्की चारों भुजाओंका ध्यान करे, जिनमें धारण किये हुए कङ्कणादि आभूषण समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलकी रगड़से और भी उजले हो गये हैं । इसी प्रकार जिसके तेजको सहन नहीं किया जा सकता, उस सहस्र धारोंवाले सुदर्शनचक्रका तथा उनके कर-कमलमें राजहंसके समान विराजमान शङ्खका चिन्तन करे ॥ २७ ॥ फिर विपक्षी वीरोंके रुधिरसे सनी हुई प्रभुकी प्यारी कौमोदकी गदाका, भौंरोंके शब्दसे गुञ्जायमान वनमालाका और उनके कण्ठमें सुशोभित सम्पूर्ण जीवोंके निर्मलतत्त्वरूप कौस्तुभमणिका ध्यान करे* ॥ २८ ॥

भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही यहाँ साकाररूप धारण करनेवाले श्रीहरिके मुखकमलका ध्यान करे, जो सुधड़ नासिकासे

यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन
विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥ २९

यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भु ॥ ३०

तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।
स्त्रिधस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
ध्यायेच्चिरं विततभावनया गुहायाम् ॥ ३१

हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-
शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।
सम्पोहनाय रचितं निजमाययास्य
भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥ ३२

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-^१
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥ ३३

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥ ३४

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥ ३५

सुशोभित है और झिलमिलाते हुए मकराकृत कुण्डलोंके हिलनेसे अतिशय प्रकाशमान स्वच्छ कपोलोंके कारण बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है ॥ २९ ॥ काली-काली घुँघराली अलकावलीसे मण्डित भगवान्का मुखमण्डल अपनी छबिके द्वारा भ्रमरोंसे सेवित कमलकोशका भी तिरस्कार कर रहा है और उसके कमलसदृश विशाल एवं चञ्चल नेत्र उस कमलकोशपर उछलते हुए मछलियोंके जोड़ेकी शोभाको मात कर रहे हैं । उन्नत भूलताओंसे सुशोभित भगवान्के ऐसे मनोहर मुखारविन्दकी मनमें धारणा करके आलस्यरहित हो उसीका ध्यान करे ॥ ३० ॥

हृदयगुहामें चिरकालतक भक्तिभावसे भगवान्के नेत्रोंकी चितवनका ध्यान करना चाहिये, जो कृपासे और प्रेमभरी मुसकानसे क्षण-क्षण अधिकाधिक बढ़ती रहती है, विपुल प्रसादकी वर्षा करती रहती है और भक्तजनोंके अत्यन्त घोर तीनों तापोंको शान्त करनेके लिये ही प्रकट हुई है ॥ ३१ ॥ श्रीहरिका हास्य प्रणतजनोंके तीव्र-से-तीव्र शोकके अश्रुसागरको सुखा देता है और अत्यन्त उदार है । मुनियोंके हितके लिये कामदेवको मोहित करनेके लिये ही अपनी मायासे श्रीहरिने अपने भ्रूमण्डलको बनाया है—उनका ध्यान करना चाहिये ॥ ३२ ॥ अत्यन्त प्रेमार्द्रभावसे अपने हृदयमें विराजमान श्रीहरिके खिलखिलाकर हँसनेका ध्यान करे, जो वस्तुतः ध्यानके ही योग्य है तथा जिसमें ऊपर और नीचेके दोनों होठोंकी अत्यधिक अरुण कान्तिके कारण उनके कुन्दकलीके समान शुभ्र छोटे-छोटे दाँतोंपर लालिमा-सी प्रतीत होने लगी है । इस प्रकार ध्यानमें तन्मय होकर उनके सिवा किसी अन्य पदार्थको देखनेकी इच्छा न करे ॥ ३३ ॥

इस प्रकारके ध्यानके अभ्याससे साधकका श्रीहरिमें प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्तिसे द्रवित हो जाता है, शरीरमें आनन्दातिरेकके कारण रोमाञ्च होने लगता है, उत्कण्ठाजनित प्रेमाश्रुओंकी धारामें वह बारबार अपने शरीरको नहलाता है और फिर मछली पकड़नेके काँटके समान श्रीहरिको अपनी ओर आकर्षित करनेके साधनरूप अपने चित्तको भी धीरे-धीरे ध्येय वस्तुसे हटा लेता है ॥ ३४ ॥ जैसे तेल आदिके चुक जानेपर दीपशिखा अपने कारणरूप तेजस्-तत्त्वमें लीन हो जाती है, वैसे ही आश्रय, विषय और रागसे रहित होकर मन शान्त—ब्रह्माकार हो जाता है । इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर जीव गुणप्रवाहरूप देहादि उपाधिके निवृत्त हो जानेके कारण ध्याता, ध्येय आदि विभागसे रहित एक अखण्ड परमात्माको ही सर्वत्र अनुगत देखता है ॥ ३५ ॥

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥ ३६

देहं च^१ तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं^२
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ३७

देहोऽपि दैववशाः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३८

यथा पुत्राद्य वित्ताद्य पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते ।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ॥ ३९

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात् ।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥ ४०

भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाजीवसंज्ञितात् ।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः ॥ ४१

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥ ४२

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते ।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः ॥ ४३

योगाभ्याससे प्राप्त हुई चित्तकी इस अविद्यारहित लयरूप निवृत्तिसे अपनी सुख-दुःखरहित ब्रह्मरूप महिमामें स्थित होकर परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर वह योगी जिस सुख-दुःखके भोक्तृत्वको पहले अज्ञानवश अपने स्वरूपमें देखता था, उसे अब अविद्याकृत अहङ्कारमें ही देखता है ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार मदिराके मदसे मतवाले पुरुषको अपनी कमरपर लपेटे हुए वस्त्रके रहने या गिरनेकी कुछ भी सुधि नहीं रहती, उसी प्रकार चरमावस्थाको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषको भी अपनी देहके बैठने-उठने अथवा दैववश कहीं जाने या लौट आनेके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि वह अपने परमानन्दमय स्वरूपमें स्थित है ॥ ३७ ॥ उसका शरीर तो पूर्वजन्मके संस्कारोंके अधीन है; अतः जबतक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष है तबतक वह इन्द्रियोंके सहित जीवित रहता है; किन्तु जिसे समाधिपर्यन्त योगकी स्थिति प्राप्त हो गयी है और जिसने परमात्मतत्त्वको भी भलीभाँति जान लिया है, वह सिद्धपुरुष पुत्र-कलत्रादिके सहित इस शरीरको स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले शरीरोंके समान फिर स्वीकार नहीं करता—फिर उसमें अहंता-ममता नहीं करता ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार अत्यन्त स्नेहके कारण पुत्र और धनादिमें भी साधारण जीवोंकी आत्मबुद्धि रहती है, किन्तु थोड़ा-सा विचार करनेसे ही वे उनसे स्पष्टतया अलग दिखायी देते हैं, उसी प्रकार जिन्हें यह अपना आत्मा मान बैठा है, उन देहादिसे भी उनका साक्षी पुरुष पृथक् ही है ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार जलती हुई लकड़ीसे, चिनगारीसे, स्वयं अग्निसे ही प्रकट हुए धूँएँसे तथा अग्निरूप मानी जानेवाली उस जलती हुई लकड़ीसे भी अग्नि वास्तवमें पृथक् ही है—उसी प्रकार भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणसे उनका साक्षी आत्मा अलग है तथा जीव कहलानेवाले उस आत्मासे भी ब्रह्म भिन्न है और प्रकृतिसे उसके सञ्चालक पुरुषोत्तम भिन्न हैं ॥ ४०-४१ ॥ जिस प्रकार देहदृष्टिसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—चारों प्रकारके प्राणी पञ्चभूतमात्र हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण जीवोंको अनन्यभावसे अनुगत देखे ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने पृथक्-पृथक् आश्रयोंमें उनकी विभिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न आकारका दिखायी देता है, उसी प्रकार देव-मनुष्यादि शरीरोंमें रहनेवाला एक ही आत्मा अपने आश्रयोंके गुण-भेदके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारका भासता है ॥ ४३ ॥

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् ।

दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४४

अतः भगवान्का भक्त जीवके स्वरूपको छिपा देनेवाली कार्यकारणरूपसे परिणामको प्राप्त हुई भगवान्की इस अचिन्त्य शक्तिमयी मायाको भगवान्की कृपासे ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूप—ब्रह्मरूपमें स्थित होता है ॥ ४४ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये^१
साधनानुष्ठानं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥



अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

भक्तिका मर्म और कालकी महिमा

देवहूतिरुवाच

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च ।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ॥ १

यथा सांख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते ।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरशः^२ प्रभो ॥ २

विरागो येन पुरुषो भगवन् सर्वतो भवेत् ।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ॥ ३

कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते ।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः ॥ ४

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्भया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ॥ ५

मैत्रेय उवाच

इति मातुर्वचः श्लक्षणं प्रतिनन्द्य महामुनिः ।
आवभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः ॥ ६

श्रीभगवानुवाच

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥ ७

देवहूतिने पूछा—प्रभो ! प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वादिका जैसा लक्षण सांख्यशास्त्रमें कहा गया है तथा जिसके द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप अलग-अलग जाना जाता है और भक्तियोगको ही जिसका प्रयोजन कहा गया है, वह आपने मुझे बताया । अब कृपा करके भक्तियोगका मार्ग मुझे विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १-२ ॥ इसके सिवा जीवोंकी जन्म-मरणरूपा अनेक प्रकारकी गतियोंका भी वर्णन कीजिये; जिनके सुननेसे जीवको सब प्रकारकी वस्तुओंसे वैराग्य होता है ॥ ३ ॥ जिसके भयसे लोग शुभ कर्ममें प्रवृत्त होते हैं और जो ब्रह्मादिका भी शासन करनेवाला है, उस सर्वसमर्थ कालका स्वरूप भी आप मुझसे कहिये ॥ ४ ॥ ज्ञानदृष्टिके लुप्त हो जानेके कारण देहादि मिथ्या वस्तुओंमें जिन्हें आत्माभिमान हो गया है तथा बुद्धिके कर्मासक्त रहनेके कारण अत्यन्त श्रमिक होकर जो चिरकालसे अपार अन्धकारमय संसारमें सोये पड़े हैं, उन्हें जगानेके लिये आप योगप्रकाशक सूर्य ही प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कुरुश्रेष्ठ विदुरजी ! माताके ये मनोहर वचन सुनकर महामुनि कपिलजीने उनकी प्रशंसा की और जीवोंके प्रति दयासे द्रवीभूत हो बड़ी प्रसन्नताके साथ उनसे इस प्रकार बोले ॥ ६ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—माताजी ! साधकोंके भावोंके अनुसार भक्तियोगका अनेक प्रकारसे प्रकाश होता है, क्योंकि स्वभाव और गुणोंके भेदसे मनुष्योंके भावमें भी विभिन्नता आ जाती है ॥ ७ ॥

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा^१ ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥ ८

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥ ९

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥ १०

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये^२ ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाभ्रसोऽम्बुधौ ॥ ११

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ १२

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ १३

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ १४

निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंसेण नित्यशः ॥ १५

मद्विषयदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥ १६

महता बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥ १७

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा ॥ १८

जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष हृदयमें हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्यका भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है ॥ ८ ॥ जो पुरुष विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे प्रतिमादिमें मेरा भेदभावसे पूजन करता है, वह राजस भक्त है ॥ ९ ॥ जो व्यक्ति पापोंका क्षय करनेके लिये, परमात्माको अर्पण करनेके लिये और पूजन करना कर्तव्य है—इस बुद्धिसे मेरा भेदभावसे पूजन करता है, वह सात्त्विक भक्त है ॥ १० ॥ जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है ॥ ११-१२ ॥ ऐसे निष्काम भक्त, दिये जानेपर भी, मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य^१, सार्ष्टि^२, सामीप्य^३, सारूप्य^४ और सायुज्य^५ मोक्षतक नहीं लेते— ॥ १३ ॥ भगवत्-सेवाके लिये मुक्तिका तिरस्कार करनेवाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है । इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको—मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

निष्कामभावसे श्रद्धापूर्वक अपने नित्य-नैमित्तिक कर्तव्योंका पालन कर, नित्यप्रति हिंसारहित उत्तम क्रियायोगका अनुष्ठान करने, मेरी प्रतिमाका दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति और वन्दना करने, प्राणियोंमें मेरी भावना करने, धैर्य और वैराग्यके अवलम्बन, महापुरुषोंका मान, दीनोंपर दया और समान स्थितिवालोंके प्रति मित्रताका व्यवहार करने, यम-नियमोंका पालन, अध्यात्मशास्त्रोंका श्रवण और मेरे नामोंका उच्च स्वरसे कीर्तन करनेसे तथा मनकी सरलता, सत्पुरुषोंके सङ्ग और अहङ्कारके त्यागसे मेरे धर्मोंका

मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥ १९

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते^१ गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥ २०

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ २१

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥ २२

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥ २३

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे^२ ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥ २४

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्^३ ॥ २५

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥ २६

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ २७

जीवाःश्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे ।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥ २८

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥ २९

रूपभेदविदस्तत्र^४ ततश्चोभयतोदतः ।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात्^५ ॥ ३०

(भागवतधर्मोंका) अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुषका चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे अनायास ही मुझमें लग जाता है ॥ १५—१९ ॥

जिस प्रकार वायुके द्वारा उड़कर जानेवाला गन्ध अपने आश्रय पुष्पसे घ्राणेन्द्रियतक पहुँच जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगमें तत्पर और राग-द्वेषादि विकारोंसे शून्य चित्त परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥ मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ; इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें ही मेरा पूजन करते हैं, उनकी वह पूजा स्वाँगमात्र है ॥ २१ ॥ मैं सबका आत्मा, परमेश्वर सभी भूतोंमें स्थित हूँ; ऐसी दशामें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह तो मानो भस्ममें ही हवन करता है ॥ २२ ॥ जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवोंके साथ वैर बाँधता है और इस प्रकार उनके शरीरोंमें विद्यमान मुझ आत्मासे ही द्वेष करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती ॥ २३ ॥ माताजी ! जो दूसरे जीवोंका अपमान करता है, वह बहुत-सी घटिया-बढ़िया सामग्रियोंसे अनेक प्रकारके विधि-विधानके साथ मेरी मूर्तिका पूजन भी करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता ॥ २४ ॥ मनुष्य अपने धर्मका अनुष्ठान करता हुआ तबतक मुझ ईश्वरकी प्रतिमा आदिमें पूजा करता रहे, जबतक उसे अपने हृदयमें एवं सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित परमात्माका अनुभव न हो जाय ॥ २५ ॥ जो व्यक्ति आत्मा और परमात्माके बीचमें थोड़ा-सा भी अन्तर करता है, उस भेददर्शीको मैं मृत्युरूपसे महान् भय उपस्थित करता हूँ ॥ २६ ॥ अतः सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर घेर बनाकर उन प्राणियोंके ही रूपमें स्थित मुझ परमात्माका यथायोग्य दान, मान, मित्रताके व्यवहार तथा समदृष्टिके द्वारा पूजन करना चाहिये ॥ २७ ॥

माताजी ! पाषाणादि अचेतनोंकी अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ हैं, उनसे साँस लेनेवाले प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनमें भी मनवाले प्राणी उत्तम और उनसे इन्द्रियकी वृत्तियोंसे युक्त प्राणी श्रेष्ठ हैं। सेन्द्रिय प्राणियोंमें भी केवल स्पर्शका अनुभव करनेवालोंकी अपेक्षा रसका ग्रहण कर सकनेवाले मत्स्यादि उत्कृष्ट हैं तथा रसवेत्ताओंकी अपेक्षा गन्धका अनुभव करनेवाले (भ्रमरादि) और गन्धका ग्रहण करनेवालोंसे भी शब्दका ग्रहण करनेवाले (सर्पादि) श्रेष्ठ हैं ॥ २८-२९ ॥ उनसे भी रूपका अनुभव करनेवाले (काकादि) उत्तम हैं और उनकी अपेक्षा जिनके ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँत होते हैं, वे जीव श्रेष्ठ हैं। उनमें भी बिना पैरवालोंसे बहुत-से चरणोंवाले श्रेष्ठ हैं तथा बहुत चरणोंवालोंसे चार चरणवाले और चार चरणवालोंसे भी दो चरणवाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं ॥ ३० ॥

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥ ३१

अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत् ।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः ॥ ३२

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥ ३३

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ ३४

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ॥ ३५

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।
परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम् ॥ ३६

रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते ।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ॥ ३७

योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरस्यखिलाश्रयः^१ ।
स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः ॥ ३८

न चास्य कश्चिद्व्यथितो न द्वेष्टो न च बान्धवः ।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥ ३९

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् ।
यद्भयाद्वर्षति देवो भगणो भाति यद्भयात् ॥ ४०

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह ।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥ ४१

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः ।
अग्निरिन्द्रे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥ ४२

मनुष्योंमें भी चार वर्ण श्रेष्ठ हैं; उनमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ है । ब्राह्मणोंमें वेदको जाननेवाले उत्तम हैं और वेदज्ञोंमें भी वेदका तात्पर्य जाननेवाले श्रेष्ठ हैं ॥ ३१ ॥ तात्पर्य जाननेवालोंसे संशय निवारण करनेवाले, उनसे भी अपने वर्णाश्रमोचित धर्मका पालन करनेवाले तथा उनसे भी आसक्तिका त्याग और अपने धर्मका निष्कामभावसे आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं ॥ ३२ ॥ उनकी अपेक्षा भी जो लोग अपने सम्पूर्ण कर्म, उनके फल तथा अपने शरीरको भी मुझे ही अर्पण करके भेदभाव छोड़कर मेरी उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं । इस प्रकार मुझे ही चित्त और कर्म समर्पण करनेवाले अकर्ता और समदर्शी पुरुषसे बढ़कर मुझे कोई अन्य प्राणी नहीं दीखता ॥ ३३ ॥ अतः यह मानकर कि जीवरूप अपने अंशसे साक्षात् भगवान् ही सबमें अनुगत हैं, इन समस्त प्राणियोंको बड़े आदरके साथ मनसे प्रणाम करे ॥ ३४ ॥

माताजी ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिये भक्तियोग और अष्टाङ्गयोगका वर्णन किया । इनमेंसे एकका भी साधन करनेसे जीव परमपुरुष भगवान्को प्राप्त कर सकता है ॥ ३५ ॥ भगवान् परमात्मा परब्रह्मका अद्भुत प्रभावसम्पन्न तथा जागतिक पदार्थोंके नानाविध वैचित्र्यका हेतुभूत स्वरूपविशेष ही 'काल' नामसे विख्यात है । प्रकृति और पुरुष इसीके रूप हैं तथा इनसे यह पृथक् भी है । नाना प्रकारके कर्मोंका मूल अदृष्ट भी यही है तथा इसीसे महत्तत्त्वादिके अभिमानी भेददर्शी प्राणियोंको सदा भय लगा रहता है ॥ ३६-३७ ॥ जो सबका आश्रय होनेके कारण समस्त प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट होकर भूतोंद्वारा ही उनका संहार करता है, वह जगत्का शासन करनेवाले ब्रह्मादिका भी प्रभु भगवान् काल ही यज्ञोंका फल देनेवाला विष्णु है ॥ ३८ ॥ इसका न तो कोई मित्र है न कोई शत्रु और न तो कोई सगा-सम्बन्धी ही है । यह सर्वदा सजग रहता है और अपने स्वरूपभूत श्रीभगवान्को भूलकर भोगरूप प्रमादमें पड़े हुए प्राणियोंपर आक्रमण करके उनका संहार करता है ॥ ३९ ॥ इसीके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है, इसीके भयसे इन्द्र वर्षा करते हैं और इसीके भयसे तारे चमकते हैं ॥ ४० ॥ इसीसे भयभीत होकर औषधियोंके सहित लताएँ और सारी वनस्पतियाँ समय-समयपर फल-फूल धारण करती हैं ॥ ४१ ॥ इसीके डरसे नदियाँ बहती हैं और समुद्र अपनी मर्यादासे बाहर नहीं जाता । इसीके भयसे अग्नि प्रज्वलित होती है और पर्वतोंके सहित पृथ्वी जलमें नहीं डूबती ॥ ४२ ॥

नभो ददाति श्वसतां पदं^१ यन्नियमाददः ।
 लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम् ॥ ४३
 गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् ।
 वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ॥ ४४
 सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
 जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ ४५

इसीके शासनसे यह आकाश जीवित प्राणियोंको श्वास-प्रश्वासके लिये अवकाश देता है और महत्तत्त्व अहंकाररूप शरीरका सात आवरणोंसे युक्त ब्रह्माण्डके रूपमें विस्तार करता है ॥ ४३ ॥ इस कालके ही भयसे सत्त्वादि गुणोंके नियामक विष्णु आदि देवगण, जिनके अधीन यह सारा चराचर जगत् है, अपने जगत्-रचना आदि कार्योंमें युगक्रमसे तत्पर रहते हैं ॥ ४४ ॥ यह अविनाशी काल स्वयं अनादि किन्तु दूसरोंका आदिकर्ता (उत्पादक) है तथा स्वयं अनन्त होकर भी दूसरोंका अन्त करनेवाला है। यह पितासे पुत्रकी उत्पत्ति कराता हुआ सारे जगत्की रचना करता है और अपनी संहारशक्ति मृत्युके द्वारा यमराजको भी मरवाकर इसका अन्त कर देता है ॥ ४५ ॥

—★—

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे 'कापिलेयोपाख्याने'^२

एकोनविंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

—★—

अथ त्रिंशोऽध्यायः

देह-गेहमें आसक्त पुरुषोंकी अधोगतिका वर्णन

कपिल उवाच

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम् ।
 काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ॥ १
 यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे ।
 तं तं धुनोति भगवान् पुमाञ्छोचति यत्कृते ॥ २
 यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः ।
 ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि^३ च ॥ ३
 जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत् ।
 तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ॥ ४
 नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्यक्तुमिच्छति ।
 नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ॥ ५
 आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ।
 निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते ॥ ६
 सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना ।
 करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥ ७

श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—माताजी ! जिस प्रकार वायुके द्वारा उड़ाया जानेवाला मेघसमूह उसके बलको नहीं जानता, उसी प्रकार यह जीव भी बलवान् कालकी प्रेरणासे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा योनियोंमें भ्रमण करता रहता है, किन्तु उसके प्रबल पराक्रमको नहीं जानता ॥ १ ॥ जीव सुखकी अभिलाषासे जिस-जिस वस्तुको बड़े कष्टसे प्राप्त करता है, उसी-उसीको भगवान् काल विनष्ट कर देता है—जिसके लिये उसे बड़ा शोक होता है ॥ २ ॥ इसका कारण यही है कि यह मन्दमति जीव अपने इस नाशवान् शरीर तथा उसके सम्बन्धियोंके घर, खेत और धन आदिको मोहवश नित्य मान लेता है ॥ ३ ॥ इस संसारमें यह जीव जिस-जिस योनिमें जन्म लेता है, उसी-उसीमें आनन्द मानने लगता है और उससे विरक्त नहीं होता ॥ ४ ॥ यह भगवान्की मायासे ऐसा मोहित हो रहा है कि कर्मवश नारकी योनियोंमें जन्म लेनेपर भी वहाँके विष्टा आदि भोगोंमें ही सुख माननेके कारण उसे भी छोड़ना नहीं चाहता ॥ ५ ॥ यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु-बान्धवोंमें अत्यन्त आसक्त होकर उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारके मनोरथ करता हुआ अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझता है ॥ ६ ॥ इनके पालन-पोषणकी चिन्तासे इसके सम्पूर्ण अङ्ग जलते रहते हैं; तथापि दुर्वासनाओंसे दूषित हृदय होनेके कारण यह मूढ़ निरन्तर इन्हींके लिये तरह-तरहके पाप करता रहता है ॥ ७ ॥

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया ।
रहोरचितयाऽऽलापैः शिशूनां कलभाषिणाम् ॥ ८

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः ।
कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥ ९

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान् ।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः स्वयम् ॥ १०

वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः ।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम् ॥ ११

कुटुम्बभरणाकल्पो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः^१ ।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायञ्छसिति मूढधीः ॥ १२

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।
नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ॥ १३

तत्राप्यजातनिर्वेदो श्रियमाणः स्वयम्भृतैः ।
जरयोपात्तवैरूप्यो^२ मरणाभिमुखो गृहे ॥ १४

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् ।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥ १५

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः^३ ।
कासश्वासकृतायासः^४ कण्ठे घुरघुरायते ॥ १६

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः^५ स्वबन्धुभिः ।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः ॥ १७

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः^६ ।
प्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः ॥ १८

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥ १९

कुलटा स्त्रियोंके द्वारा एकान्तमें सम्भोगादिके समय प्रदर्शित किये हुए कपटपूर्ण प्रेममें तथा बालकोंकी मीठी-मीठी बातोंमें मन और इन्द्रियोंके फँस जानेसे गृहस्थ पुरुष घरके दुःख-प्रधान कपटपूर्ण कर्मोंमें लिप्त हो जाता है। उस समय बहुत सावधानी करनेपर यदि उसे किसी दुःखका प्रतीकार करनेमें सफलता मिल जाती है, तो उसे ही वह सुख-सा मान लेता है ॥ ८-९ ॥ जहाँ-तहाँसे भयङ्कर हिंसावृत्तिके द्वारा धन सञ्चयकर यह ऐसे लोगोंका पोषण करता है, जिनके पोषणसे नरकमें जाता है। स्वयं तो उनके खाने-पीनेसे बचे हुए अन्नको ही खाकर रहता है ॥ १० ॥ बार-बार प्रयत्न करनेपर भी जब इसकी कोई जीविका नहीं चलती, तो यह लोभवश अधीर हो जानेसे दूसरेके धनकी इच्छा करने लगता है ॥ ११ ॥ जब मन्दभाग्यके कारण इसका कोई प्रयत्न नहीं चलता और यह मन्दबुद्धि धनहीन होकर कुटुम्बके भरण-पोषणमें असमर्थ हो जाता है, तब अत्यन्त दीन और चिन्तातुर होकर लंबी-लंबी साँसें छोड़ने लगता है ॥ १२ ॥

इसे अपने पालन-पोषणमें असमर्थ देखकर वे स्त्री-पुत्रादि इसका पहलेके समान आदर नहीं करते, जैसे कृपण किसान बूढ़े बैलकी उपेक्षा कर देते हैं ॥ १३ ॥ फिर भी इसे वैराग्य नहीं होता। जिन्हें उसने स्वयं पाला था, वे ही अब उसका पालन करते हैं, वृद्धावस्थाके कारण इसका रूप बिगड़ जाता है, शरीर रोगी हो जाता है, अग्नि मन्द पड़ जाती है, भोजन और पुरुषार्थ दोनों ही कम हो जाते हैं। वह मरणोन्मुख होकर घरमें पड़ा रहता है और कुत्तेकी भाँति स्त्री-पुत्रादिके अपमानपूर्वक दिये हुए टुकड़े खाकर जीवन-निर्वाह करता है ॥ १४-१५ ॥ मृत्युका समय निकट आनेपर वायुके उत्क्रमणसे इसकी पुतलियाँ चढ़ जाती हैं, श्वास-प्रश्वासकी नलिकाएँ कफसे रुक जाती हैं, खाँसने और साँस लेनेमें भी इसे बड़ा कष्ट होता है तथा कफ बढ़ जानेके कारण कण्ठमें घुरघुराहट होने लगती है ॥ १६ ॥ यह अपने शोकातुर बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ पड़ा रहता है और मृत्युपाशके वशीभूत हो जानेसे उनके बुलानेपर भी नहीं बोल सकता ॥ १७ ॥

इस प्रकार जो मूढ़ पुरुष इन्द्रियोंको न जीतकर निरन्तर कुटुम्ब-पोषणमें ही लगा रहता है, वह रोते हुए स्वजनोंके बीच अत्यन्त वेदनासे अचेत होकर मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ इस अवसरपर उसे लेनेके लिये अति भयङ्कर और रोषयुक्त नेत्रोंवाले जो दो यमदूत आते हैं, उन्हें देखकर वह भयके कारण मल-मूत्र कर देता है ॥ १९ ॥ वे यमदूत उसे यातनादेहमें डाल देते हैं

यातनादेह आवृत्य पार्श्वैर्बद्ध्वा गले बलात् ।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ॥ २०

तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन् ॥ २१

क्षुत्तृप्परीतोऽर्कदवानलानिलैः
सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडित-
श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ॥ २२

तत्र तत्र पतञ्छान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम् ॥ २३

योजनानां सहस्राणि नवति नव चाध्वनः ।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ॥ २४

आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृतं परतोऽपि वा ॥ २५

जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥ २६

कृन्तनं चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम् ।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाम्बुगर्तयोः ॥ २७

यास्तामिस्रान्धतामिस्रा रौरवाद्याश्च यातनाः ।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः ॥ २८

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते ।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः ॥ २९

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा ।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ॥ ३०

और फिर जिस प्रकार सिपाही किसी अपराधीको ले जाते हैं, उसी प्रकार उसके गलेमें रस्सी बाँधकर बलात् यमलोककी लंबी यात्रामें उसे ले जाते हैं ॥ २० ॥ उनकी घुड़कियोंसे उसका हृदय फटने और शरीर काँपने लगता है, मार्गमें उसे कुत्ते नोचते हैं। उस समय अपने पापोंको याद करके वह व्याकुल हो उठता है ॥ २१ ॥ भूख-प्यास उसे बेचैन कर देती है तथा घाम, दावानल और लूओंसे वह तप जाता है। ऐसी अवस्थामें जल और विश्राम-स्थानसे रहित उस तप्तवालुकामय मार्गमें जब उसे एक पग आगे बढ़नेकी भी शक्ति नहीं रहती, यमदूत उसकी पीठपर कोड़े बरसाते हैं, तब बड़े कष्टसे उसे चलना ही पड़ता है ॥ २२ ॥ वह जहाँ-तहाँ थककर गिर जाता है, मूर्छा आ जाती है, चेतना आनेपर फिर उठता है। इस प्रकार अति दुःखमय अँधेरे मार्गसे अत्यन्त क्रूर यमदूत उसे शीघ्रतासे यमपुरीको ले जाते हैं ॥ २३ ॥ यमलोकका मार्ग निन्यानबे हजार योजन है। इतने लम्बे मार्गको दो-ही-तीन मुहूर्तमें तै करके वह नरकमें तरह-तरहकी यातनाएँ भोगता है ॥ २४ ॥ वहाँ उसके शरीरको धधकती लकड़ियों आदिके बीचमें डालकर जलाया जाता है, कहीं स्वयं और दूसरोंके द्वारा काट-काटकर उसे अपना ही मांस खिलाया जाता है ॥ २५ ॥ यमपुरीके कुत्तों अथवा गिद्धोंद्वारा जीते-जी उसकी आँतें खींची जाती हैं। साँप, बिच्छू और डाँस आदि डसनेवाले तथा डंक मारनेवाले जीवोंसे शरीरको पीड़ा पहुँचायी जाती है ॥ २६ ॥ शरीरको काटकर टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं। उसे हाथियोंसे चिरवाया जाता है, पर्वतशिखरोंसे गिराया जाता है अथवा जल या गढ़में डालकर बन्द कर दिया जाता है ॥ २७ ॥ ये सब यातनाएँ तथा इसी प्रकार तामिस्र, अन्धतामिस्र एवं रौरव आदि नरकोंकी और भी अनेकों यन्त्रणाएँ, स्त्री हो या पुरुष, उस जीवको पारस्परिक संसर्गसे होनेवाले पापके कारण भोगनी ही पड़ती हैं ॥ २८ ॥ माताजी ! कुछ लोगोंका कहना है कि स्वर्ग और नरक तो इसी लोकमें हैं, क्योंकि जो नारकी यातनाएँ हैं, वे यहाँ भी देखी जाती हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार अनेक कष्ट भोगकर अपने कुटुम्बका ही पालन करनेवाला अथवा केवल अपना ही पेट भरनेवाला पुरुष उन कुटुम्ब और शरीर—दोनोंको यहीं छोड़कर मरनेके बाद अपने किये हुए पापोंका ऐसा फल भोगता है ॥ ३० ॥

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम् ।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद् भृतम् ॥ ३१

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान् ।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हतवित्त इवातुरः ॥ ३२

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः ।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥ ३३

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातिनादयः^१ ।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥ ३४

अपने इस शरीरको यहीं छोड़कर प्राणियोंसे द्रोह करके एकत्रित किये हुए पापरूप पाथेयको साथ लेकर वह अकेला ही नरकमें जाता है ॥ ३१ ॥ मनुष्य अपने कुटुम्बका पेट पालनेमें जो अन्याय करता है, उसका दैवविहित कुफल वह नरकमें जाकर भोगता है। उस समय वह ऐसा व्याकुल होता है, मानो उसका सर्वस्व लुट गया हो ॥ ३२ ॥ जो पुरुष निरी पापकी कमाईसे ही अपने परिवारका पालन करनेमें व्यस्त रहता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें जाता है—जो नरकोमें चरम सीमाका कष्टप्रद स्थान है ॥ ३३ ॥ मनुष्य-जन्म मिलनेके पूर्व जितनी भी यातनाएँ हैं तथा शूकर-कूकरादि योनियोंके जितने कष्ट हैं, उन सबको क्रमसे भोगकर शुद्ध हो जानेपर वह फिर मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ ३४ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने
कर्मविपाको^२ नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥



अथैकत्रिंशोऽध्यायः

मनुष्ययोनिको प्राप्त हुए जीवकी गतिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ॥ १

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ॥ २

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्राद्यङ्गविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥ ३

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुब्धवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥ ४

मातुर्जग्धात्रपानाद्यैरेधद्वातुरसम्पते ।
शेते विण्मूत्रयोगतिं स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥ ५

कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ॥ ६

कटुतीक्ष्णोष्णालवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥ ७

श्रीभगवान् कहते हैं—माताजी ! जब जीवको मनुष्यशरीरमें जन्म लेना होता है, तो वह भगवान्की प्रेरणासे अपने पूर्वकर्मनुसार देहप्राप्तिके लिये पुरुषके वीर्यकणके द्वारा स्त्रीके उदरमें प्रवेश करता है ॥ १ ॥ वहाँ वह एक रात्रिमें स्त्रीके रजमें मिलकर एकरूप कलल बन जाता है, पाँच रात्रिमें बुद्बुदरूप हो जाता है, दस दिनमें ब्रेके समान कुछ कठिन हो जाता है और उसके बाद मांसपेशी अथवा अण्डज प्राणियोंमें अण्डके रूपमें परिणत हो जाता है ॥ २ ॥ एक महीनेमें उसके सिर निकल आता है, दो मासमें हाथ-पाँव आदि अङ्गोंका विभाग हो जाता है और तीन मासमें नख, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री-पुरुषके चिह्न तथा अन्य छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥ चार मासमें उसमें मांसादि सातों धातुएँ पैदा हो जाती हैं, पाँचवें महीनेमें भूख-प्यास लगने लगती हैं और छठे मासमें झिल्लीसे लिपटकर वह दाहिनी कोखमें घूमने लगता है ॥ ४ ॥ उस समय माताके खाये हुए अन्न-जल आदिसे उसकी सब धातुएँ पुष्ट होने लगती हैं और वह कृमि आदि जन्तुओंके उत्पत्तिस्थान उस जघन्य मल-मूत्रके गढ़में पड़ा रहता है ॥ ५ ॥ वह सुकुमार तो होता ही है, इसलिये जब वहाँके भूखे कीड़े उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग नोचते हैं, तब अत्यन्त क्लेशके कारण वह क्षण-क्षणमें अचेत हो जाता है ॥ ६ ॥ माताके खाये हुए कड़वे, तीखे, गरम, नमकीन, रूखे और खट्टे आदि उग्र पदार्थोंका स्पर्श होनेसे उसके सारे शरीरमें पीड़ा होने लगती है ॥ ७ ॥

उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः ।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥ ८

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे ।
तत्र लब्धस्मृतिर्देवात्कर्म जन्मशतोद्भवम् ।
स्मरन्दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म^१ किं नाम विन्दते ॥ ९

आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि^२ वेपितः ।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः^३ ॥ १०

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः ।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ॥ ११

जन्तुरुवाच^४

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।
सोऽहं ब्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं^५ मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ॥ १२

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य^६ मायाम् ।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ॥ १३

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे-
च्छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं
वन्दे परं प्रकृतिपुरुषयोः पुमांसम् ॥ १४

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्चमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥ १५

ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-
स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ॥ १६

वह जीव माताके गर्भाशयमें झिल्लीसे लिपटा और आँतोंसे घिरा रहता है। उसका सिर पेटकी ओर तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुड़े रहते हैं ॥ ८ ॥

वह पिजड़ेमें बंद पक्षीके समान पराधीन एवं अङ्गोंको हिलाने-डुलानेमें भी असमर्थ रहता है। इसी समय अदृष्टकी प्रेरणासे उसे स्मरणशक्ति प्राप्त होती है। तब अपने सैकड़ों जन्मोंके कर्म याद आ जाते हैं और वह बेचैन हो जाता है तथा उसका दम घुटने लगता है। ऐसी अवस्थामें उसे क्या शान्ति मिल सकती है? ॥ ९ ॥ सातवाँ महीना आरम्भ होनेपर उसमें ज्ञानशक्तिका भी उन्मेष हो जाता है; परन्तु प्रसूतिवायुसे चलायमान रहनेके कारण वह उसी उदरमें उत्पन्न हुए विष्ठाके कीड़ोंके समान एक स्थानपर नहीं रह सकता ॥ १० ॥ तब सप्तधातुमय स्थूलशरीरसे बँधा हुआ वह देहात्मदर्शी जीव अत्यन्त भयभीत होकर दीन वाणीसे कृपा-याचना करता हुआ, हाथ जोड़कर उस प्रभुकी स्तुति करता है, जिसने उसे माताके गर्भमें डाला है ॥ ११ ॥

जीव कहता है—मैं बड़ा अधम हूँ; भगवान्ने मुझे जो इस प्रकारकी गति दिखायी है, वह मेरे योग्य हो है। वे अपनी शरणमें आये हुए इस नश्वर जगत्की रक्षाके लिये ही अनेक प्रकारके रूप धारण करते हैं; अतः मैं भी भूतलपर विचरण करनेवाले उन्हींके निर्भय चरणारविन्दोंकी शरण लेता हूँ ॥ १२ ॥ जो मैं (जीव) इस माताके उदरमें देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपा मायाका आश्रय कर पुण्य-पापरूप कर्मोंसे आच्छादित रहनेके कारण बद्धकी तरह हूँ, वही मैं यहीं अपने सन्तप्त हृदयमें प्रतीत होनेवाले उन विशुद्ध (उपाधिरहित), अविकारी और अखण्ड बोधस्वरूप परमात्माको नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥ मैं वस्तुतः शरीरादिसे रहित (असङ्ग) होनेपर भी देखनेमें पाञ्चभौतिक शरीरसे सम्बद्ध हूँ और इसीलिये इन्द्रिय, गुण, शब्दादि विषय और चिदाभास (अहङ्कार) रूप जान पड़ता हूँ। अतः इस शरीरादिके आवरणसे जिनकी महिमा कुण्ठित नहीं हुई है, उन प्रकृति और पुरुषके नियन्ता सर्वज्ञ (विद्याशक्तिसम्पन्न) परमपुरुषकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ १४ ॥ उन्हींकी मायासे अपने स्वरूपकी स्मृति नष्ट हो जानेके कारण यह जीव अनेक प्रकारके सत्त्वादि गुण और कर्मके बन्धनसे युक्त इस संसारमार्गमें तरह-तरहके कष्ट झेलता हुआ भटकता रहता है; अतः उन परमपुरुष परमात्माकी कृपाके बिना और किस युक्तिसे इसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो सकता है ॥ १५ ॥ मुझे जो यह त्रैकालिक ज्ञान हुआ है, यह भी उनके सिवा और किसने दिया है; क्योंकि स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंमें एकमात्र वे ही तो अन्तर्यामीरूप अंशसे विद्यमान हैं। अतः जीवरूप कर्मजनित पदवीका अनुवर्तन करनेवाले हम अपने त्रिविध तापोंकी शान्तिके लिये उन्हींका भजन

देहान्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः ।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्
निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु ॥ १७

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश
संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥ १८

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः
शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।
यत्सृष्ट्याऽऽसं तमहं पुरुषं पुराणं
पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव^१ प्रतीतम् ॥ १९

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्ध्रकूपे ।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥ २०

तस्मादहं विगतविक्रव उद्धरिष्य
आत्मानमाशु तमसः सुहृदाऽऽत्मनैव ।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥ २१

कपिल उवाच

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः ।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥ २२

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक् शिर आतुरः ।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥ २३

पतितो भुव्यसृङ्मूत्रे विष्ठाभूरिव चेष्टते ।
रोरूयति^२ गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ॥ २४

करते हैं ॥ १६ ॥

भगवन् ! यह देहधारी जीव दूसरी (माताके) देहके उदरके भीतर मल, मूत्र और रुधिरके कुएँमें गिरा हुआ है, उसकी जठराग्निसे इसका शरीर अत्यन्त सन्तप्त हो रहा है। उससे निकलनेकी इच्छा करता हुआ यह अपने महीने गिन रहा है। भगवन् ! अब इस दीनको यहाँसे कब निकाला जायगा ? ॥ १७ ॥ स्वामिन् ! आप बड़े दयालु हैं, आप-जैसे उदार प्रभुने ही इस दस मासके जीवको ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है। दीनबन्धो ! इस अपने किये हुए उपकारसे ही आप प्रसन्न हों; क्योंकि आपको हाथ जोड़नेके सिवा आपके उस उपकारका बदला तो कोई दे भी क्या सकता है ॥ १८ ॥

प्रभो ! संसारके ये पशु-पक्षी आदि अन्य जीव तो अपनी मूढ़ बुद्धिके अनुसार अपने शरीरमें होनेवाले सुख-दुःखादिका ही अनुभव करते हैं; किन्तु मैं तो आपकी कृपासे शम-दमादि साधनसम्पन्न शरीरसे युक्त हुआ हूँ, अतः आपकी दी हुई विवेकवती बुद्धिसे आप पुराणपुरुषको अपने शरीरके बाहर और भीतर अहङ्कारके आश्रयभूत आत्माकी भाँति प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ ॥ १९ ॥ भगवन् ! इस अत्यन्त दुःखसे भरे हुए गर्भाशयमें यद्यपि मैं बड़े कष्टसे रह रहा हूँ, तो भी इससे बाहर निकलकर संसारमय अन्धकूपमें गिरनेकी मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं है; क्योंकि उसमें जानेवाले जीवको आपकी माया घेर लेती है। जिसके कारण उसकी शरीरमें अहंबुद्धि हो जाती है और उसके परिणाममें उसे फिर इस संसारचक्रमें ही पड़ना होता है ॥ २० ॥ अतः मैं व्याकुलताको छोड़कर हृदयमें श्रीविष्णुभगवान्‌के चरणोंको स्थापितकर अपनी बुद्धिकी सहायतासे ही अपनेको बहुत शीघ्र इस संसाररूप समुद्रके पार लगा दूँगा, जिससे मुझे अनेक प्रकारके दोषोंसे युक्त यह संसार-दुःख फिर न प्राप्त हो ॥ २१ ॥

कपिलदेवजी कहते हैं—माता ! वह दस महीनेका जीव गर्भमें ही जब इस प्रकार विवेकसम्पन्न होकर भगवान्‌की स्तुति करता है, तब उस अधोमुख बालकको प्रसवकालकी वायु तत्काल बाहर आनेके लिये ढकेलती है ॥ २२ ॥ उसके सहसा ढेलनेपर वह बालक अत्यन्त व्याकुल हो नीचे सिर करके बड़े कष्टसे बाहर निकलता है। उस समय उसके श्वासकी गति रुक जाती है और पूर्वस्मृति नष्ट हो जाती है ॥ २३ ॥ पृथ्वीपर माताके रुधिर और मूत्रमें पड़ा हुआ वह बालक विष्ठाके कीड़ेके समान छटपटाता है। उसका गर्भवासका सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति (देहाभिमानरूप अज्ञान-दशा) - को प्राप्त होकर बार-बार जोर-जोरसे रोता है ॥ २४ ॥

परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः ।
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ॥ २५

शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते ।
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने ॥ २६

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मल्कुणादयः ।
स्दन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा ॥ २७

इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च ।
अलब्धाभीप्सितोऽङ्गानादिद्वमन्युः शुचार्पितः ॥ २८

सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना ।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥ २९

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देहाबुधोऽसकृत् ।
अहंममेत्यसद्वाहः करोति कुमतिर्मतिम् ॥ ३०

तदर्थं कुरुते कर्म यद्वद्धो याति संसृतिम् ।
योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ॥ ३१

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्रोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥ ३२

सत्यं शौचं दया^१ मौनं बुद्धिः श्रीर्हीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्ख्यम् ॥ ३३

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥ ३४

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः^२ ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ ३५

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।
रोहिद्वृतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः ॥ ३६

फिर जो लोग उसका अभिप्राय नहीं समझ सकते, उनके द्वारा उसका पालन-पोषण होता है। ऐसी अवस्थामें उसे जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है, उसका निषेध करनेकी शक्ति भी उसमें नहीं होती ॥ २५ ॥ जब उस जीवको शिशु-अवस्थामें मैली-कुचैली खाटपर सुला दिया जाता है, जिसमें खटमल आदि स्वेदज जीव चिपटे रहते हैं, तब उसमें शरीरको खुजलाने, उठाने अथवा करवट बदलनेकी भी सामर्थ्य न होनेके कारण वह बड़ा कष्ट पाता है ॥ २६ ॥ उसकी त्वचा बड़ी कोमल होती है; उसे डाँस, मच्छर और खटमल आदि उसी प्रकार काटते रहते हैं, जैसे बड़े कीड़ेको छोटे कीड़े। इस समय उसका गर्भावस्थाका सारा ज्ञान जाता रहता है, सिवा रोनेके वह कुछ नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

इसी प्रकार बाल्य (कौमार) और पौगण्ड— अवस्थाओंके दुःख भोगकर वह बालक युवावस्थामें पहुँचता है। इस समय उसे यदि कोई इच्छित भोग नहीं प्राप्त होता, तो अज्ञानवश उसका क्रोध उदीप्त हो उठता है और वह शोकाकुल हो जाता है ॥ २८ ॥ देहके साथ-ही-साथ अभिमान और क्रोध बढ़ जानेके कारण वह कामपरवश जीव अपना ही नाश करनेके लिये दूसरे कामी पुरुषोंके साथ वैर ठानता है ॥ २९ ॥ खोटी बुद्धिवाला वह अज्ञानी जीव पञ्चभूतोंसे रचे हुए इस देहमें मिथ्याभिनिवेशके कारण निरन्तर मैं-मेरेपनका अभिमान करने लगता है ॥ ३० ॥ जो शरीर इसे वृद्धावस्था आदि अनेक प्रकारके कष्ट ही देता है तथा अविद्या और कर्मके सूत्रसे बँधा रहनेके कारण सदा इसके पीछे लगा रहता है, उसीके लिये यह तरह-तरहके कर्म करता रहता है— जिनमें बँध जानेके कारण इसे बार-बार संसार-चक्रमें पड़ना होता है ॥ ३१ ॥ सन्मार्गमें चलते हुए यदि इसका किन्हीं जिह्वा और उपस्थेन्द्रियके भोगोंमें लगे हुए विषयी पुरुषोंसे समागम हो जाता है, और यह उनमें आस्था करके उन्हींका अनुगमन करने लगता है, तो पहलेके समान ही फिर नारकी योनियोंमें पड़ता है ॥ ३२ ॥ जिनके सङ्गसे इसके सत्य, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, वाणीका संयम, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सदगुण नष्ट हो जाते हैं। उन अत्यन्त शोचनीय, स्त्रियोंके क्रीडामृग (खिलौना), अशान्त, मूढ़ और देहात्मदर्शी, असत्पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥ क्योंकि इस जीवको किसी औरका सङ्ग करनेसे ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता, जैसा स्त्री और स्त्रियोंके सङ्गियोंका सङ्ग करनेसे होता है ॥ ३५ ॥ एक बार अपनी पुत्री सरस्वतीको देखकर ब्रह्माजी भी उसके रूप-लावण्यसे मोहित हो

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान् ।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥ ३७

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान्^१ भ्रूविजृम्भेण केवलम् ॥ ३८

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥ ३९

योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता ।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ ४०

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् ।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥ ४१

तामात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम् ।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोगार्थिनं यथा ॥ ४२

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन् ।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥ ४३

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः^२ ।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥ ४४

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।
तत्पञ्चत्वमहं मानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्^३ ॥ ४५

यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा ।
तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥ ४६

गये थे और उसके मृगीरूप होकर भागनेपर उसके पीछे निर्लज्जतापूर्वक मृगरूप होकर दौड़ने लगे ॥ ३६ ॥ उन्हीं ब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंकी तथा मरीचि आदिने कश्यपादिकी और कश्यपादिने देव-मनुष्यादि प्राणियोंकी सृष्टि की । अतः इनमें एक ऋषिप्रवर नारायणको छोड़कर ऐसा कौन पुरुष हो सकता है, जिसकी बुद्धि स्त्रीरूपिणी मायासे मोहित न हो ॥ ३७ ॥ अहो ! मेरी इस स्त्रीरूपिणी मायाका बल तो देखो, जो अपने भ्रुकुटि-विलासमात्रसे बड़े-बड़े दिग्विजयी वीरोंको पैरोंसे कुचल देती है ॥ ३८ ॥

जो पुरुष योगके परम पदपर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवाके प्रभावसे आत्मा-अनात्माका विवेक हो गया हो, वह स्त्रियोंका सङ्ग कभी न करे; क्योंकि उन्हें ऐसे पुरुषके लिये नरकका खुला द्वार बताया गया है ॥ ३९ ॥ भगवान्की रची हुई यह जो स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे सेवा आदिके मिससे पास आती है, इसे तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान अपनी मृत्यु ही समझे ॥ ४० ॥

स्त्रीमें आसक्त रहनेके कारण तथा अन्त समयमें स्त्रीका ही ध्यान रहनेसे जीवको स्त्रीयोनि प्राप्त होती है । इस प्रकार स्त्रीयोनिको प्राप्त हुआ जीव पुरुषरूपमें प्रतीत होनेवाली मेरी मायाको ही धन, पुत्र और गृह आदि देनेवाला अपना पति मानता रहता है; सो जिस प्रकार व्याधेका गान कानोंको प्रिय लगनेपर भी बेचारे भोले-भाले पशु-पक्षियोंको फँसाकर उनके नाशका ही कारण होता है—उसी प्रकार उन पुत्र, पति और गृह आदिको विधाताकी निश्चित की हुई अपनी मृत्यु ही जाने ॥ ४१-४२ ॥ देवि ! जीवके उपाधिभूत लिङ्गदेहके द्वारा पुरुष एक लोकसे दूसरे लोकमें जाता है और अपने प्रारब्धकर्मोंको भोगता हुआ निरन्तर अन्य देहोंकी प्राप्तिके लिये दूसरे कर्म करता रहता है ॥ ४३ ॥ जीवका उपाधिरूप लिङ्गशरीर तो मोक्षपर्यन्त उसके साथ रहता है तथा भूत, इन्द्रिय और मनका कार्यरूप स्थूलशरीर इसका भोगाधिष्ठान है । इन दोनोंका परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणीकी 'मृत्यु' है और दोनोंका साथ-साथ प्रकट होना 'जन्म' कहलाता है ॥ ४४ ॥ पदार्थोंकी उपलब्धिके स्थानरूप इस स्थूलशरीरमें जब उनको ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रहती, यह उसका मरण है और यह स्थूलशरीर ही मैं हूँ—इस अभिमानके साथ उसे देखना उसका जन्म है ॥ ४५ ॥ नेत्रोंमें जब किसी दोषके कारण रूपादिको देखनेकी योग्यता नहीं रहती, तभी उनमें रहनेवाली चक्षु-इन्द्रिय भी रूप देखनेमें असमर्थ हो जाती है । और जब नेत्र और उनमें रहनेवाली इन्द्रिय दोनों ही रूप देखनेमें असमर्थ हो जाते हैं, तभी इन दोनोंके साक्षी जीवमें भी वह योग्यता नहीं रहती ॥ ४६ ॥

तस्मान्न कार्यः सन्नासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः ।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥ ४७

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया ।
मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥ ४८

अतः मुमुक्षु पुरुषको मरणादिसे भय, दीनता अथवा मोह नहीं होना चाहिये। उसे जीवके स्वरूपको जानकर धैर्यपूर्वक निःसङ्गभावसे विचरना चाहिये तथा इस मायामय संसारमें योग-वैराग्य-युक्त सम्यक् ज्ञानमयी बुद्धिसे शरीरको निक्षेप (धरोहर) की भाँति रखकर उसके प्रति अनासक्त रहते हुए विचरण करना चाहिये ॥ ४७-४८ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने^१
जीवगतिर्नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥



अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

धूममार्ग और अर्चिरादि मार्गसे जानेवालोंकी गतिका और
भक्तियोगकी उत्कृष्टताका वर्णन

कपिल उवाच

अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानिवावसन् गृहे ।
काममर्थं च धर्मान् स्वान्दोग्धिभूयः पिपर्तितान् ॥ १

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः ।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः ॥ २

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् ।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥ ३

यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः ।
तदा लोका लयं यान्ति त^२ एते गृहमेधिनाम् ॥ ४

ये स्वधर्मान्न^३ दुहन्ति धीराः कामार्थहेतवे ।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः ॥ ५

निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः ।
स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ॥ ६

सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।
परावरेण प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ॥ ७

द्विपराद्धाविसाने^४ यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ॥ ८

कपिलदेवजी कहते हैं—माताजी ! जो पुरुष घरमें रहकर सकामभावसे गृहस्थके धर्मोंका पालन करता है और उनके फलस्वरूप अर्थ एवं कामका उपभोग करके फिर उन्हींका अनुष्ठान करता रहता है, वह तरह-तरहकी कामनाओंसे मोहित रहनेके कारण भगवद्धर्मोंसे विमुख हो जाता है और यज्ञोंद्वारा श्रद्धापूर्वक देवता तथा पितरोंकी ही आराधना करता रहता है ॥ १-२ ॥ उसकी बुद्धि उसी प्रकारकी श्रद्धासे युक्त रहती है, देवता और पितर ही उसके उपास्य रहते हैं; अतः वह चन्द्रलोकमें जाकर उनके साथ सोमपान करता है और फिर पुण्य क्षीण होनेपर इसी लोकमें लौट आता है ॥ ३ ॥ जिस समय प्रलयकालमें शेषशायी भगवान् शेषशय्यापर शयन करते हैं, उस समय सकाम गृहस्थाश्रमियोंको प्राप्त होनेवाले ये सब लोक भी लीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥

जो विवेकी पुरुष अपने धर्मोंका अर्थ और भोग-विलासके लिये उपयोग नहीं करते, बल्कि भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही उनका पालन करते हैं—वे अनासक्त, प्रशान्त, शुद्धचित्त, निवृत्तिधर्मपरायण, ममतारहित और अहङ्कारशून्य पुरुष स्वधर्मपालनरूप सत्त्वगुणके द्वारा सर्वथा शुद्धचित्त हो जाते हैं ॥ ५-६ ॥ वे अन्तमें सूर्यमार्ग (अर्चिमार्ग या देवयान) के द्वारा सर्वव्यापी पूर्णपुरुष श्रीहरिको ही प्राप्त होते हैं—जो कार्य-कारणरूप जगत्के नियन्ता, संसारके उपादान-कारण और उसकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करनेवाले हैं ॥ ७ ॥ जो लोग परमात्मदृष्टिसे हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं, वे दो परार्द्धमें होनेवाले ब्रह्माजीके प्रलयपर्यन्त उनके सत्यलोकमें ही रहते हैं ॥ ८ ॥ जिस समय देवतादिसे श्रेष्ठ

क्षमाभ्योऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-

भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्चिहीर्षुः^१ ।

अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा

कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः ॥ ९

एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा

ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।

तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं

ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः^२ ॥ १०

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।

श्रुतानुभावं शरणं ब्रज भावेन भामिनि^३ ॥ ११

आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः ।

योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः ॥ १२

भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा ।

कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ॥ १३

स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना ।

जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ॥ १४

ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च^४ तेऽपि धर्मविनिर्मितम् ।

निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ॥ १५

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।

कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥ १६

रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः ।

पितृन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥ १७

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः ।

कथायां^५ कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥ १८

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम् ।

हित्वा शृण्वन्त्यसद्वाथाः पुरीषमिव विद्भुजः ॥ १९

ब्रह्माजी अपने द्विपरार्द्धकालके अधिकारको भोगकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, इन्द्रिय, उनके विषय (शब्दादि) और अहङ्कारादिके सहित सम्पूर्ण विश्वका संहार करनेकी इच्छासे त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके साथ एकरूप होकर निर्विशेष परमात्मा में लीन हो जाते हैं, उस समय प्राण और मनको जीते हुए वे विरक्त योगिगण भी देह त्यागकर उन भगवान् ब्रह्माजीमें ही प्रवेश करते हैं और फिर उन्हींके साथ परमानन्दस्वरूप पुराणपुरुष परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। इससे पहले वे भगवान्में लीन नहीं हुए, क्योंकि अबतक उनमें अहङ्कार शेष था ॥ ९-१० ॥ इसलिये माताजी ! अब तुम भी अत्यन्त भक्तिभावसे उन श्रीहरिकी ही चरण-शरणमें जाओ; समस्त प्राणियोंका हृदय-कमल ही उनका मन्दिर है और तुमने भी मुझसे उनका प्रभाव सुन ही लिया है ॥ ११ ॥ वेदगर्भ ब्रह्माजी भी—जो समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके आदिकारण हैं—मरीचि आदि ऋषियों, योगेश्वरों, सनकादिकों तथा योगप्रवर्तक सिद्धोंके सहित निष्काम कर्मके द्वारा आदिपुरुष पुरुषश्रेष्ठ सगुण ब्रह्मको प्राप्त होकर भी भेददृष्टि और कर्तृत्वाभिमानके कारण भगवदिच्छासे, जब सर्गकाल उपस्थित होता है तब, कालरूप ईश्वरकी प्रेरणासे गुणोंमें क्षोभ होनेपर फिर पूर्ववत् प्रकट हो जाते हैं ॥ १२-१४ ॥ इसी प्रकार पूर्वोक्त ऋषिगण भी अपने-अपने कर्मानुसार ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको भोगकर भगवदिच्छासे गुणोंमें क्षोभ होनेपर पुनः इस लोकमें आ जाते हैं ॥ १५ ॥

जिनका चित्त इस लोकमें आसक्त है और जो कर्मोंमें श्रद्धा रखते हैं, वे वेदमें कहे हुए काम्य और नित्य कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करनेमें ही लगे रहते हैं ॥ १६ ॥ उनकी बुद्धि रजोगुणकी अधिकताके कारण कुण्ठित रहती है, हृदयमें कामनाओंका जाल फैला रहता है और इन्द्रियाँ उनके वशमें नहीं होतीं; बस, अपने घरोंमें ही आसक्त होकर वे नित्यप्रति पितरोंकी पूजामें लगे रहते हैं ॥ १७ ॥ ये लोग अर्थ, धर्म और कामके ही परायण होते हैं; इसलिये जिनके महान् पराक्रम अत्यन्त कीर्तनीय हैं, उन भवभयहारी श्रीमधुसूदन भगवान्की कथा-वार्ताओंसे तो ये विमुख ही रहते हैं ॥ १८ ॥ हाय ! विष्टा-भोजी कूकर-सूकर आदि जीवोंके विष्टा चाहनेके समान जो मनुष्य भगवत्कथामृतको छोड़कर निन्दित विषय-वार्ताओंको सुनते हैं—वे तो अवश्य ही विधाताके मारे हुए हैं, उनका बड़ा ही मन्द भाग्य है ॥ १९ ॥

दक्षिणेन पथार्यम्णाः^१ पितृलोकं व्रजन्ति ते^२ ।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः^३ ॥ २०

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति ।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ॥ २१

तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥ २२

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ २३

यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥ २४

स तदैवात्मनाऽऽत्मानं निःसङ्गं^४ समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥ २५

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते^५ ॥ २६

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः^६ ॥ २७

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म^७ निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥ २८

यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराद् ।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥ २९

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या^८ परिपश्यति ॥ ३०

इत्येतत्कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम् ।
येनानुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ३१

गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिक सब संस्कारोंको विधिपूर्वक करनेवाले ये सकामकर्मी सूर्यसे दक्षिण ओरके पितृयान या धूममार्गसे पित्रीश्वर अर्यमाके लोकमें जाते हैं और फिर अपनी ही सन्ततिके वंशमें उत्पन्न होते हैं ॥ २० ॥ माताजी ! पितृलोकके भोग भोग लेनेपर जब उनके पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवतालोग उन्हें वहाँके ऐश्वर्यसे च्युत कर देते हैं और फिर उन्हें विवश होकर तुरन्त ही इस लोकमें गिरना पड़ता है ॥ २१ ॥ इसलिये माताजी ! जिनके चरण-कमल सदा भजनेयोग्य हैं, उन भगवान्का तुम उन्हींके गुणोंका आश्रय लेनेवाली भक्तिके द्वारा सब प्रकारसे (मन, वाणी और शरीरसे) भजन करो ॥ २२ ॥ भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है ॥ २३ ॥ वस्तुतः सभी विषय भगवद्रूप होनेके कारण समान हैं । अतः जब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके द्वारा भी भगवद्भक्तका चित्त उनमें प्रिय-अप्रियरूप विषमताका अनुभव नहीं करता—सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन करता है—उसी समय वह सङ्गरहित, सबमें समानरूपसे स्थित, त्याग और ग्रहण करनेयोग्य, दोष और गुणोंसे रहित, अपनी महिमामें आरूढ़ अपने आत्माका ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार करता है ॥ २४-२५ ॥ वही ज्ञानस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही ईश्वर है, वही पुरुष है; वही एक भगवान् स्वयं जीव, शरीर, विषय, इन्द्रियों आदि अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है ॥ २६ ॥ सम्पूर्ण संसारमें आसक्तिका अभाव हो जाना—बस, यही योगियोंके सब प्रकारके योग-साधनका एकमात्र अभीष्ट फल है ॥ २७ ॥ ब्रह्म एक है, ज्ञानस्वरूप और निर्गुण है, तो भी वह बाह्य-वृत्तियोंवाली इन्द्रियोंके द्वारा भ्रान्तिवश शब्दादि धर्मोंवाले विभिन्न पदार्थोंके रूपमें भास रहा है ॥ २८ ॥ जिस प्रकार एक ही परब्रह्म महत्तत्त्व, वैकारिक, राजस और तामस—तीन प्रकारका अहङ्कार, पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियरूप बन गया और फिर वही स्वयंप्रकाश इनके संयोगसे जीव कहलाया, उसी प्रकार उस जीवका शरीररूप यह ब्रह्माण्ड भी वस्तुतः ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्मसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है ॥ २९ ॥ किन्तु इसे ब्रह्मरूप वही देख सकता है, जो श्रद्धा, भक्ति और वैराग्य तथा निरन्तरके योगाभ्यासके द्वारा एकाग्रचित्त और असङ्गबुद्धि हो गया है ॥ ३० ॥

पूजनीय माताजी ! मैंने तुम्हें यह ब्रह्मसाक्षात्कारका साधनरूप ज्ञान सुनाया, इसके द्वारा प्रकृति और पुरुषके

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।
 द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥ ३२
 यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः ।
 एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ॥ ३३
 क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः^१ ।
 आत्मेन्द्रियजयेनापि संन्यासेन च कर्मणाम् ॥ ३४
 योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।
 धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ॥ ३५
 आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।
 ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ॥ ३६
 प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम् ।
 कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु ॥ ३७
 जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः ।
 यास्वङ्गप्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः ॥ ३८
 नैतत्स्वलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित् ।
 न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ॥ ३९
 न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे ।
 नाभक्ताय च मे जातु^२ न मद्भक्तद्विषामपि ॥ ४०
 श्रद्धधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे ।
 भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ॥ ४१
 बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम्^३ ।
 निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः ॥ ४२
 य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् ।
 यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च^४ मे ॥ ४३

यथार्थस्वरूपका बोध हो जाता है ॥ ३१ ॥ देवि ! निर्गुणब्रह्म-विषयक ज्ञानयोग और मेरे प्रति किया हुआ भक्तियोग—इन दोनोंका फल एक ही है । उसे ही भगवान् कहते हैं ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार रूप, रस एवं गन्ध आदि अनेक गुणोंका आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा विभिन्नरूपसे अनुभूत होता है, वैसे ही शास्त्रके विभिन्न मार्गोंद्वारा एक ही भगवान्की अनेक प्रकारसे अनुभूति होती है ॥ ३३ ॥ नाना प्रकारके कर्मकलाप, यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन, वेदविचार (मीमांसा), मन और इन्द्रियोंके संयम, कर्मोंके त्याग, विविध अङ्गोंवाले योग, भक्तियोग, निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके धर्म, आत्मतत्त्वके ज्ञान और दृढ़ वैराग्य—इन सभी साधनोंसे सगुण-निर्गुणरूप स्वयंप्रकाश भगवान्को ही प्राप्त किया जाता है ॥ ३४-३६ ॥

माताजी ! सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण-भेदसे चार प्रकारके भक्तियोगका और जो प्राणियोंके जन्मादि विकारोंका हेतु है तथा जिसकी गति जानी नहीं जाती, उस कालका स्वरूप मैं तुमसे कह ही चुका हूँ ॥ ३७ ॥ देवि ! अविद्याजनित कर्मके कारण जीवकी अनेकों गतियाँ होती हैं; उनमें जानेपर वह अपने स्वरूपको नहीं पहचान सकता ॥ ३८ ॥ मैंने तुम्हें जो ज्ञानोपदेश दिया है—उसे दुष्ट, दुर्विनीत, घमंडी, दुराचारी और धर्मध्वजी (दम्भी) पुरुषोंको नहीं सुनाना चाहिये ॥ ३९ ॥ जो विषयलोलुप हो, गृहासक्त हो, मेरा भक्त न हो अथवा मेरे भक्तोंसे द्वेष करनेवाला हो, उसे भी इसका उपदेश कभी न करे ॥ ४० ॥ जो अत्यन्त श्रद्धालु, भक्त, विनयी, दूसरोंके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाला, सब प्राणियोंसे मित्रता रखनेवाला, गुरुसेवामें तत्पर, बाह्य विषयोंमें अनासक्त, शान्तचित्त, मत्सरशून्य और पवित्रचित्त हो तथा मुझे परम प्रियतम माननेवाला हो, उसे इसका अवश्य उपदेश करे ॥ ४१-४२ ॥ मा ! जो पुरुष मुझमें चित्त लगाकर इसका श्रद्धापूर्वक एक बार भी श्रवण या कथन करेगा, वह मेरे परमपदको प्राप्त होगा ॥ ४३ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
 कापिलेये^५ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥



अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

देवहूतिको तत्त्वज्ञान एवं मोक्षपदकी प्राप्ति

मैत्रेय उवाच

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री
सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः ।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य
तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ॥ १

देवहूतिरुवाच

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं
दध्यौ स्वयं यजठराब्जजातः ॥ २

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि-
रात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥ ३

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ
कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः
शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥ ४

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां
निदेशभाजां च विभो विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादय-
स्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥ ५

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि^१ क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥ ६

मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! श्रीकपिल भगवान्‌के ये वचन सुनकर कर्दमजीकी प्रिय पत्नी माता देवहूतिके मोहका पर्दा फट गया और वे तत्त्वप्रतिपादक सांख्यशास्त्रके ज्ञानकी आधारभूमि भगवान्‌ श्रीकपिलजीको प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगीं ॥ १ ॥

देवहूतिजीने कहा—कपिलजी ! ब्रह्माजी आपके ही नाभिकमलसे प्रकट हुए थे। उन्होंने प्रलयकालीन जलमें शयन करनेवाले आपके पञ्चभूत, इन्द्रिय, शब्दादि विषय और मनोमय विग्रहका, जो सत्त्वादि गुणोंके प्रवाहसे युक्त, सत्स्वरूप और कार्य एवं कारण दोनोंका बीज है, ध्यान ही किया था ॥ २ ॥ आप निष्क्रिय, सत्यसङ्कल्प, सम्पूर्ण जीवोंके प्रभु तथा सहस्रों अचिन्त्य शक्तियोंसे सम्पन्न हैं। अपनी शक्तिको गुणप्रवाहरूपसे ब्रह्मादि अनन्त मूर्तियोंमें विभक्त करके उनके द्वारा आप स्वयं ही विश्वकी रचना आदि करते हैं ॥ ३ ॥ नाथ ! यह कैसी विचित्र बात है कि जिनके उदरमें प्रलयकाल आनेपर यह सारा प्रपञ्च लीन हो जाता है और जो कल्पान्तमें मायामय बालकका रूप धारण कर अपने चरणका अँगूठा चूसते हुए अकेले ही वटवृक्षके पत्रपर शयन करते हैं, उन्हीं आपको मैंने गर्भमें धारण किया ॥ ४ ॥ विभो ! आप पापियोंका दमन और अपने आज्ञाकारी भक्तोंका अभ्युदय एवं कल्याण करनेके लिये स्वेच्छासे देह धारण किया करते हैं। अतः जिस प्रकार आपके वराह आदि अवतार हुए हैं, उसी प्रकार यह कपिलावतार भी मुमुक्षुओंको ज्ञानमार्ग दिखानेके लिये हुआ है ॥ ५ ॥ भगवन् ! आपके नामोंका श्रवण या कीर्तन करनेसे तथा भूले-भटके कभी-कभी आपका वन्दन या स्मरण करनेसे ही कुत्तेका मांस खानेवाला चाण्डाल भी सोमयाजी ब्राह्मणके समान पूजनीय हो सकता है; फिर आपका दर्शन करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है ॥ ६ ॥ अहो !

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यजिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्त्रुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥ ७

यं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक्स्त्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥ ८

मैत्रेय उवाच

ईडितो भगवानेवं कपिलारब्धः परः पुमान् ।
वाचाविक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः ॥ ९

कपिल उवाच

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे ।
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्त्यसि^१ ॥ १०
श्रद्धुत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः ।
येन मामभवं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः ॥ ११

मैत्रेय उवाच

इति प्रदर्शय भगवान् सतीं तामात्मनो गतिम् ।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ॥ १२
सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन^२ योगयुक् ।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे^३ सरस्वत्याः समाहिता ॥ १३
अभीक्ष्णावगाहकपिशान्^४ जटिलान् कुटिलालकान् ।
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम् ॥ १४
प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम् ।
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्य वैमानिकैरपि ॥ १५
पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च ॥ १६

वह चाण्डाल भी इसीसे सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम विराजमान है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया ॥ ७ ॥ कपिलदेवजी ! आप साक्षात् परब्रह्म हैं, आप ही परम पुरुष हैं, वृत्तियोंके प्रवाहको अन्तर्मुख करके अन्तःकरणमें आपका ही चिन्तन किया जाता है। आप अपने तेजसे मायाके कार्य गुण-प्रवाहको शान्त कर देते हैं तथा आपके ही उदरमें सम्पूर्ण वेदतत्त्व निहित है। ऐसे साक्षात् विष्णुस्वरूप आपको मैं प्रणाम करती हूँ ॥ ८ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—माताके इस प्रकार स्तुति करनेपर मातृवत्सल परमपुरुष भगवान् कपिलदेवजीने उनसे गम्भीर वाणीमें कहा ॥ ९ ॥

कपिलदेवजीने कहा—माताजी ! मैंने तुम्हें जो यह सुगम मार्ग बताया है, इसका अवलम्बन करनेसे तुम शीघ्र ही परमपद प्राप्त कर लोगी ॥ १० ॥ तुम मेरे इस मतमें विश्वास करो, ब्रह्मवादी लोगोंने इसका सेवन किया है; इसके द्वारा तुम मेरे जन्म-मरणरहित स्वरूपको प्राप्त कर लोगी। जो लोग मेरे इस मतको नहीं जानते, वे जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ते हैं ॥ ११ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार अपने श्रेष्ठ आत्मज्ञानका उपदेश कर श्रीकपिलदेवजी अपनी ब्रह्मवादिनी जननीकी अनुमति लेकर वहाँसे चले गये ॥ १२ ॥ तब देवहूतिजी भी सरस्वतीके मुकुटसदृश अपने आश्रममें अपने पुत्रके उपदेश किये हुए योगसाधनके द्वारा योगाभ्यास करती हुई समाधिमें स्थित हो गयीं ॥ १३ ॥ त्रिकाल स्नान करनेसे उनकी घुँघराली अलकें भूरी-भूरी जटाओंमें परिणत हो गयीं तथा चीर-वखोंसे ढका हुआ शरीर उग्र तपस्याके कारण दुर्बल हो गया ॥ १४ ॥ उन्होंने प्रजापति कर्दमके तप और योगबलसे प्राप्त अनुपम गार्हस्थ्यसुखको, जिसके लिये देवता भी तरसते थे, त्याग दिया ॥ १५ ॥ जिसमें दुग्धफेनके समान स्वच्छ और सुकोमल शय्यासे युक्त हाथी-दाँतके पलंग, सुवर्णके पात्र, सोनेके सिंहासन और उनपर कोमल-कोमल गद्दे बिछे हुए थे तथा जिसकी

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥ १७

गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम् ॥ १८

यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः ।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम् ॥ १९

हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम् ।
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा ॥ २०

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा ।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ॥ २१

तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् ।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे ॥ २२

ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम् ।
सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया ॥ २३

भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा ।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना ॥ २४

विशुद्धेन तदाऽऽत्मानमात्मना विश्वतोमुखम् ।
स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम् ॥ २५

ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ।
निवृत्तजीवापत्तित्वात्क्षीणक्लेशाऽऽप्तनिर्वृतिः^१ ॥ २६

नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा ।
न सस्मार तदाऽऽत्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः ॥ २७

तद्देहः परतःपोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात् ।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः ॥ २८

स्वच्छ स्फटिकमणि और महामरकतमणिकी भीतोंमें रत्नोंकी बनी हुई रमणी-मूर्तियोंके सहित मणिमय दीपक जगमगा रहे थे, जो फूलोंसे लदे हुए अनेकों दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित था, जिसमें अनेक प्रकारके पक्षियोंका कलरव और मतवाले भौरोंका गुंजार होता रहता था, जहाँकी कमलगन्धसे सुवासित बावलियोंमें कर्दमजीके साथ उनका लाड़-प्यार पाकर क्रीडाके लिये प्रवेश करनेपर उसका (देवहूतिका) गन्धर्वगण गुणगान किया करते थे और जिसे पानेके लिये इन्द्राणियाँ भी लालायित रहती थीं—उस गृहोद्यानकी भी ममता उन्होंने त्याग दी। किन्तु पुत्रवियोगसे व्याकुल होनेके कारण अवश्य उनका मुख कुछ उदास हो गया ॥ १६—२० ॥

पतिके वनगमनके अनन्तर पुत्रका भी वियोग हो जानेसे वे आत्मज्ञानसम्पन्न होकर भी ऐसी व्याकुल हो गयीं, जैसे बछड़ेके बिछुड़ जानेसे उसे प्यार करनेवाली गौ ॥ २१ ॥ वत्स विदुर! अपने पुत्र कपिलदेवरूप भगवान् हरिका ही चिन्तन करते-करते वे कुछ ही दिनोंमें ऐसे ऐश्वर्यसम्पन्न घरसे भी उपरत हो गयीं ॥ २२ ॥ फिर वे, कपिलदेवजीने भगवान्के जिस ध्यान करनेयोग्य प्रसन्नवदनारविन्दयुक्त स्वरूपका वर्णन किया था, उसके एक-एक अवयवका तथा उस समग्र रूपका भी चिन्तन करती हुई ध्यानमें तत्पर हो गयीं ॥ २३ ॥ भगवद्भक्तिके प्रवाह, प्रबल वैराग्य और यथोचित कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न हुए ब्रह्म साक्षात्कार करानेवाले ज्ञानद्वारा चित्त शुद्ध हो जानेपर वे उस सर्वव्यापक आत्माके ध्यानमें मग्न हो गयीं, जो अपने स्वरूपके प्रकाशसे मायाजनित आवरणको दूर कर देता है ॥ २४-२५ ॥ इस प्रकार जीवके अधिष्ठानभूत परब्रह्म श्रीभगवान्में ही बुद्धिकी स्थिति हो जानेसे उनका जीवभाव निवृत्त हो गया और वे समस्त क्लेशोंसे मुक्त होकर परमानन्दमें निमग्न हो गयीं ॥ २६ ॥ अब निरन्तर समाधिस्थ रहनेके कारण उनकी विषयोंके सत्यत्वकी भ्रान्ति मिट गयी और उन्हें अपने शरीरकी भी सुधि न रही—जैसे जागे हुए पुरुषको अपने स्वप्नमें देखे हुए शरीरकी नहीं रहती ॥ २७ ॥ उनके शरीरका पोषण भी दूसरोंके द्वारा ही होता था। किन्तु किसी प्रकारका मानसिक क्लेश न होनेके कारण वह दुर्बल नहीं हुआ। उसका तेज और भी निखर गया और वह मैलके कारण धूमयुक्त

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम् ।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः ॥ २९

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम् ।
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तमवाप ह ॥ ३०

तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥ ३१

तस्यास्तद्योगविधुतमार्त्यं मर्त्यमभूत्सरित् ।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता^१ ॥ ३२

कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात् ।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ ॥ ३३

सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ॥ ३४

आस्ते योगं समास्थाय सांख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै^२ समाहितः ॥ ३५

एतन्निगदितं तात यत्पृष्टोऽहं तवानघ^३ ।
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः ॥ ३६

य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते
कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेता-
वुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥ ३७

अग्निके समान सुशोभित होने लगा । उनके बाल बिथुर गये थे और वस्त्र भी गिर गया था; तथापि निरन्तर श्रीभगवान्‌में ही चित्त लगा रहनेके कारण उन्हें अपने तपोयोगमय शरीरकी कुछ भी सुधि नहीं थी, केवल प्रारब्ध ही उसकी रक्षा करता था ॥ २८-२९ ॥

विदुरजी ! इस प्रकार देवहूतिजीने कपिलदेवजीके बताये हुए मार्गद्वारा थोड़े ही समयमें नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लिया ॥ ३० ॥ वीरवर ! जिस स्थानपर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह परम पवित्र क्षेत्र त्रिलोकीमें 'सिद्धपद' नामसे विख्यात हुआ ॥ ३१ ॥ साधुस्वभाव विदुरजी ! योगसाधनके द्वारा उनके शरीरके सारे दैहिक मल दूर हो गये थे । वह एक नदीके रूपमें परिणत हो गया, जो सिद्धगणसे सेवित और सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाली है ॥ ३२ ॥

महायोगी भगवान् कपिलजी भी माताकी आज्ञा ले पिताके आश्रमसे ईशानकोणकी ओर चले गये ॥ ३३ ॥ वहाँ स्वयं समुद्रने उनका पूजन करके उन्हें स्थान दिया । वे तीनों लोकोंको शान्ति प्रदान करनेके लिये योगमार्गका अवलम्बन कर समाधिमें स्थित हो गये हैं । सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मुनि और अप्सरागण उनकी स्तुति करते हैं तथा सांख्याचार्यगण भी उनका सब प्रकार स्तवन करते रहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

निष्पाप विदुरजी ! तुम्हारे पूछनेसे मैंने तुम्हें यह भगवान् कपिल और देवहूतिका परम पवित्र संवाद सुनाया ॥ ३६ ॥ यह कपिलदेवजीका मत अध्यात्मयोगका गूढ़ रहस्य है । जो पुरुष इसका श्रवण या वर्णन करता है, वह भगवान् गरुडध्वजकी भक्तिसे युक्त होकर शीघ्र ही श्रीहरिके चरणारविन्दोंको प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे
कपिलेयोपाख्याने^४ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥



इति तृतीयः स्कन्धः समाप्तः



॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराण

चतुर्थ स्कन्ध



अधुवाय कृतो यत्नो धुवाय परिकल्पितः ।
ध्रुवस्य यत्प्रसादेन वासुदेवं नतोऽस्मि तम् ॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

चतुर्थः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

स्वयम्भुव-मनुकी कन्याओंके वंशका वर्णन

मैत्रेय उवाच

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे ।
 आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः^१ ॥ १
 आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः ।
 पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः ॥ २
 प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत् ।
 मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना ॥ ३
 यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् ।
 या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी ॥ ४
 आनित्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम् ।
 स्वयम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम् ॥ ५
 तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः ।
 तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद् द्वादशात्मजान् ॥ ६
 तोषः प्रतोषः संतोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः ।
 इध्मः कविर्विभुः स्वहः सुदेवो रोचनो द्विषद् ॥ ७
 तुषिता नाम ते देवा आसन् स्वयम्भुवान्तरे ।
 मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः सुरगणेश्वरः ॥ ८
 प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ ।
 तत्पुत्रपौत्रनप्तृणामनुवृत्तं तदन्तरम्^२ ॥ ९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! स्वयम्भुव

मनुके महारानी शतरूपासे प्रियव्रत और उत्तानपाद—इन दो पुत्रोंके सिवा तीन कन्याएँ भी हुई थीं; वे आकूति, देवहूति और प्रसूति नामसे विख्यात थीं ॥ १ ॥

आकूतिका, यद्यपि उसके भाई थे तो भी, महारानी शतरूपाकी अनुमतिसे उन्होंने रुचि प्रजापतिके साथ 'पुत्रिकाधर्म'के * अनुसार विवाह किया ॥ २ ॥

प्रजापति रुचि भगवान्के अनन्य चिन्तनके कारण ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे । उन्होंने आकूतिके गर्भसे एक पुरुष और स्त्रीका जोड़ा उत्पन्न किया ॥ ३ ॥ उनमें जो पुरुष था, वह साक्षात् यज्ञस्वरूपधारी भगवान् विष्णु थे और जो स्त्री थी, वह भगवान्से कभी अलग न रहनेवाली लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूपा 'दक्षिणा' थी ॥ ४ ॥ मनुजी अपनी पुत्री आकूतिके उस परमतेजस्वी पुत्रको बड़ी प्रसन्नतासे अपने घर ले आये और दक्षिणाको रुचि प्रजापतिने अपने पास रखा ॥ ५ ॥ जब दक्षिणा विवाहके योग्य हुई तो उसने यज्ञ भगवान्को ही पतिरूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा की, तब भगवान् यज्ञपुरुषने उससे विवाह किया । इससे दक्षिणाको बड़ा सन्तोष हुआ । भगवान्ने प्रसन्न होकर उससे बारह पुत्र उत्पन्न किये ॥ ६ ॥ उनके नाम हैं—तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह, सुदेव और रोचन ॥ ७ ॥ ये ही स्वयम्भुव मन्वन्तरमें 'तुषित' नामके देवता हुए । उस मन्वन्तरमें मरीचि आदि सप्तर्षि थे, भगवान् यज्ञ ही देवताओंके अधीश्वर इन्द्र थे और महान् प्रभावशाली प्रियव्रत एवं उत्तानपाद मनुपुत्र थे । वह मन्वन्तर उन्हीं दोनोंके बेटों, पोतों और दौहित्रोंके वंशसे छा गया ॥ ८-९ ॥

देवहूतिमदात्तात कर्दमायात्मजां मनुः ।
तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम ॥ १०

दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान्मनुः ।
प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान् ॥ ११

याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव^१ ब्रह्मर्षिपत्नयः ।
तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे ॥ १२

पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा ।
कश्यपं^२ पूर्णिमानं च ययोरापूरितं जगत् ॥ १३

पूर्णिमासूत विरजं विश्वगं च परंतप ।
देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्विवः ॥ १४

अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीञ्जजे सुयशसः सुतान् ।
दत्तं दुर्वाससं सोममात्पेशब्रह्मसम्भवान् ॥ १५

विदुर उवाच

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥ १६

मैत्रेय उवाच

ब्रह्मणा नोदितः^३ सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः ।
सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रि तपसि स्थितः ॥ १७

तस्मिन् प्रसूनस्तबकपलाशाशोककानने ।
वार्षिःस्रवद्भिरुद्धुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः ॥ १८

प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः ।
अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः ॥ १९

शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥ २०

तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना ।
निर्गतेन मुनेर्मूर्धः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः ॥ २१

प्यारे विदुरजी ! मनुजीने अपनी दूसरी कन्या देवहूति कर्दमजीको ब्याही थी। उसके सम्बन्धकी प्रायः सभी बातें तुम मुझसे सुन चुके हो ॥ १० ॥ भगवान् मनुने अपनी तीसरी कन्या प्रसूतिका विवाह ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिसे किया था; उसकी विशाल वंशपरम्परा तो सारी त्रिलोकीमें फैली हुई है ॥ ११ ॥

मैं कर्दमजीकी नौ कन्याओंका, जो नौ ब्रह्मर्षियोंसे ब्याही गयी थीं, पहले ही वर्णन कर चुका हूँ। अब उनकी वंशपरम्पराका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥ मरीचि ऋषिकी पत्नी कर्दमजीकी बेटी कलासे कश्यप और पूर्णिमा नामक दो पुत्र हुए, जिनके वंशसे यह सारा जगत् भरा हुआ है ॥ १३ ॥ शत्रुतापन विदुरजी ! पूर्णिमाके विरज और विश्वग नामके दो पुत्र तथा देवकुल्या नामकी एक कन्या हुई। यही दूसरे जन्ममें श्रीहरिके चरणोंके धोवनसे देवनदी गङ्गाके रूपमें प्रकट हुई ॥ १४ ॥ अत्रिकी पत्नी अनसूयासे दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा नामके तीन परम यशस्वी पुत्र हुए। ये क्रमशः भगवान् विष्णु, शङ्कर और ब्रह्माके अंशसे उत्पन्न हुए थे ॥ १५ ॥

विदुरजीने पूछा—गुरुजी ! कृपया यह बतलाइये कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करनेवाले इन सर्वश्रेष्ठ देवोंने अत्रिमुनिके यहाँ क्या करनेकी इच्छासे अवतार लिया था ? ॥ १६ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—जब ब्रह्माजीने ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको सृष्टि रचनेके लिये आज्ञा दी, तब वे अपनी सहधर्मिणीके सहित तप करनेके लिये ऋक्षनामक कुलपर्वतपर गये ॥ १७ ॥ वहाँ पलाश और अशोकके वृक्षोंका एक विशाल वन था। उसके सभी वृक्ष फूलोंके गुच्छोंसे लदे थे तथा उसमें सब ओर निर्विन्ध्या नदीके जलकी कलकल ध्वनि गूँजती रहती थी ॥ १८ ॥ उस वनमें वे मुनिश्रेष्ठ प्राणायामके द्वारा चित्तको वशमें करके सौ वर्षतक केवल वायु पीकर सरदी-गरमी आदि द्वन्द्वोंकी कुछ भी परवा न कर एक ही पैरसे खड़े रहे ॥ १९ ॥ उस समय वे मन-ही-मन यही प्रार्थना करते थे कि 'जो कोई सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं, मैं उनकी शरणमें हूँ; वे मुझे अपने ही समान सन्तान प्रदान करें' ॥ २० ॥

तब यह देखकर कि प्राणायामरूपी ईधनसे प्रज्वलित हुआ अत्रिमुनिका तेज उनके मस्तकसे निकलकर तीनों लोकोंको तपा रहा है—ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—तीनों जगत्पति उनके आश्रमपर आये। उस

अप्सरोमुनिगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः ।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः ॥ २२

तत्प्रादुर्भावसंयोगविद्योतितमना मुनिः ।
उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददर्श विबुधर्षभान् ॥ २३

प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः^१ ।
वृषहंससुपर्णस्थान् स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान् ॥ २४

कृपावलोकनेन हसद्वदनेनोपलम्भितान् ।
तद्रोचिषाप्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी ॥ २५

चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नुस्तावीत्संहताञ्जलिः ।
श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः ॥ २६

अत्रिरुवाच

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः ।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः ॥ २७

एको मयेह भगवान् विबुधप्रधानै-
श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम् ।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूराद्
ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे ॥ २८

मैत्रेय उवाच^२

इति तस्य वचः श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः ।
प्रत्याहुः श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो ॥ २९

देवा ऊचुः

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा ।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति^३ ते वयम् ॥ ३०

अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः ।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्यन्ति च ते यशः ॥ ३१

समय अप्सरा, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर और नाग—उनका सुयश गा रहे थे ॥ २१-२२ ॥ उन तीनोंका एक ही साथ प्रादुर्भाव होनेसे अत्रिमुनिका अन्तःकरण प्रकाशित हो उठा । उन्होंने एक पैरसे खड़े-खड़े ही उन देवदेवोंको देखा और फिर पृथ्वीपर दण्डके समान लोटकर प्रणाम करनेके अनन्तर अर्घ्य-पुष्पादि पूजनकी सामग्री हाथमें ले उनकी पूजा की । वे तीनों अपने-अपने वाहन—हंस, गरुड और बैलपर चढ़े हुए तथा अपने कमण्डलु, चक्र, त्रिशूलादि चिह्नोंसे सुशोभित थे ॥ २३-२४ ॥ उनकी आँखोंसे कृपाकी वर्षा हो रही थी । उनके मुखपर मन्द हास्यकी रेखा थी—जिससे उनकी प्रसन्नता झलक रही थी । उनके तेजसे चौंधियाकर मुनिवरने अपनी आँखें मूँद लीं ॥ २५ ॥ वे चित्तको उन्हींकी ओर लगाकर हाथ जोड़ अतिमधुर और सुन्दर भावपूर्ण वचनोंमें लोकमें सबसे बड़े उन तीनों देवोंकी स्तुति करने लगे ॥ २६ ॥

अत्रिमुनिने कहा—भगवन् ! प्रत्येक कल्पके आरम्भमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये जो मायाके सत्त्वादि तीनों गुणोंका विभाग करके भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं—वे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव आप ही हैं; मैं आपको प्रणाम करता हूँ । कहिये—मैंने जिनको बुलाया था, आपमेंसे वे कौन महानुभाव हैं ? ॥ २७ ॥ क्योंकि मैंने तो सन्तानप्राप्तिकी इच्छासे केवल एक सुरेश्वर भगवान्का ही चिन्तन किया था । फिर आप तीनोंने यहाँ पधारनेकी कृपा कैसे की ? आपलोगोंतक तो देहधारियोंके मनकी भी गति नहीं है, इसलिये मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है । आपलोग कृपा करके मुझे इसका रहस्य बतलाइये ॥ २८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—समर्थ विदुरजी ! अत्रिमुनिके वचन सुनकर वे तीनों देव हँसे और उनसे सुमधुर वाणीमें कहने लगे ॥ २९ ॥

देवताओंने कहा—ब्रह्मन् ! तुम सत्यसङ्कल्प हो । अतः तुमने जैसा सङ्कल्प किया था, वही होना चाहिये । उससे विपरीत कैसे हो सकता था ? तुम जिस 'जगदीश्वर'का ध्यान करते थे, वह हम तीनों ही हैं ॥ ३० ॥ प्रिय महर्षे ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे यहाँ हमारे ही अंशस्वरूप तीन जगद्विख्यात पुत्र उत्पन्न होंगे और तुम्हारे सुन्दर यशका विस्तार करेंगे ॥ ३१ ॥

एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः ।
 सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः ॥ ३२
 सोमोऽभूद्ब्रह्मणोऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् ।
 दुर्वासाः शंकरस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥ ३३
 श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः ।
 सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा ॥ ३४
 तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वरोचिषेऽन्तरे ।
 उतथ्यो भगवान् साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥ ३५
 पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यामगस्त्यं च हविर्भुवि ।
 सोऽन्यजन्मनि दह्नाग्निर्विश्रवाश्च महातपाः ॥ ३६
 तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विडविडासुतः ।
 रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः ॥ ३७
 पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान् ।
 कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुं च महामते ॥ ३८
 क्रतोरपि क्रिया भार्या बालखिल्यानसूयत ।
 ऋषीन्षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा ॥ ३९
 ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परंतप ।
 चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ४०
 चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च ।
 उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमान् शक्त्यादयोऽपरे ॥ ४१
 चित्तिस्त्वथर्वणः पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम् ।
 दध्यञ्जमश्वशिरसं^१ भृगोर्वंशं निबोध मे ॥ ४२
 भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत् ।
 धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम् ॥ ४३
 आयतिं नियतिं चैव सुते मेरुस्तयोरदात् ।
 ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च ॥ ४४

उन्हें इस प्रकार अभीष्ट वर देकर तथा पति-पत्नी दोनोंसे भलीभाँति पूजित होकर उनके देखते-ही-देखते वे तीनों सुरेश्वर अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥ ३२ ॥ ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे योगवेत्ता दत्तात्रेयजी और महादेवजीके अंशसे दुर्वासा ऋषि अत्रिके पुत्ररूपमें प्रकट हुए। अब अङ्गिरा ऋषिकी सन्तानोंका वर्णन सुनो ॥ ३३ ॥

अङ्गिराकी पत्नी श्रद्धाने सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति—इन चार कन्याओंको जन्म दिया ॥ ३४ ॥ इनके सिवा उनके साक्षात् भगवान् उतथ्यजी और ब्रह्मनिष्ठ बृहस्पतिजी—ये दो पुत्र भी हुए, जो स्वरोचिष मन्वन्तरमें विख्यात हुए ॥ ३५ ॥ पुलस्त्यजीके उनकी पत्नी हविर्भूसे महर्षि अगस्त्य और महातपस्वी विश्रवा—ये दो पुत्र हुए। इनमें अगस्त्यजी दूसरे जन्ममें जठराग्नि हुए ॥ ३६ ॥ विश्रवा मुनिके इडविडाके गर्भसे यक्षराज कुबेरका जन्म हुआ और उनकी दूसरी पत्नी केशिनीसे रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण उत्पन्न हुए ॥ ३७ ॥

महामते ! महर्षि पुलहकी स्त्री परम साध्वी गतिसे कर्मश्रेष्ठ, वरीयान् और सहिष्णु—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ३८ ॥ इसी प्रकार क्रतुकी पत्नी क्रियाने ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान बालखिल्यादि साठ हजार ऋषियोंको जन्म दिया ॥ ३९ ॥ शत्रुतापन विदुरजी ! वसिष्ठजीकी पत्नी ऊर्जा (अरुन्धती)से चित्रकेतु आदि सात विशुद्धचित्त ब्रह्मर्षियोंका जन्म हुआ ॥ ४० ॥ उनके नाम चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान और द्युमान् थे। इनके सिवा उनकी दूसरी पत्नीसे शक्ति आदि और भी कई पुत्र हुए ॥ ४१ ॥ अथर्वा मुनिकी पत्नी चित्तिने दध्यङ् (दधीचि) नामक एक तपोनिष्ठ पुत्र प्राप्त किया, जिसका दूसरा नाम अश्वशिरा भी था। अब भृगुके वंशका वर्णन सुनो ॥ ४२ ॥

महाभाग भृगुजीने अपनी भार्या ख्यातिसे धाता और विधाता नामक पुत्र तथा श्री नामकी एक भगवत्परायणा कन्या उत्पन्न की ॥ ४३ ॥ मेरुऋषिने अपनी आयति और नियति नामकी कन्याएँ क्रमशः धाता और विधाताको ब्याहीं; उनसे उनके मृकण्ड और प्राण नामक पुत्र हुए ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः ।
कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः ॥ ४५

त^१ एते मुनयः क्षत्तलोकान् सर्गैरभावयन् ।
एष कर्दमदौहित्रसंतानः कथितस्तव ।
शृण्वतः श्रद्धाधानस्य सद्यः पापहरः परः ॥ ४६

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः ।
तस्यां ससर्ज दुहितृः षोडशामललोचनाः ॥ ४७

त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्रये विभुः ।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ॥ ४८

श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः ।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः ॥ ४९

श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया ।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत ॥ ५०

योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत ।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम् ॥ ५१

मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ॥ ५२

ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम् ।
मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः ॥ ५३

दिव्यवाद्यन्त तूर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः ।
मुनयस्तुष्टुवस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः ॥ ५४

नृत्यन्ति स्म स्त्रियो^२ देव्य आसीत्परममङ्गलम् ।
देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः ॥ ५५

देवा^३ ऊचुः

यो मायया विरचितं निजयाऽऽत्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय ।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य
प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै ॥ ५६

उनमेंसे मृकण्डके मार्कण्डेय और प्राणके मुनिवर वेदशिराका जन्म हुआ । भृगुजीके एक कविनामक पुत्र भी थे । उनके भगवान् उशना (शुक्राचार्य) हुए ॥ ४५ ॥ विदुरजी ! इन सब मुनीश्वरोंने भी सन्तान उत्पन्न करके सृष्टिका विस्तार किया । इस प्रकार मैंने तुम्हें यह कर्दमजीके दौहित्रोंकी सन्तानका वर्णन सुनाया । जो पुरुष इसे श्रद्धापूर्वक सुनता है, उसके पापोंको यह तत्काल नष्ट कर देता है ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिने मनुनन्दिनी प्रसूतिसे विवाह किया । उससे उन्होंने सुन्दर नेत्रोंवाली सोलह कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ ४७ ॥ भगवान् दक्षने उनमेंसे तेरह धर्मको, एक अग्रिको, एक समस्त पितृगणको और एक संसारका संहार करनेवाले तथा जन्म-मृत्युसे छुड़ानेवाले भगवान् शङ्करको दी ॥ ४८ ॥ श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति—ये धर्मकी पत्नियाँ हैं ॥ ४९ ॥ इनमेंसे श्रद्धाने शुभ, मैत्रीने प्रसाद, दयाने अभय, शान्तिने सुख, तुष्टिने मोद और पुष्टिने अहङ्कारको जन्म दिया ॥ ५० ॥ क्रियाने योग, उन्नतिने दर्प, बुद्धिने अर्थ, मेधाने स्मृति, तितिक्षाने क्षेम और ह्री (लज्जा)ने प्रश्रय (विनय) नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ५१ ॥ समस्त गुणोंकी खान मूर्तिदेवीने नर-नारायण ऋषियोंको जन्म दिया ॥ ५२ ॥ इनका जन्म होनेपर इस सम्पूर्ण विश्वने आनन्दित होकर प्रसन्नता प्रकट की । उस समय लोगोंके मन, दिशाएँ, वायु, नदी और पर्वत—सभीमें प्रसन्नता छा गयी ॥ ५३ ॥ आकाशमें माङ्गलिक बाजे बजने लगे, देवतालोग फूलोंकी वर्षा करने लगे, मुनि प्रसन्न होकर स्तुति करने लगे, गन्धर्व और किन्नर गाने लगे ॥ ५४ ॥ अप्सराएँ नाचने लगीं । इस प्रकार उस समय बड़ा ही आनन्द-मङ्गल हुआ तथा ब्रह्मादि समस्त देवता स्तोत्रोंद्वारा भगवान्की स्तुति करने लगे ॥ ५५ ॥

देवताओंने कहा—जिस प्रकार आकाशमें तरह-तरहके रूपोंकी कल्पना कर ली जाती है—उसी प्रकार जिन्होंने अपनी मायाके द्वारा अपने ही स्वरूपके अन्दर इस संसारकी रचना की है और अपने उस स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिये इस समय इस ऋषि-विग्रहके साथ धर्मके घरमें अपने-आपको प्रकट किया है, उन परम पुरुषको हमारा नमस्कार है ॥ ५६ ॥

सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः ।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन
यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम् ॥ ५७

एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम् ॥ ५८

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरुद्वहौ ॥ ५९

स्वाहाभिमानिनश्चाग्रेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम् ॥ ६०

तेभ्योऽग्रयः समभवन् चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ॥ ६१

वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्रयस्तु ते ॥ ६२

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्रयोऽनग्रयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥ ६३

तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ॥ ६४

भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता ।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ॥ ६५

पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा ।
अप्रौढैवात्मनाऽऽत्मानमजहाद्योगसंयुता ॥ ६६

जिनके तत्त्वका शास्त्रके आधारपर हमलोग केवल अनुमान ही करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं कर पाते—उन्हीं भगवान् ने देवताओंको संसारकी मर्यादामें किसी प्रकारकी गड़बड़ी न हो, इसीलिये सत्त्वगुणसे उत्पन्न किया है। अब वे अपने करुणामय नेत्रोंसे—जो समस्त शोभा और सौन्दर्यके निवासस्थान निर्मल दिव्य कमलको भी नीचा दिखानेवाले हैं—हमारी ओर निहारें ॥ ५७ ॥

प्यारे विदुरजी! प्रभुका साक्षात् दर्शन पाकर देवताओंने उनकी इस प्रकार स्तुति और पूजा की। तदनन्तर भगवान् नर-नारायण दोनों गन्धमादन पर्वतपर चले गये ॥ ५८ ॥ भगवान् श्रीहरिके अंशभूत वे नर-नारायण ही इस समय पृथ्वीका भार उतारनेके लिये यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण और उन्हींके सरीखे श्यामवर्ण, कुरुकुलतिलक अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ५९ ॥

अग्निदेवकी पत्नी स्वाहाने अग्निके ही अभिमानी पावक, पवमान और शुचि—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये। ये तीनों ही हवन किये हुए पदार्थोंका भक्षण करनेवाले हैं ॥ ६० ॥ इन्हीं तीनोंसे पैतालीस प्रकारके अग्नि और उत्पन्न हुए। ये ही अपने तीन पिता और एक पितामहको साथ लेकर उनचास अग्नि कहलाये ॥ ६१ ॥ वेदज्ञ ब्राह्मण वैदिक यज्ञकर्ममें जिन उनचास अग्नियोंके नामोंसे आग्नेयी इष्टियाँ करते हैं, वे ये ही हैं ॥ ६२ ॥

अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमप और आज्यप—ये पितर हैं; इनमें साग्निक भी हैं और निराग्निक भी। इन सब पितरोंकी पत्नी दक्षकुमारी स्वधा हैं ॥ ६३ ॥ इन पितरोंसे स्वधाके धारिणी और वयुना नामकी दो कन्याएँ हुई। वे दोनों ही ज्ञान-विज्ञानमें पारङ्गत और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेवाली हुई ॥ ६४ ॥ महादेवजीकी पत्नी सती थीं, वे सब प्रकारसे अपने पतिदेवकी सेवामें संलग्न रहनेवाली थीं। किन्तु उनके अपने गुण और शीलके अनुरूप कोई पुत्र नहीं हुआ ॥ ६५ ॥ क्योंकि सतीके पिता दक्षने बिना ही किसी अपराधके भगवान् शिवजीके प्रतिकूल आचरण किया था, इसलिये सतीने युवावस्थामें ही क्रोधवश योगके द्वारा स्वयं ही अपने शरीरका त्याग कर दिया था ॥ ६६ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे^१ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान् शिव और दक्ष प्रजापतिका मनोमालिन्य

विदुर उवाच

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः ।
विद्वेषमकरोत्कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम् ॥ १

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम् ।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥ २

एतदारब्धाहि मे ब्रह्मन् जामातुः श्वशुरस्य च ।
विद्वेषस्तु यतः प्राणांस्तत्यजे दुस्त्यजान्सती ॥ ३

मैत्रेय उवाच

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः ।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्रयः ॥ ४

तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वा कर्मिव रोचिषा ।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः ॥ ५

उदतिष्ठन् सदस्यास्ते स्वधिष्येभ्यः सहाग्रयः ।
ऋते विरिञ्चं शर्वं च तद्भासाऽऽक्षिप्तचेतसः ॥ ६

सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान् साधु सत्कृतः ।
अजं^१ लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया ॥ ७

प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत्तदनादृतः ।
उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव ॥ ८

श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्रयः ।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानात्र च मत्सरात् ॥ ९

अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः ।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः ॥ १०

एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत् ।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत् ॥ ११

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! प्रजापति दक्ष तो अपनी लड़कियोंसे बहुत ही स्नेह रखते थे, फिर उन्होंने अपनी कन्या सतीका अनादर करके शीलवानोंमें सबसे श्रेष्ठ श्रीमहादेवजीसे द्वेष क्यों किया ? ॥ १ ॥ महादेवजी भी चराचरके गुरु, वैररहित, शान्तमूर्ति, आत्माराम और जगत्के परम आराध्य देव हैं। उनसे भला, कोई क्यों वैर करेगा ? ॥ २ ॥

भगवन् ! उन ससुर और दामादमें इतना विद्वेष कैसे हो गया, जिसके कारण सतीने अपने दुस्त्यज प्राणोंतककी बलि दे दी ? यह आप मुझसे कहिये ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—विदुरजी ! पहले एक बार प्रजापतियोंके यज्ञमें सब बड़े-बड़े ऋषि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियोंके सहित एकत्र हुए थे ॥ ४ ॥ उसी समय प्रजापति दक्षने भी उस सभामें प्रवेश किया। वे अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशमान थे और उस विशाल सभा-भवनका अन्धकार दूर किये देते थे। उन्हें आया देख ब्रह्माजी और महादेवजीके अतिरिक्त अग्निपर्यन्त सभी सभासद् उनके तेजसे प्रभावित होकर अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ ५-६ ॥ इस प्रकार समस्त सभासदोंसे भलीभाँति सम्मान प्राप्त करके तेजस्वी दक्ष जगत्पिता ब्रह्माजीको प्रणाम कर उनकी आज्ञासे अपने आसनपर बैठ गये ॥ ७ ॥

परन्तु महादेवजीको पहलेसे ही बैठा देख तथा उनसे अभ्युत्थानादिके रूपमें कुछ भी आदर न पाकर दक्ष उनका यह व्यवहार सहन न कर सके। उन्होंने उनकी ओर टेढ़ी नजरसे इस प्रकार देखा मानो उन्हें वे क्रोधाग्निसे जला डालेंगे। फिर कहने लगे— ॥ ८ ॥ 'देवता और अग्नियोंके सहित समस्त ब्रह्मर्षिगण मेरी बात सुनें। मैं नासमझी या द्वेषवश नहीं कहता, बल्कि शिष्टाचारकी बात कहता हूँ ॥ ९ ॥ यह निर्लज्ज महादेव समस्त लोकपालोंकी पवित्र कीर्तिको धूलमें मिला रहा है। देखिये, इस घमण्डीने सत्पुरुषोंके आचरणको लाजिहित एवं मटियामेट कर दिया है ॥ १० ॥ बन्दरके-से नेत्रवाले इसने सत्पुरुषोंके समान मेरी सावित्री-सरीखी मृगनयनी पवित्र कन्याका अग्नि और ब्राह्मणोंके सामने पाणिग्रहण किया था, इसलिये यह एक प्रकार मेरे पुत्रके समान हो गया है।

गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं^१ मर्कटलोचनः ।
प्रत्युत्थानाभिवादाहे वाचाप्यकृत नोचितम् ॥ १२

लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे ।
अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशर्ती गिरम् ॥ १३

प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः ।
अटत्युन्मत्तवन्नगो व्युत्पकेशो हसन् रुदन् ॥ १४

चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्त्रिभूस्थिभूषणः ।
शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः ।
पतिः प्रमथभूतानां तमोमात्रात्मकात्मनाम् ॥ १५

तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे ।
दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना ॥ १६

मैत्रेय उवाच

विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम् ।
दक्षोऽथाप^२ उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे ॥ १७

अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः ।
सह^३ भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥ १८

निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यै-
र्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम् ।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्यु-
जंगाम कौरव्य निजं निकेतनम् ॥ १९

विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणी-
नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः ।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं
ये चान्वमोदस्तदवाच्यतां द्विजाः ॥ २०

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि ।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत् ॥ २१
गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया ।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ॥ २२

उचित तो यह था कि यह उठकर मेरा स्वागत करता, मुझे प्रणाम करता; परंतु इसने वाणीसे भी मेरा सत्कार नहीं किया ॥ ११-१२ ॥ हाय ! जिस प्रकार शूद्रको कोई वेद पढ़ा दे, उसी प्रकार मैंने इच्छा न होते हुए भी भावीवश इसको अपनी सुकुमारी कन्या दे दी ! इसने सत्कर्मका लोप कर दिया, यह सदा अपवित्र रहता है, बड़ा घमण्डी है और धर्मकी मर्यादाको तोड़ रहा है ॥ १३ ॥ यह प्रेतोंके निवासस्थान भयङ्कर श्मशानोंमें भूत-प्रेतोंको साथ लिये घूमता रहता है। पूरे पागलकी तरह सिरके बाल बिखीरे नंग-धड़ंग भटकता है, कभी हँसता है, कभी रोता है ॥ १४ ॥ यह सारे शरीरपर चिताकी अपवित्र भस्म लपेटे रहता है, गलेमें भूतोंके पहननेयोग्य नरमुण्डोंकी माला और सारे शरीरमें हड्डियोंके गहने पहने रहता है। यह बस, नामभरका ही शिव है, वास्तवमें है पूरा अशिव— अमङ्गलरूप। जैसे यह स्वयं मतवाला है, वैसे ही इसे मतवाले ही प्यारे लगते हैं। भूत-प्रेत-प्रमथ आदि निरे तमोगुणी स्वभाववाले जीवोंका यह नेता है ॥ १५ ॥ अरे ! मैंने केवल ब्रह्माजीके बहकावेमें आकर ऐसे भूतोंके सरदार, आचारहीन और दुष्ट स्वभाववालेको अपनी भोली-भाली बेटा ब्याह दी ॥ १६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! दक्षने इस प्रकार महादेवजीको बहुत कुछ बुरा-भला कहा; तथापि उन्होंने इसका कोई प्रतीकार नहीं किया, वे पूर्ववत् निश्चलभावसे बैठे रहे। इससे दक्षके क्रोधका पारा और भी ऊँचा चढ़ गया और वे जल हाथमें लेकर उन्हें शाप देनेको तैयार हो गये ॥ १७ ॥ दक्षने कहा, 'यह महादेव देवताओंमें बड़ा ही अधम है। अबसे इसे इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञका भाग न मिले' ॥ १८ ॥ उपस्थित मुख्य-मुख्य सभासदोंने उन्हें बहुत मना किया, परन्तु उन्होंने किसीकी न सुनी; महादेवजीको शाप दे ही दिया। फिर वे अत्यन्त क्रोधित हो उस सभासे निकलकर अपने घर चले गये ॥ १९ ॥

जब श्रीशङ्करजीके अनुयायियोंमें अग्रगण्य नन्दीश्वरको मालूम हुआ कि दक्षने शाप दिया है, तो वे क्रोधसे तमतमा उठे और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणोंको, जिन्होंने दक्षके दुर्वचनोंका अनुमोदन किया था, बड़ा भयङ्कर शाप दिया ॥ २० ॥ वे बोले—'जो इस मरण-धर्मा शरीरमें ही अभिमान करके किसीसे भी द्रोह न करनेवाले भगवान् शङ्करसे द्वेष करता है, वह भेद-बुद्धिवाला मूर्ख दक्ष, तत्त्वज्ञानसे विमुख ही रहे ॥ २१ ॥ यह 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालेको अक्षय पुण्य प्राप्त होता है' आदि अर्थवादरूप वेदवाक्योंसे मोहित एवं विवेकभ्रष्ट होकर विषयसुखकी इच्छासे कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें आसक्त रहकर

बुद्ध्या पराभिधायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः ।
 स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् ॥ २३
 विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः ।
 संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम् ॥ २४
 गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा ।
 मश्रा चोन्मथितात्मानः सम्मुह्यन्तु हरद्विषः ॥ २५
 सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः ।
 वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह ॥ २६
 तस्यैवं ददतः^१ शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै ।
 भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् ॥ २७
 भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
 पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥ २८
 नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः ।
 विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥ २९
 ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्वयं परिनिन्दथ ।
 सेतुं विधारणं पुंसामतः पाखण्डमाश्रिता ॥ ३०
 एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ।
 यं पूर्वं चानुसन्तस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः ॥ ३१
 तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम् ।
 विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूतराट् ॥ ३२

मैत्रेय उवाच

तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान् भवः ।
 निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः ॥ ३३
 तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान् ।
 संविधाय महेष्यास यत्रेज्य ऋषभो हरिः ॥ ३४
 आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता ।
 विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥ ३५

कर्मकाण्डमें ही लगा रहता है। इसकी बुद्धि देहादिमें आत्मभावका चिन्तन करनेवाली है; उसके द्वारा इसने आत्मस्वरूपको भुला दिया है; यह साक्षात् पशुके ही समान है, अतः अत्यन्त स्त्री-लम्पट हो और शीघ्र ही इसका मुँह बकरेका हो जाय ॥ २२-२३ ॥ यह मूर्ख कर्ममयी अविद्याको ही विद्या समझता है; इसलिये यह और जो लोग भगवान् शङ्करका अपमान करनेवाले इस दुष्टके पीछे-पीछे चलनेवाले हैं, वे सभी जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें पड़े रहें ॥ २४ ॥ वेदवाणीरूप लता फलश्रुतिरूप पुष्पोंसे सुशोभित है, उसके कर्मफलरूप मनोमोहक गन्धसे इनके चित्त क्षुब्ध हो रहे हैं। इससे ये शङ्करद्रोही कर्मोंके जालमें ही फँसे रहें ॥ २५ ॥ ये ब्राह्मणलोग भक्ष्याभक्ष्यके विचारको छोड़कर केवल पेट पालनेके लिये ही विद्या, तप और व्रतादिका आश्रय लें तथा धन, शरीर और इन्द्रियोंके सुखको ही सुख मानकर—उन्हींके गुलाम बनकर दुनियामें भीख माँगते भटका करें ॥ २६ ॥

नन्दीश्वरके मुखसे इस प्रकार ब्राह्मणकुलके लिये शाप सुनकर उसके बदलेमें भृगुजीने यह दुस्तर शापरूप ब्रह्मदण्ड दिया ॥ २७ ॥ 'जो लोग शिवभक्त हैं तथा जो उन भक्तोंके अनुयायी हैं, वे सत्-शास्त्रोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले और पाखण्डी हों ॥ २८ ॥ जो लोग शौचाचारविहीन, मन्दबुद्धि तथा जटा, राख और हड्डियोंको धारण करनेवाले हैं—वे ही शैव-सम्प्रदायमें दीक्षित हों, जिसमें सुरा और आसव ही देवताओंके समान आदरणीय हैं ॥ २९ ॥ अरे ! तुमलोग जो धर्ममर्यादाके संस्थापक एवं वर्णाश्रमियोंके रक्षक वेद और ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हो, इससे मालूम होता है तुमने पाखण्डका आश्रय ले रखा है ॥ ३० ॥ यह वेदमार्ग ही लोगोंके लिये कल्याणकारी और सनातन मार्ग है। पूर्वपुरुष इसीपर चलते आये हैं और इसके मूल साक्षात् श्रीविष्णुभगवान् हैं ॥ ३१ ॥ तुमलोग सत्पुरुषोंके परम पवित्र और सनातन मार्गस्वरूप वेदकी निन्दा करते हो—इसलिये उस पाखण्डमार्गमें जाओ, जिसमें भूतोंके सरदार तुम्हारे इष्टदेव निवास करते हैं ॥ ३२ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! भृगुऋषिके इस प्रकार शाप देनेपर भगवान् शङ्कर कुछ खिन्न-से हो वहाँसे अपने अनुयायियोंसहित चल दिये ॥ ३३ ॥ वहाँ प्रजापतिलोग जो यज्ञ कर रहे थे, उसमें पुरुषोत्तम श्रीहरि ही उपास्यदेव थे और वह यज्ञ एक हजार वर्षमें समाप्त होनेवाला था। उसे समाप्त कर उन प्रजापतियोंने श्रीगङ्गा-यमुनाके सङ्गममें यज्ञान्त स्नान किया और फिर प्रसन्न मनसे वे अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥ ३४-३५ ॥

—★—

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दक्षशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

—★—

अथ तृतीयोऽध्यायः

सतीका पिताके यहाँ यज्ञोत्सवमें जानेके लिये आग्रह करना

मैत्रेय उवाच

- सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः ।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे ॥ १
- यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत् ॥ २
- इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च ।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥ ३
- तस्मिन् ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः ।
आसन्कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्यश्च सभर्तृकाः ॥ ४
- तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम् ।
सती^१ दाक्षायणी देवी पितुर्यज्ञमहोत्सवम् ॥ ५
- व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः ।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः ॥ ६
- दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः ।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥ ७

सत्युवाच^२

- प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल ।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥ ८
- तस्मिन् भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-
र्ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृदिदृक्षवः ।
अहं च तस्मिन् भवताभिकामये
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम्^३ ॥ ९
- तत्र स्वसृमं ननु भर्तृसम्पिता
मातृष्वसृः क्लिन्नधियं च मातरम् ।
द्रक्ष्ये चित्कण्ठमना महर्षिभि-
रुन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम् ॥ १०

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार उन

ससुर और दामादको आपसमें वैर-विरोध रखते हुए बहुत अधिक समय निकल गया ॥ १ ॥ इसी समय ब्रह्माजीने दक्षको समस्त प्रजापतियोंका अधिपति बना दिया । इससे उसका गर्व और भी बढ़ गया ॥ २ ॥ उसने भगवान् शङ्कर आदि ब्रह्मनिष्ठोंको यज्ञभाग न देकर उनका तिरस्कार करते हुए पहले तो वाजपेय-यज्ञ किया और फिर बृहस्पतिसव नामका महायज्ञ आरम्भ किया ॥ ३ ॥ उस यज्ञोत्सवमें सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ पधारे, उन सबने मिलकर वहाँ माङ्गलिक कार्य सम्पन्न किये और दक्षके द्वारा उन सबका स्वागत-सत्कार किया गया ॥ ४ ॥

उस समय आकाशमार्गसे जाते हुए देवता आपसमें उस यज्ञकी चर्चा करते जाते थे । उनके मुखसे दक्षकुमारी सतीने अपने पिताके घर होनेवाले यज्ञकी बात सुन ली ॥ ५ ॥ उन्होंने देखा कि हमारे निवासस्थान कैलासके पाससे होकर सब ओरसे चञ्चल नेत्रोंवाली गन्धर्व और यक्षोंकी स्त्रियाँ चमकीले कुण्डल और हार पहने खूब सज-धजकर अपने-अपने पतियोंके साथ विमानोंपर बैठी उस यज्ञोत्सवमें जा रही हैं । इससे उन्हें भी बड़ी उत्सुकता हुई और उन्होंने अपने पति भगवान् भूतनाथसे कहा ॥ ६-७ ॥

सतीने कहा—वामदेव ! सुना है, इस समय आपके ससुर दक्षप्रजापतिके यहाँ बड़ा भारी यज्ञोत्सव हो रहा है । देखिये, ये सब देवता वहीं जा रहे हैं; यदि आपकी इच्छा हो तो हम भी चलें ॥ ८ ॥ इस समय अपने आत्मीयोंसे मिलनेके लिये मेरी बहिनें भी अपने-अपने पतियोंके सहित वहाँ अवश्य आयेंगी । मैं भी चाहती हूँ कि आपके साथ वहाँ जाकर माता-पिताके दिये हुए गहने, कपड़े आदि उपहार स्वीकार करूँ ॥ ९ ॥ वहाँ अपने पतियोंसे सम्मानित बहिनों, मौसियों और स्नेहार्द्रहृदया जननीको देखनेके लिये मेरा मन बहुत दिनोंसे उत्सुक है । कल्याणमय ! इसके सिवा वहाँ महर्षियोंका रचा हुआ श्रेष्ठ यज्ञ भी देखनेको मिलेगा ॥ १० ॥ अजन्मा प्रभो ! आप जगत्की

त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया

विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम् ।

तथाप्यहं योषिदतत्त्वविद्य ते

दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम् ॥ ११

पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो-

ऽप्यलंकृताः कान्तसखा वरूथशः ।

यासां व्रजद्विः शितिकण्ठ मण्डितं

नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः ॥ १२

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं

निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते ।

अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं

भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम् ॥ १३

तन्मे प्रसीदेदममर्त्य वाञ्छितं

कर्तुं भवान्कारुणिको बतार्हति ।

त्वयाऽऽत्मनोऽर्थेऽहमदभ्रचक्षुषा^१

निरूपिता मानुगृहाण याचितः ॥ १४

ऋषिरुवाच

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः

प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः ।

संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्

यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥ १५

श्रीभगवानुवाच

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने

अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु ।

ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो

बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना ॥ १६

विद्यातपोवित्तवपूर्वयःकुलैः

सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः ।

स्मृतौ हतायां भूतमानदुर्दृशः

स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ॥ १७

उत्पत्तिके हेतु हैं। आपकी मायासे रचा हुआ यह परम आश्चर्यमय त्रिगुणात्मक जगत् आपहीमें भास रहा है। किंतु मैं तो स्त्रीस्वभाव होनेके कारण आपके तत्त्वसे अनभिज्ञ और बहुत दीन हूँ। इसलिये इस समय अपनी जन्मभूमि देखनेको बहुत उत्सुक हो रही हूँ ॥ ११ ॥ जन्मरहित नीलकण्ठ ! देखिये—इनमें कितनी ही स्त्रियाँ तो ऐसी हैं, जिनका दक्षसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है। फिर भी वे अपने-अपने पतियोंके सहित खूब सज-धजकर झुंड-की-झुंड वहाँ जा रही हैं। वहाँ जानेवाली इन देवाङ्गनाओंके राजहंसके समान श्वेत विमानोंसे आकाशमण्डल कैसा सुशोभित हो रहा है ॥ १२ ॥ सुरश्रेष्ठ ! ऐसी अवस्थामें अपने पिताके यहाँ उत्सवका समाचार पाकर उसकी बेटीका शरीर उसमें सम्मिलित होनेके लिये क्यों न छटपटायेगा। पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृदोंके यहाँ तो बिना बुलाये भी जा सकते हैं ॥ १३ ॥ अतः देव ! आप मुझपर प्रसन्न हों; आपको मेरी यह इच्छा अवश्य पूर्ण करनी चाहिये; आप बड़े करुणामय हैं, तभी तो परम ज्ञानी होकर भी आपने मुझे अपने आधे अङ्गमें स्थान दिया है। अब मेरी इस याचनापर ध्यान देकर मुझे अनुगृहीत कीजिये ॥ १४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रिया सतीजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर अपने आत्मीयोंका प्रिय करनेवाले भगवान् शङ्करको दक्षप्रजापतिके उन मर्मभेदी दुर्वचनरूप बाणोंका स्मरण हो आया, जो उन्होंने समस्त प्रजापतियोंके सामने कहे थे; तब वे हँसकर बोले ॥ १५ ॥

भगवान् शङ्करने कहा—सुन्दरि ! तुमने जो कहा कि अपने बन्धुजनके यहाँ बिना बुलाये भी जा सकते हैं, सो तो ठीक ही है; किंतु ऐसा तभी करना चाहिये, जब उनकी दृष्टि अतिशय प्रबल देहाभिमानसे उत्पन्न हुए मद और क्रोधके कारण द्वेष-दोषसे युक्त न हो गयी हो ॥ १६ ॥ विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल—ये छः सत्पुरुषोंके तो गुण हैं, परन्तु नीच-पुरुषोंमें ये ही अवगुण हो जाते हैं; क्योंकि इनसे उनका अभिमान बढ़ जाता है और दृष्टि दोषयुक्त हो जाती है एवं विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी कारण वे महापुरुषोंका प्रभाव नहीं देख पाते ॥ १७ ॥

नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया
गृहान्^१ प्रतीयादनवस्थितात्मनाम् ।
येऽभ्यागतान् वक्रधियाभिचक्षते
आरोपितभूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥ १८

तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः
शेतेऽर्दिताङ्गो^२ हृदयेन दूयता ।
स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभि-
र्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः ॥ १९

व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः
प्रियाऽऽत्मजानामसि सुभृत् सम्मता ।
अथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे
मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः ॥ २०

पापच्यमानेन हृदाऽऽतुरेन्द्रियः
समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम् ।
अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा
पदं परं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥ २१

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे ।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने ॥ २२

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्त्वे च तस्मिन्^३ भगवान् वासुदेवो
हृद्योक्षजो मे नमसा विधीयते ॥ २३

तत्ते^४ निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्
दक्षो मम द्विद् तदनुव्रताश्च ये ।
यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-
मनागसं दुर्वचसाकरोत्तिरः ॥ २४

इसीसे जो अपने यहाँ आये हुए पुरुषोंको कुटिल बुद्धिसे भौं चढ़ाकर रोषभरी दृष्टिसे देखते हैं, उन अव्यवस्थितचित्त लोगोंके यहाँ 'ये हमारे बान्धव हैं' ऐसा समझकर कभी नहीं जाना चाहिये ॥ १८ ॥ देवि ! शत्रुओंके बाणोंसे बिंध जानेपर भी ऐसी व्यथा नहीं होती, जैसी अपने कुटिलबुद्धि स्वजनोके कुटिल वचनोंसे होती है । क्योंकि बाणोंसे शरीर छिन्न-भिन्न हो जानेपर तो जैसे-तैसे निद्रा आ जाती है, किन्तु कुवाक्योंसे मर्मस्थान विद्ध हो जानेपर तो मनुष्य हृदयकी पीड़ासे दिन-रात बेचैन रहता है ॥ १९ ॥

सुन्दरि ! अवश्य ही मैं यह जानता हूँ कि तुम परमोन्नतिको प्राप्त हुए दक्षप्रजापतिको अपनी कन्याओंमें सबसे अधिक प्रिय हो । तथापि मेरी आश्रिता होनेके कारण तुम्हें अपने पितासे मान नहीं मिलेगा; क्योंकि वे मुझसे बहुत जलते हैं ॥ २० ॥ जीवकी चित्तवृत्तिके साक्षी अहङ्कारशून्य महापुरुषोंकी समृद्धिको देखकर जिसके हृदयमें सन्ताप और इन्द्रियोंमें व्यथा होती है, वह पुरुष उनके पदको तो सुगमतासे प्राप्त कर नहीं सकता; बस, दैत्यगण जैसे श्रीहरिसे द्वेष मानते हैं, वैसे ही उनसे कुढ़ता रहता है ॥ २१ ॥

सुमध्यमे ! तुम कह सकती हो कि आपने प्रजापतियोंकी सभामें उनका आदर क्यों नहीं किया । सो ये सम्मुख जाना, नम्रता दिखाना, प्रणाम करना आदि क्रियाएँ जो लोकव्यवहारमें परस्पर की जाती हैं, तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा बहुत अच्छे ढंगसे की जाती हैं । वे अन्तर्यामीरूपसे सबके अन्तःकरणोंमें स्थित परमपुरुष वासुदेवको ही प्रणामादि करते हैं; देहाभिमानी पुरुषको नहीं करते ॥ २२ ॥ विशुद्ध अन्तःकरणका नाम ही 'वासुदेव' है, क्योंकि उसीमें भगवान् वासुदेवका अपरोक्ष अनुभव होता है । उस शुद्ध चित्तमें स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेवको ही मैं नमस्कार किया करता हूँ ॥ २३ ॥ इसीलिये प्रिये ! जिसने प्रजापतियोंके यज्ञमें, मेरेद्वारा कोई अपराध न होनेपर भी, मेरा कटुवाक्योंसे तिरस्कार किया था, वह दक्ष यद्यपि तुम्हारे शरीरको उत्पन्न करनेवाला पिता है, तो भी मेरा शत्रु होनेके कारण तुम्हें उसे अथवा उसके अनुयायियोंको देखनेका विचार भी नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

यदि ब्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो
भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति ।
सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥ २५

यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी, तो तुम्हारे लिये अच्छा न होगा; क्योंकि जब किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिका अपने आत्मीयजनोंके द्वारा अपमान होता है, तब वह तत्काल उनकी मृत्युका कारण हो जाता है ॥ २५ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे उमारुद्रसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थोऽध्यायः

सतीका अग्निप्रवेश

मैत्रेय उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम शंकरः
पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन् ।
सुहृद्दृक्षुः परिशङ्किता भवा-
न्निष्क्रामती निर्विशती द्विधाऽऽस सा ॥ १

सुहृद्दृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः
स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा
प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः ॥ २

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा ।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्^१
प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः ॥ ३

तामन्वगच्छन् द्रुतविक्रमां सती-
मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः ।
सपार्षदयक्षा^२ मणिमन्मदादयः
पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः ॥ ४

तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुज-^३
श्वेतातपत्रव्यजनस्त्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभि-
र्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः ॥ ५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इतना कहकर भगवान् शङ्कर मौन हो गये । उन्होंने देखा कि दक्षके यहाँ जाने देने अथवा जानेसे रोकने—दोनों ही अवस्थाओंमें सतीके प्राणत्यागकी सम्भावना है । इधर, सतीजी भी कभी बन्धुजनोंको देखने जानेकी इच्छासे बाहर आतीं और कभी 'भगवान् शङ्कर रुष्ट न हो जायँ, इस शङ्कासे फिर लौट जातीं । इस प्रकार कोई एक बात निश्चित न कर सकनेके कारण वे दुविधामें पड़ गयीं—चञ्चल हो गयीं ॥ १ ॥ बन्धुजनोंसे मिलनेकी इच्छामें बाधा पड़नेसे वे बड़ी अनमनी हो गयीं । स्वजनोके स्नेहवश उनका हृदय भर आया और वे आँखोंमें आँसू भरकर अत्यन्त व्याकुल हो रोने लगीं । उनका शरीर थरथर काँपने लगा और वे अप्रतिम पुरुष भगवान् शङ्करकी ओर इस प्रकार रोषपूर्ण दृष्टिसे देखने लगीं मानो उन्हें भस्म कर देंगी ॥ २ ॥ शोक और क्रोधने उनके चित्तको बिल्कुल बेचैन कर दिया तथा स्त्रीस्वभावके कारण उनकी बुद्धि मूढ़ हो गयी । जिन्होंने प्रीतिवश उन्हें अपना आधा अङ्गतक दे दिया था, उन सत्पुरुषोंके प्रिय भगवान् शङ्करको भी छोड़कर वे लंबी-लंबी साँस लेती हुई अपने माता-पिताके घर चल दीं ॥ ३ ॥ सतीको बड़ी फुर्तीसे अकेली जाते देख श्रीमहादेवजीके मणिमान् एवं मद आदि हजारों सेवक भगवान्के वाहन वृषभराजको आगे कर तथा और भी अनेकों पार्षद और यक्षोंको साथ ले बड़ी तेजीसे निर्भयतापूर्वक उनके पीछे हो लिये ॥ ४ ॥ उन्होंने सतीको बैलपर सवार करा दिया तथा मैना पक्षी, गेंद, दर्पण और कमल आदि खेलकी सामग्री, श्वेत छत्र, चँवर और माला आदि राजचिह्न तथा दुन्दुभि, शङ्ख और बाँसुरी आदि गाने-बजानेके सामानोंसे सुसज्जित हो वे उनके साथ चल दिये ॥ ५ ॥

आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः ।
मृदार्चयःकाञ्चनदर्भचर्मभि-
र्निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत् ॥ ६

तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्
विमानितां यज्ञकृतो भयाजनः ।
ऋते स्वसृर्वे जननीं च सादराः
प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिष्वजुर्मुदा ॥ ७

सौदर्यसम्प्रश्रसमर्थवार्तया
मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम् ।
दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा
नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती ॥ ८

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥ ९

जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा
शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम् ।
स्वतेजसा भूतगणान् समुत्थितान्
निगृह्य देवी जगतोऽभिशृण्वतः^१ ॥ १०

श्रीदेव्युवाच

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।
तस्मिन् समस्तात्मनि^२ मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥ ११

दोषान् परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज ।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णावो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥ १२

तदनन्तर सती अपने समस्त सेवकोंके साथ दक्षकी यज्ञशालामें पहुँचीं । वहाँ वेदध्वनि करते हुए ब्राह्मणोंमें परस्पर होड़ लग रही थी कि सबसे ऊँचे स्वरमें कौन बोले; सब ओर ब्रह्मर्षि और देवता विराजमान थे तथा जहाँ-तहाँ मिट्टी, काठ, लोहे, सोने, डाभ और चर्मके पात्र रखे हुए थे ॥ ६ ॥ वहाँ पहुँचनेपर पिताके द्वारा सतीकी अवहेलना हुई, यह देख यज्ञकर्ता दक्षके भयसे सतीकी माता और बहनोंके सिवा किसी भी मनुष्यने उनका कुछ भी आदर-सत्कार नहीं किया । अवश्य ही उनकी माता और बहिनें बहुत प्रसन्न हुई और प्रेमसे गद्गद होकर उन्होंने सतीजीको आदरपूर्वक गले लगाया ॥ ७ ॥ किन्तु सतीजीने पितासे अपमानित होनेके कारण, बहिनोंके कुशल-प्रश्रसहित प्रेमपूर्ण वार्तालाप तथा माता और मौसियोंके सम्मानपूर्वक दिये हुए उपहार और सुन्दर आसनादिको स्वीकार नहीं किया ॥ ८ ॥

सर्वलोकेश्वरी देवी सतीका यज्ञमण्डपमें तो अनादर हुआ ही था, उन्होंने यह भी देखा कि उस यज्ञमें भगवान् शङ्करके लिये कोई भाग नहीं दिया गया है और पिता दक्ष उनका बड़ा अपमान कर रहा है । इससे उन्हें बहुत क्रोध हुआ; ऐसा जान पड़ता था मानो वे अपने रोषसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देंगी ॥ ९ ॥ दक्षको कर्ममार्गके अभ्याससे बहुत घमण्ड हो गया था । उसे शिवजीसे द्वेष करते देख जब सतीके साथ आये हुए भूत उसे मारनेको तैयार हुए तो देवी सतीने उन्हें अपने तेजसे रोक दिया और सब लोगोंको सुनाकर पिताकी निन्दा करते हुए क्रोधसे लड़खड़ाती हुई वाणीमें कहा ॥ १० ॥

देवी सतीने कहा—पिताजी ! भगवान् शङ्करसे बड़ा तो संसारमें कोई भी नहीं है । वे तो सभी देहधारियोंके प्रिय आत्मा हैं । उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय, अतएव उनका किसी भी प्राणीसे वैर नहीं है । वे तो सबके कारण एवं सर्वरूप हैं; आपके सिवा और ऐसा कौन है जो उनसे विरोध करेगा ? ॥ ११ ॥ द्विजवर ! आप-जैसे लोग दूसरोंके गुणोंमें भी दोष ही देखते हैं, किन्तु कोई साधुपुरुष ऐसा नहीं करते । जो लोग—दोष देखनेकी बात तो अलग रही—दूसरोंके थोड़ेसे गुणको भी बड़े रूपमें देखना चाहते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं । खेद है कि आपने ऐसे महापुरुषोंपर भी दोषारोपण ही किया ॥ १२ ॥

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा
महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।
सेष्य महापुरुषपादपांसुभि-
निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥ १३

यद् द्वयक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥ १४

यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-
निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः ।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-
स्तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे ॥ १५

किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने ।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचै-
र्यै मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् ॥ १६

कर्णौ पिथाय निरयाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसर्ती प्रभुश्चे-
जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥ १७

अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं
न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः ।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो
जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥ १८

न वेदवादाननुवर्तते मतिः
स्व एव लोके रमतो महामुनेः ।
यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्
स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः ॥ १९

कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं
वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम् ।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि
द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति ॥ २०

जो दुष्ट मनुष्य इस शवरूप जडशरीरको ही आत्मा मानते हैं, वे यदि ईर्ष्यावश सर्वदा ही महापुरुषोंकी निन्दा करें तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि महापुरुष तो उनकी इस चेष्टापर कोई ध्यान नहीं देते, परन्तु उनके चरणोंकी धूलि उनके इस अपराधको न सहकर उनका तेज नष्ट कर देती है। अतः महापुरुषोंकी निन्दा-जैसा जघन्य कार्य उन दुष्ट पुरुषोंको ही शोभा देता है ॥ १३ ॥ जिनका 'शिव' यह दो अक्षरोंका नाम प्रसङ्गवश एक बार भी मुखसे निकल जानेपर मनुष्यके समस्त पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और जिनकी आज्ञाका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, अहो ! उन्हीं पवित्रकीर्ति मङ्गलमय भगवान् शङ्करसे आप द्वेष करते हैं ! अवश्य ही आप अमङ्गलरूप हैं ॥ १४ ॥ अरे ! महापुरुषोंके मन-मधुकर ब्रह्मानन्दमय रसका पान करनेकी इच्छासे जिनके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन किया करते हैं और जिनके चरणारविन्द सकाम पुरुषोंको उनके अभीष्ट भोग भी देते हैं, उन विश्वबन्धु भगवान् शिवसे आप वैर करते हैं ॥ १५ ॥

वे केवल नाममात्रके शिव हैं, उनका वेष अशिवरूप—अमङ्गलरूप है; इस बातको आपके सिवा दूसरे कोई देवता सम्भवतः नहीं जानते; क्योंकि जो भगवान् शिव श्मशानभूमिस्थ नरमुण्डोंकी माला, चिताकी भस्म और हड्डियाँ पहने, जटा बिखेरे, भूत-पिशाचोंके साथ श्मशानमें निवास करते हैं, उन्हींके चरणोंपरसे गिरे हुए निर्माल्यको ब्रह्मा आदि देवता अपने सिरपर धारण करते हैं ॥ १६ ॥ यदि निरङ्कुशलोग धर्ममर्यादाकी रक्षा करनेवाले अपने पूजनीय स्वामीकी निन्दा करें तो अपनेमें उसे दण्ड देनेकी शक्ति न होनेपर कान बंद करके वहाँसे चला जाय और यदि शक्ति हो तो बलपूर्वक पकड़कर उस बकवाद करनेवाली अमङ्गलरूप दुष्ट जिह्वाको काट डाले। इस पापको रोकनेके लिये स्वयं अपने प्राणतक दे दे, यही धर्म है ॥ १७ ॥ आप भगवान् नीलकण्ठकी निन्दा करनेवाले हैं, इसलिये आपसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अब मैं नहीं रख सकती; यदि भूलसे कोई निन्दित वस्तु खा ली जाय तो उसे वमन करके निकाल देनेसे ही मनुष्यकी शुद्धि बतायी जाती है ॥ १८ ॥ जो महामुनि निरन्तर अपने स्वरूपमें ही रमण करते हैं, उनकी बुद्धि सर्वथा वेदके विधिनिषेधमय वाक्योंका अनुसरण नहीं करती। जिस प्रकार देवता और मनुष्योंकी गतिमें भेद रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी स्थिति भी एक-सी नहीं होती। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने ही धर्ममार्गमें स्थित रहते हुए भी दूसरोंके मार्गकी निन्दा न करे ॥ १९ ॥ प्रवृत्ति (यज्ञ-यागादि) और निवृत्ति (श्म-दमादि)-रूप दोनों ही प्रकारके कर्म ठीक हैं। वेदमें उनके अलग-अलग रागी और विरागी दो प्रकारके अधिकारी बताये गये हैं। परस्पर विरोधी होनेके कारण उक्त दोनों प्रकारके कर्मोंका एक साथ एक ही पुरुषके द्वारा आचरण नहीं किया जा सकता। भगवान् शङ्कर तो परब्रह्म परमात्मा हैं उन्हें इन दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारका कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २० ॥

मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता^१
 या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ।
 तदन्नतृप्तेरसुभृद्भिरीडिता
 अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः ॥ २१

नैतेन देहेन हरे कृतागसो
 देहोद्धवेनालमलं कुजन्मना ।
 ब्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गत-
 स्तज्जन्म धिग् यो^२ महतामवद्यकृत् ॥ २२

गोत्रं त्वदीयं भगवान् वृषध्वजो
 दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः ।
 व्यपेतनर्मस्मितमाशु तद्व्यहं
 व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम् ॥ २३

मैत्रेय^३ उवाच

इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्
 क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक् ।
 स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता
 निमील्य दृग्योगपथं समाविशत् ॥ २४

कृत्वा समानावनिलौ जितासना
 सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः ।
 शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं
 कण्ठाद् भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ॥ २५

एवं स्वदेहं महतां महीयसा
 मुहुः समारोपितमङ्कुमादरात् ।
 जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी
 दधार गात्रेषुनिलाग्निधारणाम् ॥ २६

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
 जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम् ।
 ददर्श देहो हतकल्मषः सती
 सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्रिना ॥ २७

पिताजी ! हमारा ऐश्वर्य अव्यक्त है, आत्मज्ञानी महापुरुष ही उसका सेवन कर सकते हैं। आपके पास वह ऐश्वर्य नहीं है और यज्ञशालाओंमें यज्ञात्रसे तृप्त होकर प्राणपोषण करनेवाले कर्मठलोग उसकी प्रशंसा भी नहीं करते ॥ २१ ॥ आप भगवान् शङ्करका अपराध करनेवाले हैं। अतः आपके शरीरसे उत्पन्न इस निन्दनीय देहको रखकर मुझे क्या करना है। आप-जैसे दुर्जनसे सम्बन्ध होनेके कारण मुझे लज्जा आती है। जो महापुरुषोंका अपराध करता है, उससे होनेवाले जन्मको भी धिक्कार है ॥ २२ ॥ जिस समय भगवान् शिव आपके साथ मेरा सम्बन्ध दिखलाते हुए मुझे हँसीमें 'दाक्षायणी' (दक्षकुमारी) के नामसे पुकारेंगे, उस समय हँसीको भूलकर मुझे बड़ी ही लज्जा और खेद होगा। इसलिये उसके पहले ही मैं आपके अङ्गसे उत्पन्न इस शवतुल्य शरीरको त्याग दूँगी ॥ २३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—कामादि शत्रुओंको जीतनेवाले विदुरजी ! उस यज्ञमण्डपमें दक्षसे इस प्रकार कह देवी सती मौन होकर उत्तर दिशामें भूमिपर बैठ गयीं। उन्होंने आचमन करके पीला वस्त्र ओढ़ लिया तथा आँखें मूँदकर शरीर छोड़नेके लिये वे योगमार्गमें स्थित हो गयीं ॥ २४ ॥ उन्होंने आसनको स्थिरकर प्राणायामद्वारा प्राण और अपानको एकरूप करके नाभिचक्रमें स्थित किया; फिर उदानवायुको नाभिचक्रसे ऊपर उठाकर धीरे-धीरे बुद्धिके साथ हृदयमें स्थापित किया। इसके पश्चात् अनिन्दिता सती उस हृदयस्थित वायुको कण्ठमार्गसे भ्रुकुटियोंके बीचमें ले गयीं ॥ २५ ॥ इस प्रकार, जिस शरीरको महापुरुषोंके भी पूजनीय भगवान् शङ्करने कई बार बड़े आदरसे अपनी गोदमें बैठाया था, दक्षपर कुपित होकर उसे त्यागनेकी इच्छासे महामनस्विनी सतीने अपने सम्पूर्ण अङ्गोंमें वायु और अग्निकी धारणा की ॥ २६ ॥ अपने पति जगद्गुरु भगवान् शङ्करके चरण-कमल-मकरन्दरका चिन्तन करते-करते सतीने और सब ध्यान भुला दिये; उन्हें उन चरणोंके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी न दिया। इससे वे सर्वथा निदोष, अर्थात् मैं दक्षकन्या हूँ—ऐसे अभिमानसे भी मुक्त हो गयीं और उनका शरीर तुरंत ही योगाग्निसे जल उठा ॥ २७ ॥

तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्
 हाहेति वादः सुमहानजायत ।
 हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
 जहावसून् केन सती प्रकोपिता ॥ २८

अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत
 प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः ।
 जहावसून् यद्विमताऽऽत्मजा सती
 मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति ॥ २९

सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मधुक् च
 लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति ।
 यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विदुद्यतां
 न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः ॥ ३०

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम् ।
 दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः ॥ ३१

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान् भृगुः ।
 यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह ॥ ३२

अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा ।
 ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः ॥ ३३

तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः ।
 हन्यमाना दिशो भेजुरुशब्दिर्ब्रह्मतेजसा ॥ ३४

उस समय वहाँ आये हुए देवता आदिने जब सतीका देहत्यागरूप यह महान् आश्चर्यमय चरित्र देखा, तब वे सभी हाहाकार करने लगे और वह भयङ्कर कोलाहल आकाशमें एवं पृथ्वीतलपर सभी जगह फैल गया । सब ओर यही सुनायी देता था—‘हाय ! दक्षके दुर्व्यवहारसे क्रुपित होकर देवाधिदेव महादेवकी प्रिया सतीने प्राण त्याग दिये ॥ २८ ॥ देखो, सारे चराचर जीव इस दक्षप्रजापतिकी ही सन्तान हैं; फिर भी इसने कैसी भारी दुष्टता की है ! इसकी पुत्री शुद्धहृदया सती सदा ही मान पानेके योग्य थी, किन्तु इसने उसका ऐसा निरादर किया कि उसने प्राण त्याग दिये ॥ २९ ॥ वास्तवमें यह बड़ा ही असहिष्णु और ब्राह्मणद्रोही है । अब इसकी संसारमें बड़ी अपकीर्ति होगी । जब इसकी पुत्री सती इसीके अपराधसे प्राणत्याग करनेको तैयार हुई, तब भी इस शङ्करद्रोहीने उसे रोकातक नहीं !’ ॥ ३० ॥

जिस समय सब लोग ऐसा कह रहे थे, उसी समय शिवजीके पार्षद सतीका यह अद्भुत प्राणत्याग देख, अस्त्र-शस्त्र लेकर दक्षको मारनेके लिये उठ खड़े हुए ॥ ३१ ॥ उनके आक्रमणका वेग देखकर भगवान् भृगुने यज्ञमें विघ्न डालनेवालोंका नाश करनेके लिये ‘अपहतं रक्ष……’ इत्यादि मन्त्रका उच्चारण करते हुए दक्षिणाग्रिमें आहुति दी ॥ ३२ ॥ अध्वर्यु भृगुने ज्यों ही आहुति छोड़ी कि यज्ञकुण्डसे ‘ऋभु’ नामके हजारों तेजस्वी देवता प्रकट हो गये । इन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे चन्द्रलोक प्राप्त किया था ॥ ३३ ॥ उन ब्रह्मतेजसम्पन्न देवताओंने जलती हुई लकड़ियोंसे आक्रमण किया, तो समस्त गुह्यक और प्रमथगण इधर-उधर भाग गये ॥ ३४ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे सतीदेहोत्सर्गो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमोऽध्यायः

वीरभद्रकृत दक्षयज्ञविध्वंस और दक्षवध

मैत्रेय उवाच

भवो भवान्या निधनं प्रजापते-
रसत्कृताया अवगम्य नारदात् ।
स्वपार्षदसैन्यं^१ च तदध्वरभुभि-
र्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ॥ १

क्रुद्धः सुदष्टोष्ठपुटः स धूर्जटि-
जटां तडिद्वहिसटोग्ररोचिषम् ।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन्
गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि ॥ २

ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन्दिवं
सहस्रबाहुर्धनरुक् त्रिसूर्यदृक् ।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्धजः
कपालमाली विविधोद्यतायुधः ॥ ३

तं किं करोमीति गृणन्तमाह
बद्धाञ्जलिं भगवान् भूतनाथः ।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां
त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे ॥ ४

आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना
स देवदेवं परिचक्रमे विभुम् ।
मेने तदाऽऽत्मानमसङ्गरंहसा
महीयसां तात सहः^२ सहिष्णुम् ॥ ५

अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदै-
र्भृशं नदद्भिर्व्यनदत्सुभैरवम् ।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं
स प्राद्रवद् घोषणभूषणाङ्घ्रिः^३ ॥ ६

अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः
ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम् ।
तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभू-
दिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः^४ ॥ ७

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महादेवजीने जब देवर्षि नारदके मुखसे सुना कि अपने पिता दक्षसे अपमानित होनेके कारण देवी सतीने प्राण त्याग दिये हैं और उसकी यज्ञवेदीसे प्रकट हुए ऋभुओंने उनके पार्षदोंकी सेनाको मारकर भगा दिया है, तब उन्हें बड़ा ही क्रोध हुआ ॥ १ ॥ उन्होंने उग्र रूप धारण कर क्रोधके मारे होठ चबाते हुए अपनी एक जटा उखाड़ ली—जो बिजली और आगकी लपटके समान दीप्त हो रही थी—और सहसा खड़े होकर बड़े गम्भीर अट्टहासके साथ उसे पृथ्वीपर पटक दिया ॥ २ ॥ उससे तुरंत ही एक बड़ा भारी लंबा-चौड़ा पुरुष उत्पन्न हुआ । उसका शरीर इतना विशाल था कि वह स्वर्गको स्पर्श कर रहा था । उसके हजार भुजाएँ थीं । मेघके समान श्यामवर्ण था, सूर्यके समान जलते हुए तीन नेत्र थे, विकराल दाढ़ें थीं और अग्निकी ज्वालाओंके समान लाल-लाल जटाएँ थीं । उसके गलेमें नरमुण्डोंकी माला थी और हाथोंमें तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र थे ॥ ३ ॥ जब उसने हाथ जोड़कर पूछा, 'भगवन् ! मैं क्या करूँ ?' तो भगवान् भूतनाथने कहा—'वीर रुद्र ! तू मेरा अंश है, इसलिये मेरे पार्षदोंका अधिनायक बनकर तू तुरंत ही जा और दक्ष तथा उसके यज्ञको नष्ट कर दे' ॥ ४ ॥

प्यारे विदुरजी ! जब देवाधिदेव भगवान् शङ्करने क्रोधमें भरकर ऐसी आज्ञा दी, तब वीरभद्र उनकी परिक्रमा करके चलनेको तैयार हो गये । उस समय उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि मेरे वेगका सामना करनेवाला संसारमें कोई नहीं है और मैं बड़े-से-बड़े वीरका भी वेग सहन कर सकता हूँ ॥ ५ ॥ वे भयङ्कर सिंहनाद करते हुए एक अति कराल त्रिशूल हाथमें लेकर दक्षके यज्ञमण्डपकी ओर दौड़े । उनका त्रिशूल संसारसंहारक मृत्युका भी संहार करनेमें समर्थ था । भगवान् रुद्रके और भी बहुत-से सेवक गर्जना करते हुए उनके पीछे हो लिये । उस समय वीरभद्रके पैरोंके नूपुरादि आभूषण झनन-झनन बजते जाते थे ॥ ६ ॥

इधर यज्ञशालामें बैठे हुए ऋत्विज, यजमान, सदस्य तथा अन्य ब्राह्मण और ब्राह्मणियोंने जब उत्तर दिशाकी ओर धूल उड़ती देखी, तब वे सोचने लगे—'अरे यह अंधेरा-सा कैसे होता आ रहा है ? यह धूल कहाँसे छा गयी ?' ॥ ७ ॥

वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः
 प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः ।
 गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो
 लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते ॥ ८

प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता
 ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैष^१ तस्य ।
 यत्पश्यन्तीनां^२ दुहितृणां प्रजेशः
 सुतां सतीमवदध्यावनागाम् ॥ ९

यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
 स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।
 वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
 नुद्यादृहासस्तनयितुभिन्नदिक् ॥ १०

अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं
 मन्युपुतं दुर्विषहं भृकुट्या ।
 करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं
 स्यात्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः ॥ ११

बह्वेवमुद्विग्नदृशोच्यमाने
 जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः ।
 उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो
 भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् ॥ १२

तावत्स रुद्रानुचरैर्मखो महान्
 नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः ।
 पिङ्गैः^३ पिशङ्गैर्मकरोदराननैः
 पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥ १३

केचिद्वभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे ।
 सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥ १४

इस समय न तो आँधी ही चल रही है और न कहीं लुटेरे ही सुने जाते हैं; क्योंकि अपराधियोंको कठोर दण्ड देनेवाला राजा प्राचीनबर्हि अभी जीवित है। अभी गौओंके आनेका समय भी नहीं हुआ है। फिर यह धूल कहाँसे आयी? क्या इसी समय संसारका प्रलय तो नहीं होनेवाला है?' ॥ ८ ॥ तब दक्षपत्नी प्रसूति एवं अन्य स्त्रियोंने व्याकुल होकर कहा—प्रजापति दक्षने अपनी सारी कन्याओंके सामने बेचारी निरपराधा सतीका तिरस्कार किया था; मालूम होता है वह उसी पापका फल है ॥ ९ ॥ (अथवा हो न हो यह संहारमूर्ति भगवान् रुद्रके अनादरका ही परिणाम है।) प्रलयकाल उपस्थित होनेपर जिस समय वे अपने जटाजूटको बिखेरकर तथा शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित अपनी भुजाओंको ध्वजाओंके समान फैलाकर ताण्डव नृत्य करते हैं, उस समय उनके त्रिशूलके फलोंसे दिग्गज बिंध जाते हैं तथा उनके मेघगर्जनके समान भयङ्कर अदृहाससे दिशाएँ विदीर्ण हो जाती हैं ॥ १० ॥ उस समय उनका तेज असह्य होता है, वे अपनी भौंहें टेढ़ी करनेके कारण बड़े दुर्धर्ष जान पड़ते हैं और उनकी विकराल दाढ़ोंसे तारागण अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। उन क्रोधमें भरे हुए भगवान् शङ्करको बार-बार कुपित करनेवाला पुरुष साक्षात् विधाता ही क्यों न हो—क्या कभी उसका कल्याण हो सकता है? ॥ ११ ॥

जो लोग महात्मा दक्षके यज्ञमें बैठे थे, वे भयके कारण एक-दूसरेकी ओर कातर दृष्टिसे निहारते हुए ऐसी ही तरह-तरहकी बातें कर रहे थे कि इतनेमें ही आकाश और पृथ्वीमें सब ओर सहस्रों भयङ्कर उत्पात होने लगे ॥ १२ ॥ विदुरजी! इसी समय दौड़कर आये हुए रुद्रसेवकोंने उस महान् यज्ञमण्डपको सब ओरसे घेर लिया। वे सब तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे। उनमें कोई बौने, कोई भूरे रंगके, कोई पीले और कोई मगरके समान पेट और मुखवाले थे ॥ १३ ॥ उनमेंसे किन्हींने प्राग्वंश (यज्ञशालाके पूर्व और पश्चिमके खंभोंके बीचमें आड़े रखे हुए ढंडे) को तोड़ डाला, किन्हींने यज्ञशालाके पश्चिमकी ओर स्थित पत्नीशालाको नष्ट कर दिया, किन्हींने यज्ञशालाके सामनेका सभामण्डप और मण्डपके आगे उत्तरकी ओर स्थित आग्नीध्रशालाको तोड़ दिया, किन्हींने यजमानगृह और पाकशालाको तहस-नहस कर डाला ॥ १४ ॥

रुरुजुर्यज्ञपात्राणि^१ तथैकेऽग्नीननाशयन् ।
 कुण्डेष्वमूत्रयन् केचिद्विभिदुर्वेदिमेखलाः ॥ १५
 अबाधन्त मुनीनन्य^२ एके पत्नीरतर्जयन् ।
 अपरे जगृहुर्देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान् ॥ १६
 भृगुं बबन्ध मणिमान् वीरभद्रः प्रजापतिम् ।
 चण्डीशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत् ॥ १७
 सर्व एवत्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः ।
 तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाद्रवन् ॥ १८
 जुह्वतः स्तुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान् भवः ।
 भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसच्छमश्रु दर्शयन् ॥ १९
 भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि ।
 उज्जहार सदःस्थोऽक्षणा यः शपन्तमसूसुचत्^३ ॥ २०
 पूषाश्चापातयदन्तान्^४ कालिङ्गस्य यथा बलः ।
 शप्यमाने गरिमणि योऽहसदर्शयन्दतः ॥ २१
 आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना ।
 छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशकरोत् त्र्यम्बकस्तदा ॥ २२
 शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेवमनिर्भिन्नत्वचं हरः ।
 विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम् ॥ २३
 दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे ।
 यजमानपशोः कस्य कायात्तेनाहरच्छिरः ॥ २४
 साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य शंसताम् ।
 भूतप्रेतपिशाचानामन्येषां तद्विपर्ययः ॥ २५
 जुहावैतच्छिरस्तस्मिन्दक्षिणाग्रावमर्षितः ।
 तद्देवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद् गुह्यकालयम् ॥ २६

किन्हींने यज्ञके पात्र फोड़ दिये, किन्हींने अग्नियोंको बुझा दिया, किन्हींने यज्ञकुण्डोंमें पेशाब कर दिया और किन्हींने वेदीकी सीमाके सूत्रोंको तोड़ डाला ॥ १५ ॥ कोई-कोई मुनियोंको तंग करने लगे, कोई स्त्रियोंको डराने-धमकाने लगे और किन्हींने अपने पास होकर भागते हुए देवताओंको पकड़ लिया ॥ १६ ॥ मणिमान्ने भृगु ऋषिको बाँध लिया, वीरभद्रने प्रजापति दक्षको कैद कर लिया तथा चण्डीशने पूषाको और नन्दीश्वरने भग देवताको पकड़ लिया ॥ १७ ॥

भगवान् शङ्करके पार्षदोंकी यह भयङ्कर लीला देखकर तथा उनके कंकड़-पत्थरोंकी मारसे बहुत तंग आकर वहाँ जितने ऋत्विज्, सदस्य और देवतालोग थे, सब-के-सब जहाँ-तहाँ भाग गये ॥ १८ ॥ भृगुजी हाथमें स्तुवा लिये हवन कर रहे थे। वीरभद्रने इनकी दाढ़ी-मूँछ नोच लीं; क्योंकि इन्होंने प्रजापतियोंकी सभामें मूँछें ऐंठते हुए महादेवजीका उपहास किया था ॥ १९ ॥ उन्होंने क्रोधमें भरकर भगदेवताको पृथ्वीपर पटक दिया और उनकी आँखें निकाल लीं; क्योंकि जब दक्ष देवसभामें श्रीमहादेवजीको बुरा-भला कहते हुए शाप दे रहे थे, उस समय इन्होंने दक्षको सैन देकर उकसाया था ॥ २० ॥ इसके पश्चात् जैसे अनिरुद्धके विवाहके समय बलरामजीने कलिङ्गराजके दाँत उखाड़े थे, उसी प्रकार उन्होंने पूषाके दाँत तोड़ दिये; क्योंकि जब दक्षने महादेवजीका गालियाँ दी थीं, उस समय ये दाँत दिखाकर हँसे थे ॥ २१ ॥ फिर वे दक्षकी छातीपर बैठकर एक तेज तलवारसे उसका सिर काटने लगे, परन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी वे उस समय उसे धड़से अलग न कर सके ॥ २२ ॥ जब किसी भी प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंमें दक्षकी त्वचा नहीं कटी, तब वीरभद्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बहुत देरतक विचार करते रहे ॥ २३ ॥ तब उन्होंने यज्ञपण्डपमें यज्ञपशुओंको जिस प्रकार मारा जाता था, उसे देखकर उसी प्रकार दक्षरूप उस यजमान पशुका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ २४ ॥ यह देखकर भूत, प्रेत और पिशाचादि तो उनके इस कर्मकी प्रशंसा करते हुए 'वाह-वाह' करने लगे और दक्षके दलवालोंमें हाहाकार मच गया ॥ २५ ॥ वीरभद्रने अत्यन्त कुपित होकर दक्षके सिरका यज्ञकी दक्षिणाग्निमें डाल दिया और उस यज्ञशालामें आग लगाकर यज्ञको विध्वंस करके वे कैलासपर्वतको लौट गये ॥ २६ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे
 दक्षयज्ञविध्वंसो^५ नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



अथ षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मादि देवताओंका कैलास जाकर श्रीमहादेवजीको मनाना

मैत्रेय उवाच

अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः ।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंशगदापरिघमुद्गरैः ॥ १

संछिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः ।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कात्स्न्येनैतन्यवेदयन् ॥ २

उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः ।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः ॥ ३

तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि ।
क्षेमाय^२ तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम् ॥ ४

अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं
ये बर्हिषो भागभाजं परादुः ।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा^३
क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५

आशासाना जीवितमध्वरस्य
लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन् ।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं
क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः ॥ ६

नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये
ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम् ।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा
य^४ स्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधिस्तेत् ॥ ७

स इत्थमादिश्य सुरानजस्तैः
समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः ।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः
कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः ॥ ८

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार जब रुद्रके सेवकोंने समस्त देवताओंको हरा दिया और उनके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग भूत-प्रेतोंके त्रिशूल, पट्टिश, खड्ग, गदा, परिघ और मुद्गर आदि आयुधोंसे छिन्न-भिन्न हो गये तब वे ऋत्विज् और सदस्योंके सहित बहुत ही डरकर ब्रह्माजीके पास पहुँचे और प्रणाम करके उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १-२ ॥ भगवान् ब्रह्माजी और सर्वान्तर्यामी श्रीनारायण पहलेसे ही इस भावी उत्पातको जानते थे, इसीसे वे दक्षके यज्ञमें नहीं गये थे ॥ ३ ॥ अब देवताओंके मुखसे वहाँकी सारी बात सुनकर उन्होंने कहा, 'देवताओ ! परम समर्थ तेजस्वी पुरुषसे कोई दोष भी बन जाय, तो भी उसके बदलेमें अपराध करनेवाले मनुष्योंका भला नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ फिर तुमलोगोंने तो यज्ञमें भगवान् शङ्करका प्राप्य भाग न देकर उनका बड़ा भारी अपराध किया है । परन्तु शङ्करजी बहुत शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं, इसलिये तुमलोग शुद्ध हृदयसे उनके पैर पकड़कर उन्हें प्रसन्न करो—उनसे क्षमा माँगो ॥ ५ ॥ दक्षके दुर्वचनरूपी बाणोंसे उनका हृदय तो पहलेसे ही बिंध रहा था, उसपर उनकी प्रिया सतीजीका वियोग हो गया । इसलिये यदि तुमलोग चाहते हो कि वह यज्ञ फिरसे आरम्भ होकर पूर्ण हो, तो पहले जल्दी जाकर उनसे अपने अपराधोंके लिये क्षमा माँगो । नहीं तो, उनके कुपित होनेपर लोकपालोंके सहित इन समस्त लोकोंका भी वचना असम्भव है ॥ ६ ॥ भगवान् रुद्र परम स्वतन्त्र हैं, उनके तत्त्व और शक्ति-सामर्थ्यको न तो कोई ऋषि-मुनि, देवता और यज्ञ-स्वरूप देवराज इन्द्र ही जानते हैं और न स्वयं मैं ही जानता हूँ; फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है । ऐसी अवस्थामें उन्हें शान्त करनेका उपाय कौन कर सकता है ॥ ७ ॥

देवताओंसे इस प्रकार कहकर ब्रह्माजी उनको, प्रजापतियोंको और पितरोंको साथ ले अपने लोकसे पर्वतश्रेष्ठ कैलासको गये, जो भगवान् शङ्करका प्रिय धाम है ॥ ८ ॥

जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः^१ ।
जुष्टं^२ किन्नरगन्धर्वैरप्सरोग्भिर्वृतं सदा ॥ ९

नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः ।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः ॥ १०

नानामलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः ।
रमणं विहरन्तीनां रमणैः^३ सिद्धयोषिताम् ॥ ११

मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम् ।
प्लावितैः^४ रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्रिणाम् ॥ १२

आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान् कामदुघैर्द्रुमैः ।
व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निझरैः ॥ १३

मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम् ।
तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः ॥ १४

चूतैः^५ कदम्बैर्नीपैश्च नागपुत्रागचम्पकैः ।
पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरवकैरपि ॥ १५

स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वररेणुकजातिभिः ।
कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम् ॥ १६

पनसोदुम्बराश्चत्थप्लक्ष्म्यग्रोधहिङ्गुभिः ।
भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च^६ जम्बुभिः ॥ १७

खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः^७ प्रियालमधुकेङ्गुदैः ।
द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः ॥ १८

कुमुदोत्पलकल्लारशतपत्रवनर्द्धिभिः ।
नलिनीषु^८ कलं कूजत्वगवृन्दोपशोभितम् ॥ १९

मृगैः शाखामृगैः क्रोडैर्मृगेन्द्रैर्ऋक्षशल्यकैः^९ ।
गवयैः शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभिः ॥ २०

उस कैलासपर ओषधि, तप, मन्त्र तथा योग आदि उपायोंसे सिद्धिको प्राप्त हुए और जन्मसे ही सिद्ध देवता नित्य निवास करते हैं; किन्नर, गन्धर्व और अप्सरादि सदा वहाँ बने रहते हैं ॥ ९ ॥ उसके मणिमय शिखर हैं, जो नाना प्रकारकी धातुओंसे रंग-विरंगे प्रतीत होते हैं। उसपर अनेक प्रकारके वृक्ष, लता और गुल्मादि छाये हुए हैं, जिनमें झुंड-के-झुंड जंगली पशु विचरते रहते हैं ॥ १० ॥ वहाँ निर्मल जलके अनेकों झरने बहते हैं और बहुत-सी गहरी कन्दरा और ऊँचे शिखरोंके कारण वह पर्वत अपने प्रियतमोंके साथ विहार करती हुई सिद्धपत्नियोंका क्रीडा-स्थल बना हुआ है ॥ ११ ॥ वह सब ओर मोरोंके शोर, मदान्ध भ्रमरोंके गुंजार, कोयलोंकी कुहू-कुहू ध्वनि तथा अन्यान्य पक्षियोंके कलरवसे गूँज रहा है ॥ १२ ॥ उसके कल्पवृक्ष अपनी ऊँची-ऊँची डालियोंको हिला-हिलाकर मानो पक्षियोंको बुलाते रहते हैं। तथा हाथियोंके चलने-फिरनेके कारण वह कैलास स्वयं चलता हुआ-सा और झरनोंकी कलकल-ध्वनिसे बातचीत करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥ १३ ॥

मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताड़, कचनार, असन और अर्जुनके वृक्षोंसे वह पर्वत बड़ा ही सुहावना जान पड़ता है ॥ १४ ॥ आम, कदम्ब, नीप, नाग, पुत्राग, चम्पा, गुलाब, अशोक, मौलसिरी, कुन्द, कुरवक, सुनहरे शतपत्र कमल, इलायची और मालतीकी मनोहर लताएँ तथा कुब्जक, मोगरा और माधवीकी बेलें भी उसकी शोभा बढ़ाती हैं ॥ १५-१६ ॥ कटहल, गूलर, पीपल, पाकर, बड़, गूगल, भोजवृक्ष, ओषध जातिके पेड़ (केले आदि, जो फल आनेके बाद काट दिये जाते हैं), सुपारी, राजपूग, जामुन, खजूर, आमड़ा, आम, पियाल, महुआ और लिसौड़ा आदि विभिन्न प्रकारके वृक्षों तथा पोले और ठोस बाँसके झुरमुटोंसे वह पर्वत बड़ा ही मनोहर मालूम होता है ॥ १७-१८ ॥ उसके सरोवरोंमें कुमुद, उत्पल, कल्लार और शतपत्र आदि अनेक जातिके कमल खिले रहते हैं। उनकी शोभासे मुग्ध होकर कलरव करते हुए झुंड-के-झुंड पक्षियोंसे वह बड़ा ही भला लगता है ॥ १९ ॥ वहाँ जहाँ-तहाँ हरिन, वानर, सूअर, सिंह, रीछ, साही, नीलगाय, शरभ, बाघ, कृष्णमृग, भैंसे, कर्णान्त्र, एकपद, अश्वमुख, भेड़िये और कस्तूरी-मृग घूमते रहते हैं तथा वहाँके सरोवरोंके तट केलोंकी पङ्क्तियोंसे घिरे होनेके कारण

कर्णान्नैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं^१ वृकनाभिभिः ।
कदलीखण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम् ॥ २१

पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया ।
विलोक्य भूतेशगिरि विबुधा विस्मयं ययुः ॥ २२

ददृशुस्तत्र^२ ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम् ।
वनं सौगन्धिकं चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम् ॥ २३

नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः पुरः ।
तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीव पावने ॥ २४

ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्यतः ।
क्रीडन्ति पुंसः सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्षिताः^३ ॥ २५

ययोस्तत्स्नानविभ्रष्टनवकुङ्कुमपिञ्जरम् ।
वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः ॥ २६

तारहेममहारत्नविमानशतसंकुलाम् ।
जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्धनम् ॥ २७

हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकं च तत् ।
द्रुमैः कामदुर्घैर्हृद्यं^४ चित्रमाल्यफलच्छदैः ॥ २८

रक्तकण्ठखगानीकस्वरमण्डितषट्पदम् ।
कलहंसकुलप्रेष्ठं खरदण्डजलाशयम् ॥ २९

वनकुञ्जरसंघृष्टहरिचन्दनवायुना^५ ।
अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन्मनः^६ ॥ ३०

वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः ।
प्राप्ताः किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्दृशुर्वटम् ॥ ३१

स^७ योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः ।
पर्यङ्कताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः ॥ ३२

बड़ी शोभा पाते हैं। उसके चारों ओर नन्दा नामकी नदी बहती है, जिसका पवित्र जल देवी सतीके स्नान करनेसे और भी पवित्र एवं सुगन्धित हो गया है। भगवान् भूतनाथके निवासस्थान उस कैलासपर्वतकी ऐसी रमणीयता देखकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २०—२२ ॥

वहाँ उन्होंने अलका नामकी एक सुरम्य पुरी और सौगन्धिक वन देखा, जिसमें सर्वत्र सुगन्ध फैलानेवाले सौगन्धिक नामके कमल खिले हुए थे ॥ २३ ॥ उस नगरके बाहरकी ओर नन्दा और अलकनन्दा नामकी दो नदियाँ हैं; वे तीर्थपाद श्रीहरिकी चरण-रजके संयोगसे अत्यन्त पवित्र हो गयी हैं ॥ २४ ॥ विदुरजी ! उन नदियोंमें रतिविलाससे थकी हुई देवाङ्गनाएँ अपने-अपने निवासस्थानसे आकर जलक्रीडा करती हैं और उसमें प्रवेशकर अपने प्रियतमोंपर जल उलीचती हैं ॥ २५ ॥ स्नानके समय उनका तुरंतका लगाया हुआ कुचकुङ्कुम धुल जानेसे जल पीला हो जाता है। उस कुङ्कुममिश्रित जलको हाथी प्यास न होनेपर भी गन्धके लोभसे स्वयं पीते और अपनी हथिनियोंको पिलाते हैं ॥ २६ ॥

अलकापुरीपर चाँदी, सोने और बहुमूल्य मणियोंके सैकड़ों विमान छाये हुए थे, जिनमें अनेकों यक्षपत्नियाँ निवास करती थीं। इनके कारण वह विशाल नगरी बिजली और बादलोंसे छाये हुए आकाशके समान जान पड़ती थी ॥ २७ ॥ यक्षराज कुबेरकी राजधानी उस अलकापुरीको पीछे छोड़कर देवगण सौगन्धिक वनमें आये। वह वन रंग-विरंगे फल, फूल और पत्तोंवाले अनेकों कल्पवृक्षोंसे सुशोभित था ॥ २८ ॥ उसमें कोकिल आदि पक्षियोंका कलरव और भौरोंका गुंजार हो रहा था तथा राजहंसोंके परमप्रिय कमलकुसुमोंसे सुशोभित अनेकों सरोवर थे ॥ २९ ॥ वह वन जंगली हाथियोंके शरीरकी रगड़ लगनेसे घिसे हुए हरिचन्दन वृक्षोंका स्पर्श करके चलनेवाली सुगन्धित वायुके द्वारा यक्षपत्नियोंके मनको विशेषरूपसे मथे डालता था ॥ ३० ॥ बावलियोंकी सीढ़ियाँ वैदूर्यमणिकी बनी हुई थीं। उनमें बहुत-से कमल खिले रहते थे। वहाँ अनेकों किम्पुरुष जी बहलानेके लिये आये हुए थे। इस प्रकार उस वनकी शोभा निहारते जब देवगण कुछ आगे बढ़े, तब उन्हें पास ही एक वटवृक्ष दिखलायी दिया ॥ ३१ ॥

वह वृक्ष सौ योजन ऊँचा था तथा उसकी शाखाएँ पचहत्तर योजनतक फैली हुई थीं। उसके चारों ओर सर्वदा अविचल छाया बनी रहती थी, इसलिये घामका कष्ट कभी नहीं होता था; तथा उसमें कोई घोंसला भी न था ॥ ३२ ॥

तस्मिन्महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः ।
ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम् ॥ ३३

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः^१ शान्तैः संशान्तविग्रहम् ।
उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम् ॥ ३४

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम् ।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् ॥ ३५

लिङ्गं च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम् ।
अङ्गेन संध्याभरुचा चन्द्रलेखां च बिभ्रतम् ॥ ३६

उपविष्टं दर्भमय्यां वृष्यां ब्रह्म सनातनम् ।
नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम् ॥ ३७

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि ।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया ॥ ३८

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं^२ योगकक्षाम् ।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥ ३९

स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं
सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दन-^३
मर्हन्तमः कस्य यथैव विष्णुः ॥ ४०

तथापरे सिद्धगणा महर्षिभि-
र्ये वै समन्तादनु नीललोहितम् ।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं
कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः ॥ ४१

उस महायोगमय और मुमुक्षुओंके आश्रयभूत वृक्षके नीचे देवताओंने भगवान् शङ्करको विराजमान देखा । वे साक्षात् क्रोधहीन कालके समान जान पड़ते थे ॥ ३३ ॥ भगवान् भूतनाथका श्रीअङ्ग बड़ा ही शान्त था । सनन्दनादि शान्त सिद्धगण और सखा—यक्ष-राक्षसोंके स्वामी कुबेर उनकी सेवा कर रहे थे ॥ ३४ ॥ जगत्पति महादेवजी सारे संसारके सुहृद् हैं, स्नेहवश सबका कल्याण करनेवाले हैं; वे लोकहितके लिये ही उपासना, चित्तकी एकाग्रता और समाधि आदि साधनोंका आचरण करते रहते हैं ॥ ३५ ॥ सन्ध्याकालीन मेघकी-सी कान्तिवाले शरीरपर वे तपस्वियोंके अभीष्ट चिह्न—भस्म, दण्ड, जटा और मृगचर्म एवं मस्तकपर चन्द्रकला धारण किये हुए थे ॥ ३६ ॥ वे एक कुशासनपर बैठे थे और अनेकों साधु श्रोताओंके बीचमें श्रीनारदजीके पूछनेसे सनातन ब्रह्मका उपदेश कर रहे थे ॥ ३७ ॥ उनका बायाँ चरण दायीं जाँघपर रखा था । वे बायाँ हाथ बायें घुटनेपर रखे, कलाईमें रुद्राक्षकी माला डाले तर्कमुद्रासे* विराजमान थे ॥ ३८ ॥ वे योगपट्ट (काठकी बनी हुई टेकनी)का सहारा लिये एकाग्र चित्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे । लोकपालोंके सहित समस्त मुनियोंने मननशीलोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् शङ्करको हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ३९ ॥ यद्यपि समस्त देवता और दैत्योंके अधिपति भी श्रीमहादेवजीके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं, तथापि वे श्रीब्रह्माजीको अपने स्थानपर आया देख तुरन्त खड़े हो गये और जैसे वामनावतारमें परमपूज्य विष्णुभगवान् कश्यपजीकी वन्दना करते हैं, उसी प्रकार सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ४० ॥ इसी प्रकार शङ्करजीके चारों ओर जो महर्षियोंसहित अन्यान्य सिद्धगण बैठे थे, उन्होंने भी ब्रह्माजीको प्रणाम किया । सबके नमस्कार कर चुकनेपर ब्रह्माजीने चन्द्रमौलि भगवान्से, जो अबतक प्रणामकी मुद्रामें ही खड़े थे, हँसते हुए कहा ॥ ४१ ॥

ब्रह्मोवाच

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥ ४२

त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः ।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो^१ यथा ॥ ४३

त्वमेव धर्मार्थदुग्धाभिपत्तये
दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् ।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो
यान्ब्राह्मणाः श्रद्धधते धृतव्रताः ॥ ४४

त्वं कर्मणां मङ्गल मङ्गलानां
कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमङ्गलानां च तमिस्त्रमुल्बणं
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥ ४५

न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव^२ ।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥ ४६

पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।
परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदा-
स्तान्मा वधीद्देववधान्^३ भवद्विधः ॥ ४७

यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया
दुरन्तया^४ स्पृष्टधियः पृथग्दृशः ।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम् ॥ ४८

भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया
दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक् ।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतः
स्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो ॥ ४९

श्रीब्रह्माजीने कहा—देव ! मैं जानता हूँ, आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं; क्योंकि विश्वकी योनि शक्ति (प्रकृति) और उसके बीज शिव (पुरुष) से परे जो एकरस परब्रह्म है, वह आप ही हैं ॥ ४२ ॥ भगवन् ! आप मकड़ीके समान ही अपने स्वरूपभूत शिव-शक्ति-के रूपमें क्रीडा करते हुए लीलासे ही संसारकी रचना, पालन और संहार करते रहते हैं ॥ ४३ ॥ आपने ही धर्म और अर्थकी प्राप्ति करानेवाले वेदकी रक्षाके लिये दक्षको निमित्त बनाकर यज्ञको प्रकट किया है। आपकी ही बाँधी हुई ये वर्णाश्रमकी मर्यादाएँ हैं, जिनका नियमनिष्ठ ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं ॥ ४४ ॥ मङ्गलमय महेश्वर ! आप शुभ कर्म करनेवालोंको स्वर्गलोक अथवा मोक्षपद प्रदान करते हैं तथा पापकर्म करनेवालोंको घोर नरकोंमें डालते हैं। फिर भी किसी-किसी व्यक्तिके लिये इन कर्मोंका फल उलटा कैसे हो जाता है ? ॥ ४५ ॥

जो महानुभाव आपके चरणोंमें अपनेको समर्पित कर देते हैं, जो समस्त प्राणियोंमें आपकी ही झाँकी करते हैं और समस्त जीवोंको अभेददृष्टिसे आत्मामें ही देखते हैं, वे पशुओंके समान प्रायः क्रोधके अधीन नहीं होते ॥ ४६ ॥ जो लोग भेदबुद्धि होनेके कारण कर्मोंमें ही आसक्त हैं, जिनकी नीयत अच्छी नहीं है, दूसरोंकी उन्नति देखकर जिनका चित्त रात-दिन कुढ़ा करता है और जो मर्मभेदी अज्ञानी अपने दुर्वचनोंसे दूसरोंका चित्त दुखाया करते हैं, आप-जैसे महापुरुषोंके लिये उन्हें भी मारना उचित नहीं है; क्योंकि वे बेचारे तो विधाताके ही मारे हुए हैं ॥ ४७ ॥ देवदेव ! भगवान् कमलनाभकी प्रबल मायासे मोहित हो जानेके कारण यदि किसी पुरुषकी कभी किसी स्थानमें भेदबुद्धि होती है, तो भी साधु पुरुष अपने परदुःखकातर स्वभावके कारण उसपर कृपा ही करते हैं; दैववश जो कुछ हो जाता है, वे उसे रोकनेका प्रयत्न नहीं करते ॥ ४८ ॥

प्रभो ! आप सर्वज्ञ हैं, परम पुरुष भगवान्की दुस्तर मायाने आपकी बुद्धिका स्पर्श भी नहीं किया है। अतः जिनका चित्त उसके वशीभूत होकर कर्ममार्गमें आसक्त हो रहा है, उनके द्वारा अपराध बन जाय, तो भी उनपर आपको कृपा ही करनी चाहिये ॥ ४९ ॥

कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भो-
स्त्वयासमाप्तस्य मनो प्रजापतेः ।
न यत्र भागं तव^१ भागिनो ददुः
कयज्विनो येन मखो निनीयते ॥ ५०

जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः ।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥ ५१

देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः ।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनतुरम् ॥ ५२

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥ ५३

भगवन् ! आप सबके मूल हैं । आप ही सम्पूर्ण यज्ञोंको पूर्ण करनेवाले हैं । यज्ञभाग पानेका भी आपको पूरा अधिकार है । फिर भी इस दक्षयज्ञके बुद्धिहीन याजकोंने आपको यज्ञभाग नहीं दिया । इसीसे यह आपके द्वारा विध्वस्त हुआ । अब आप इस अपूर्ण यज्ञका पुनरुद्धार करनेकी कृपा करें ॥ ५० ॥ प्रभो ! ऐसा कीजिये, जिससे यजमान दक्ष फिर जी उठे, भगदेवताको नेत्र मिल जायँ, भृगुजीके दाढ़ी-मूँछ आ जायँ और पूषाके पहलेके ही समान दाँत निकल आयें ॥ ५१ ॥ रुद्रदेव ! अस्त्र-शस्त्र और पत्थरोंकी बौछारसे जिन देवता और ऋत्विजोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग घायल हो गये हैं, आपकी कृपासे वे फिर ठीक हो जायँ ॥ ५२ ॥ यज्ञ सम्पूर्ण होनेपर जो कुछ शेष रहे, वह सब आपका भाग होगा । यज्ञविध्वंसक ! आज यह यज्ञ आपके ही भागसे पूर्ण हो ॥ ५३ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे रुद्रसान्त्वनं
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः

दक्षयज्ञकी पूर्ति

मैत्रेय उवाच

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता ।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति ॥ १

श्रीमहादेव^२ उवाच

नाघं प्रजेश^३ बालानां वर्णये नानुचिन्तये ।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र^४ धृतो मया ॥ २

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः ।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ॥ ३

पूषा तु यजमानस्य दद्विर्जक्षतु^५ पिष्टभुक् ।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः ॥ ४

बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः ।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत् ॥ ५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाबाहो विदुरजी ! ब्रह्माजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् शङ्करने प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए कहा—सुनिये ॥ १ ॥

श्रीमहादेवजीने कहा—'प्रजापते ! भगवान्को मायासे मोहित हुए दक्ष-जैसे नासमझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही । मैंने तो केवल सावधान करनेके लिये ही उन्हें थोड़ा-सा दण्ड दे दिया ॥ २ ॥ दक्षप्रजापतिका सिर जल गया है, इसलिये उनके बकरेका सिर लगा दिया जाय; भगदेव मित्रदेवताके नेत्रोंसे अपना यज्ञभाग देखे ॥ ३ ॥ पूषा पिसा हुआ अन्न खानेवाले है, वे उसे यजमानके दाँतोंसे भक्षण करें तथा अन्य सब देवताओंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी स्वस्थ हो जायँ; क्योंकि उन्होंने यज्ञसे बचे हुए पदार्थोंको मेरा भाग निश्चित किया है ॥ ४ ॥ अध्वर्यु आदि याज्ञिकोंमेंसे जिनकी भुजाएँ टूट गयी हैं, वे अश्विनीकुमारकी भुजाओंसे और जिनके हाथ नष्ट हो गये हैं, वे पूषाके हाथोंसे काम करें तथा भृगुजीके बकरेकी-सी दाढ़ी-मूँछ हो जाय' ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम् ।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ ६

ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः ।
भूयस्तद्देवयजनं समीद्वद्वेधसो ययुः ॥ ७

विधाय कात्स्न्येन च तद्यदाह भगवान् भवः ।
संदधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः ॥ ८

संधीयमाने शिरसि^१ दक्षो रुद्राभिवीक्षितः ।
सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम् ॥ ९

तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः ।
शिवावल्लोकादभवच्छरद्धद इवामलः ॥ १०

भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्रोदनुरागतः ।
औत्कण्ठ्याद्वाष्पकलया सम्प्रेतां सुतां^२ स्मरन् ॥ ११

कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः ।
शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥ १२

दक्ष उवाच

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः ।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु ॥ १३

विद्यातपोव्रतधरान् मुखतः स्म विप्रान्
ब्रह्माऽऽत्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्त्राक् ।
तद्ब्राह्मणान् परम सर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः ॥ १४

योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैरगणय्य तन्माम् ।
अर्वाक् पतन्तमर्हन्तमनिन्दयापाद्
दृष्ट्याऽऽर्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत् ॥ १५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—वत्स विदुर ! तब भगवान् शङ्करके वचन सुनकर सब लोग प्रसन्न चित्तसे 'धन्य ! धन्य !' कहने लगे ॥ ६ ॥ फिर सभी देवता और ऋषियोंने महादेवजीसे दक्षकी यज्ञशालामें पधारनेकी प्रार्थना की और तब वे उन्हें तथा ब्रह्माजीको साथ लेकर वहाँ गये ॥ ७ ॥ वहाँ जैसा-जैसा भगवान् शङ्करने कहा था, उसी प्रकार सब कार्य करके उन्होंने दक्षकी धड़से यज्ञपशुका सिर जोड़ दिया ॥ ८ ॥ सिर जुड़ जानेपर रुद्र-देवकी दृष्टि पड़ते ही दक्ष तत्काल सोकर जागनेके समान जी उठे और अपने सामने भगवान् शिवको देखा ॥ ९ ॥ दक्षका शङ्करद्रोहकी कालिमासे कलुषित हृदय उनका दर्शन करनेसे शरत्कालीन सरोवरके समान स्वच्छ हो गया ॥ १० ॥ उन्होंने महादेवजीकी स्तुति करनी चाही, किन्तु अपनी मरी हुई बेटी सतीका स्मरण हो आनेसे स्नेह और उत्कण्ठाके कारण उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये । उनके मुखसे शब्द न निकल सका ॥ ११ ॥ प्रेमसे विह्वल, परम बुद्धिमान् प्रजापतिने जैसे-तैसे अपने हृदयके आवेगको रोककर विशुद्धभावसे भगवान् शिवकी स्तुति करनी आरम्भ की ॥ १२ ॥

दक्षने कहा—भगवन् ! मैंने आपका अपराध किया था, किन्तु आपने उसके बदलेमें मुझे दण्डके द्वारा शिक्षा देकर बड़ा ही अनुग्रह किया है । अहो ! आप और श्रीहरि तो आचारहीन, नाममात्रके ब्राह्मणोंकी भी उपेक्षा नहीं करते—फिर हम-जैसे यज्ञ-यागादि करनेवालोंको क्यों भूलेंगे ॥ १३ ॥ विभो ! आपने ब्रह्मा होकर सबसे पहले आत्मतत्त्वकी रक्षाके लिये अपने मुखसे विद्या, तप और व्रतादिके धारण करनेवाले ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था । जैसे चरवाहा लाठी लेकर गौओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप उन ब्राह्मणोंकी सब विपत्तियोंसे रक्षा करते हैं ॥ १४ ॥ मैं आपके तत्त्वको नहीं जानता था, इसीसे मैंने भरी सभामें आपको अपने वाग्बाणोंसे बेधा था । किन्तु आपने मेरे उस अपराधका कोई विचार नहीं किया । मैं तो आप-जैसे पूज्यतम महानुभावोंका अपराध करनेके कारण नरकादि नीच लोकोंमें गिरनेवाला था, परन्तु आपने अपनी करुणाभरी दृष्टिसे मुझे उबार लिया । अब भी आपको प्रसन्न करनेयोग्य मुझमें कोई गुण नहीं है; बस, आप अपने ही उदारतापूर्ण वर्तवसे मुझपर प्रसन्न हों ॥ १५ ॥

मैत्रेय उवाच

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः ।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायत्विगादिभिः ॥ १६

वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः ।
पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्गशुद्धये ॥ १७

अध्वर्युणाऽऽत्तहविषा यजमानो विशाम्पते ।
धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्वरिः ॥ १८

तदा स्वप्रभया^१ तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश ।
मुष्णंस्तेज उपानीतस्ताक्षर्येण स्तोत्रवाजिना ॥ १९

श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो
नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।
कम्बुब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-^२
व्यग्रैर्हिरण्यभुजैरिव कर्णिकारः ॥ २०

वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-
हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम् ।
पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः
श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः ॥ २१

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः ।
प्रणेमुः सहस्रोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः ॥ २२

तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः ।
मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम् ॥ २३

अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः ।
यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम् ॥ २४

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं
यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् ।
सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा
गृणन् प्रपेदे प्रवतः कृताञ्जलिः ॥ २५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—आशुतोष शङ्करसे इस प्रकार अपना अपराध क्षमा कराकर दक्षने ब्रह्माजीके कहनेपर उपाध्याय, ऋत्विज् आदिकी सहायतासे यज्ञकार्य आरम्भ किया ॥ १६ ॥ तब ब्राह्मणोंने यज्ञ सम्पन्न करनेके उद्देश्यसे रुद्रगण-सम्बन्धी भूत-पिशाचोंके संसर्गजनित दोषकी शान्तिके लिये तीन पात्रोंमें विष्णुभगवान्के लिये तैयार किये हुए पुरोडाश नामक चरुका हवन किया ॥ १७ ॥ विदुरजी ! उस हविको हाथमें लेकर खड़े हुए अध्वर्युके साथ यजमान दक्षने ज्यों ही विशुद्ध चित्तसे श्रीहरिका ध्यान किया, त्यों ही सहसा भगवान् वहाँ प्रकट हो गये ॥ १८ ॥ 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' नामक साम-स्तोत्र जिनके पंख हैं, उन गरुडजीके द्वारा समीप लाये हुए भगवान्ने दसों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई अपनी अङ्गकान्तिसे सब देवताओंका तेज हर लिया—उनके सामने सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी ॥ १९ ॥ उनका श्याम वर्ण था, कमरमें सुवर्णकी करधनी तथा पीताम्बर सुशोभित थे। सिरपर सूर्यके समान देदीप्यमान मुकुट था, मुखकमल भौरोंके समान नीली अलकावली और कान्तिमय कुण्डलोंसे शोभायमान था, उनके सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित आठ भुजाएँ थीं, जो भक्तोंकी रक्षाके लिये सदा उद्यत रहती हैं। आठों भुजाओंमें वे शङ्ख, पद्म, चक्र, बाण, धनुष, गदा, खड्ग और ढाल लिये हुए थे तथा इन सब आयुधोंके कारण वे फूले हुए कनेरके वृक्षके समान जान पड़ते थे ॥ २० ॥ प्रभुके हृदयमें श्रीवत्सका चिह्न था और सुन्दर वनमाला सुशोभित थी। वे अपने उदार हास और लीलामय कटाक्षसे सारे संसारको आनन्दमग्न कर रहे थे। पार्षदगण दोनों ओर राजहंसके समान सफेद पंखे और चैवर डुला रहे थे। भगवान्के मस्तकपर चन्द्रमाके समान शुभ्र छत्र शोभा दे रहा था ॥ २१ ॥

भगवान् पधारे हैं—यह देखकर इन्द्र, ब्रह्मा और महादेवजी आदि देवेश्वरोंसहित समस्त देवता, गन्धर्व और ऋषि आदिने सहसा खड़े होकर उन्हें प्रणाम किया ॥ २२ ॥ उनके तेजसे सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी, जिह्वा लड़खड़ाने लगी, वे सब-के-सब सकपका गये और मस्तकपर अञ्जलि बाँधकर भगवान्के सामने खड़े हो गये ॥ २३ ॥ यद्यपि भगवान्की महिमातक ब्रह्मा आदिकी मति भी नहीं पहुँच पाती, तो भी भक्तोंपर कृपा करनेके लिये दिव्यरूपमें प्रकट हुए श्रीहरिकी वे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार स्तुति करने लगे ॥ २४ ॥ सबसे पहले प्रजापति दक्ष एक उत्तम पात्रमें पूजाकी सामग्री ले नन्द-सुनन्दादि पार्षदोंसे घिरे हुए, प्रजापतियोंके परम गुरु भगवान् यज्ञेश्वरके पास गये और अति आनन्दित हो विनीतभावसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करते प्रभुके शरणापन्न हुए ॥ २५ ॥

दक्ष उवाच

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्धयवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।
तिष्ठंस्तथैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्या-
मास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ॥ २६

ऋत्विज ऊचुः

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्
कर्मण्यवग्रहधियो^१ भगवन्विदामः ।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं
ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदोव्यवस्थाः ॥ २७

सदस्या ऊचुः

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-
व्यालान्विष्टे^२ विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभारः ।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः
पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः ॥ २८

रुद्र उवाच

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे^३
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये ।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण ॥ २९

भृगुरुवाच

यन्मायया गहनयापहतात्मबोधा
ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः ।
नात्मन्^४ श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं
सोऽयं प्रसीदतु भवान् प्रणतात्मबन्धुः ॥ ३०

ब्रह्मोवाच

नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-
भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत् ।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद् व्यतिरिक्तो यतस्त्वम् ॥ ३१

दक्षने कहा—भगवन् ! अपने स्वरूपमें आप बुद्धिकी जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंसे रहित, शुद्ध, चिन्मय, भेदरहित, अतएव निर्भय हैं। आप मायाका तिरस्कार करके स्वतन्त्ररूपसे विराजमान हैं; तथापि जब मायासे ही जीवभावको स्वीकारकर उसी मायामें स्थित हो जाते हैं, तब अज्ञानी-से दीखने लगते हैं ॥ २६ ॥

ऋत्विजोंने कहा—उपाधिरहित प्रभो ! भगवान् रुद्रके प्रधान अनुचर नन्दीश्वरके शापके कारण हमारी बुद्धि केवल कर्मकाण्डमें ही फँसी हुई है, अतएव हम आपके तत्त्वको नहीं जानते। जिसके लिये 'इस कर्मका यही देवता है' ऐसी व्यवस्था की गयी है—उस धर्मप्रवृत्तिके प्रयोजक, वेदत्रयीसे प्रतिपादित यज्ञको ही हम आपका स्वरूप समझते हैं ॥ २७ ॥

सदस्योंने कहा—जीवोंको आश्रय देनेवाले प्रभो ! जो अनेक प्रकारके क्लेशोंके कारण अत्यन्त दुर्गम है, जिसमें कालरूप भयङ्कर सर्प ताकमें बैठा हुआ है, द्वन्द्वरूप अनेकों गढ़े हैं, दुर्जनरूप जंगली जीवोंका भय है तथा शोकरूप दावानल धधक रहा है—ऐसे, विश्राम-स्थलसे रहित संसारमार्गमें जो अज्ञानी जीव कामनाओंसे पीड़ित होकर विषयरूप मृगतृष्णा-जलके लिये ही देह-गेहका भारी बोझा सिरपर लिये जा रहे हैं, वे भला आपके चरणकमलोंकी शरणमें कब आने लगे ॥ २८ ॥

रुद्रने कहा—वरदायक प्रभो ! आपके उत्तम चरण इस संसारमें सकाम पुरुषोंको सम्पूर्ण पुरुषार्थकी प्राप्ति करानेवाले हैं; और जिन्हें किसी भी वस्तुकी कामना नहीं है, वे निष्काम मुनिजन भी उनका आदरपूर्वक पूजन करते हैं। उनमें चित्त लगा रहनेके कारण यदि अज्ञानी लोग मुझे आचार भ्रष्ट कहते हैं, वे कहें, आपके परम अनुग्रहसे मैं उनके कहने-सुननेका कोई विचार नहीं करता ॥ २९ ॥

भृगुजीने कहा—आपकी गहन मायासे आत्मज्ञान लुप्त हो जानेके कारण जो अज्ञान-निद्रामें सोये हुए हैं, वे ब्रह्मादि देहधारी आत्मज्ञानमें उपयोगी आपके तत्त्वको अभी तक नहीं जान सके। ऐसे होनेपर भी आप अपने शरणागत भक्तोंके तो आत्मा और सुहृद् हैं; अतः आप मुझपर प्रसन्न होइये ॥ ३० ॥

ब्रह्माजीने कहा—प्रभो ! पृथक्-पृथक् पदार्थोंको जाननेवाली इन्द्रियोंके द्वारा पुरुष जो कुछ देखता है, वह आपका स्वरूप नहीं है; क्योंकि आप ज्ञान शब्दादि विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियोंके अधिष्ठान हैं—वे सब आपमें अध्यस्त हैं। अतएव आप इस मायामय प्रपञ्चसे सर्वथा अलग हैं ॥ ३१ ॥

इन्द्र उवाच

इदमप्यच्युत विश्वभावनं
वपुरानन्दकरं मनोदृशाम् ।
सुरविद्विदक्षपणैरुदायुधै-
र्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥ ३२

पत्न्य ऊचुः

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात् ।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं
यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि ॥ ३३

ऋषय ऊचुः

अनन्वितं ते भगवन् विचेष्टितं
यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे ।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान् ॥ ३४

सिद्धा ऊचुः

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां^१
मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।
तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं^२
न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥ ३५

यजमान्युवाच

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः
श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः ।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते
शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः ॥ ३६

लोकपाला ऊचुः

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ब्रह्मैस्त्वं
प्रत्यग्रष्टा दृश्यते येन दृश्यम् ।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन्
यस्त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः ॥ ३७

इन्द्रने कहा—अच्युत ! आपका यह जगत्को प्रकाशित करनेवाला रूप देवद्रोहियोंका संहार करनेवाली आठ भुजाओंसे सुशोभित है, जिनमें आप सदा ही नाना प्रकारके आयुध धारण किये रहते हैं । यह रूप हमारे मन और नेत्रोंको परम आनन्द देनेवाला है ॥ ३२ ॥

याज्ञिकोंकी पत्नियोंने कहा—भगवन् ! ब्रह्माजीने आपके पूजनके लिये ही इस यज्ञकी रचना की थी; परन्तु दक्षपर कुपित होनेके कारण इसे भगवान् पशुपतिने अब नष्ट कर दिया है । यज्ञमूर्ते ! श्मशानभूमिके समान उत्सवहीन हुए हमारे उस यज्ञको आप नील कमलकी-सी कान्तिवाले अपने नेत्रोंसे निहारकर पवित्र कीजिये ॥ ३३ ॥

ऋषियोंने कहा—भगवन् ! आपकी लीला बड़ी ही अनोखी है; क्योंकि आप कर्म करते हुए भी उनसे निर्लेप रहते हैं । दूसरे लोग वैभवकी भूखसे जिन लक्ष्मीजीकी उपासना करते हैं, वे स्वयं आपकी सेवामें लगी रहती हैं; तो भी आप उनका मान नहीं करते, उनसे निःस्पृह रहते हैं ॥ ३४ ॥

सिद्धोंने कहा—प्रभो ! यह हमारा मनरूप हाथी नाना प्रकारके क्लेशरूप दावानलसे दग्ध एवं अत्यन्त तृषित होकर आपकी कथारूप विशुद्ध अमृतमयी सरितामें घुसकर गोता लगाये बैठा है । वहाँ ब्रह्मानन्दमें लीन-सा हो जानेके कारण उसे न तो संसाररूप दावानलका ही स्मरण है और न वह उस नदीसे बाहर ही निकलता है ॥ ३५ ॥

यजमानपत्नीने कहा—सर्वसमर्थ परमेश्वर ! आपका स्वागत है । मैं आपको नमस्कार करती हूँ । आप मुझपर प्रसन्न होइये । लक्ष्मीपते ! अपनी प्रिया लक्ष्मीजीके सहित आप हमारी रक्षा कीजिये । यज्ञेश्वर ! जिस प्रकार सिरके बिना मनुष्यका धड़ अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार अन्य अङ्गोंसे पूर्ण होनेपर भी आपके बिना यज्ञकी शोभा नहीं होती ॥ ३६ ॥

लोकपालोंने कहा—अनन्त परमात्मन् ! आप समस्त अन्तःकरणोंके साक्षी हैं, यह सारा जगत् आपके ही द्वारा देखा जाता है । तो क्या मायिक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली हमारी इन नेत्र आदि इन्द्रियोंसे कभी आप प्रत्यक्ष हो सके हैं ? वस्तुतः आप हैं तो पञ्चभूतोंसे पृथक्; फिर भी पाञ्चभौतिक शरीरोंके साथ जो आपका सम्बन्ध प्रतीत होता है, यह आपकी माया ही है ॥ ३७ ॥

योगेश्वरा ऊचुः

प्रेयान्न तेऽन्योऽस्यमुतस्त्वयि प्रभो
विश्वात्मनीक्षेत्र पृथग्य आत्मनः ।
अथापि भक्त्येशतयोपधावता-
मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ॥ ३८

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥ ३९

ब्रह्मोवाच

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये ।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च ॥ ४०

अग्निरुवाच

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा
हव्यं वह्ने स्वध्वर आज्यसिक्तम् ।
तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः
स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम् ॥ ४१

देवा ऊचुः

पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने ।
पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ॥ ४२

गन्धर्वा ऊचुः

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्
तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥ ४३

योगेश्वरोंने कहा—प्रभो ! जो पुरुष सम्पूर्ण विश्वके आत्मा आपमें और अपनेमें कोई भेद नहीं देखता, उससे अधिक प्यारा आपको कोई नहीं है। तथापि भक्तवत्सल ! जो लोग आपमें स्वामिभाव रखकर अनन्य भक्तिसे आपकी सेवा करते हैं, उनपर भी आप कृपा कीजिये ॥ ३८ ॥ जीवोंके अदृष्टवश जिसके सत्त्वादि गुणोंमें बड़ी विभिन्नता आ जाती है, उस अपनी मायाके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये ब्रह्मादि विभिन्न रूप धारण करके आप भेदबुद्धि पैदा कर देते हैं; किन्तु अपनी स्वरूप-स्थितिसे आप उस भेदज्ञान और उसके कारण सत्त्वादि गुणोंसे सर्वथा दूर हैं। ऐसे आपको हमारा नमस्कार है ॥ ३९ ॥

ब्रह्मस्वरूप वेदने कहा—आप ही धर्मादिकी उत्पत्तिके लिये शुद्ध सत्त्वको स्वीकार करते हैं, साथ ही आप निर्गुण भी हैं। अतएव आपका तत्त्व न तो मैं जानता हूँ और न ब्रह्मादि कोई और ही जानते हैं; आपको नमस्कार है ॥ ४० ॥

अग्निदेवने कहा—भगवन् ! आपके ही तेजसे प्रज्वलित होकर मैं श्रेष्ठ यज्ञोंमें देवताओंके पास घृतमिश्रित हवि पहुँचाता हूँ। आप साक्षात् यज्ञपुरुष एवं यज्ञकी रक्षा करनेवाले हैं। अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और पशु-सोम—ये पाँच प्रकारके यज्ञ आपके ही स्वरूप हैं तथा 'आश्रावय', 'अस्तु श्रौषट्', 'यजे', 'ये यजामहे' और 'वषट्'—इन पाँच प्रकारके यजुर्मन्त्रोंसे आपका ही पूजन होता है। मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ४१ ॥

देवताओंने कहा—देव ! आप आदिपुरुष हैं। पूर्वकल्पका अन्त होनेपर अपने कार्यरूप इस प्रपञ्चको उदरमें लीनकर आपने ही प्रलयकालीन जलके भीतर शेषनागकी उत्तम शय्यापर शयन किया था। आपके आध्यात्मिक स्वरूपका जनलोकादिवासी सिद्धगण भी अपने हृदयमें चिन्तन करते हैं। अहो ! वही आप आज हमारे नेत्रोंके विषय होकर अपने भक्तोंकी रक्षा कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

गन्धर्वोंने कहा—देव ! मरीचि आदि ऋषि और ये ब्रह्मा, इन्द्र तथा रुद्रादि देवतागण आपके अंशके भी अंश हैं। महत्तम ! यह सम्पूर्ण विश्व आपके खेलकी सामग्री है। नाथ ! ऐसे आपको हम सर्वदा प्रणाम करते हैं ॥ ४३ ॥

विद्याधरा ऊचुः

त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्
कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः ।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद् व्युदस्येत् ॥ ४४

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिहर्भपात्राणि च ।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥ ४५

त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा ।
स्तूयमानो नदल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्षं त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥ ४६

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां
दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् ।
कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥ ४७

मैत्रेय^१ उवाच

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्रावमर्शितम् ।
कीर्त्यमाने हृषीकेशे संनिन्ये^२ यज्ञभावेन ॥ ४८

भगवान्स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक् ।
दक्षं वभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ ॥ ४९

श्रीभगवानुवाच^३

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥ ५०

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्ने संज्ञां क्रियोचिताम् ॥ ५१

विद्याधरोने कहा—प्रभो ! परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके साधनरूप इस मानवदेहको पाकर भी जीव आपकी मायासे मोहित होकर इसमें मैं-मेरेपनका अभिमान कर लेता है । फिर वह दुर्बुद्धि अपने आत्मीयोंसे तिरस्कृत होनेपर भी असत् विषयोंकी ही लालसा करता रहता है । किन्तु ऐसी अवस्थामें भी जो आपके कथामृतका सेवन करता है, वह इस अन्तःकरणके मोहको सर्वथा त्याग देता है ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—भगवन् ! आप ही यज्ञ हैं, आप ही हवि हैं, आप ही अग्नि हैं, स्वयं आप ही मन्त्र हैं; आप ही समिधा, कुशा और यज्ञपात्र हैं तथा आप ही सदस्य, ऋत्विज्, यजमान एवं उसकी धर्मपत्नी, देवता, अग्निहोत्र, स्वधा, सोमरस, घृत और पशु हैं ॥ ४५ ॥ वेदमूर्ते ! यज्ञ और उसका सङ्कल्प दोनों आप ही हैं । पूर्वकालमें आप ही अति विशाल वराहरूप धारणकर रसातलमें डूबी हुई पृथ्वीको लीलासे ही अपनी दाढ़ोंपर उठाकर इस प्रकार निकाल लाये थे, जैसे कोई गजराज कमलिनीको उठा लाये । उस समय आप धीरे-धीरे गरज रहे थे और योगिगण आपका यह अलौकिक पुरुषार्थ देखकर आपकी स्तुति करते जाते थे ॥ ४६ ॥ यज्ञेश्वर ! जब लोग आपके नामका कीर्तन करते हैं, तब यज्ञके सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं । हमारा यह यज्ञस्वरूप सत्कर्म नष्ट हो गया था, अतः हम आपके दर्शनोंकी इच्छा कर रहे थे । अब आप हमपर प्रसन्न होइये । आपको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भैया विदुर ! जब इस प्रकार सब लोग यज्ञरक्षक भगवान् हृषीकेशकी स्तुति करने लगे, तब परम चतुर दक्षने रुद्रपार्षद वीरभद्रके ध्वंस किये हुए यज्ञको फिर आरम्भ कर दिया ॥ ४८ ॥ सर्वान्तर्यामी श्रीहरि यों तो सभीके भागोंके भोक्ता हैं, तथापि त्रिकपाल-पुरोडाशरूप अपने भागसे और भी प्रसन्न होकर उन्होंने दक्षको सम्बोधन करके कहा ॥ ४९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—जगत्का परम कारण मैं ही ब्रह्मा और महादेव हूँ; मैं सबका आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूँ तथा स्वयम्प्रकाश और उपाधिशून्य हूँ ॥ ५० ॥ विप्रवर ! अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको स्वीकार करके मैं ही जगत्की रचना, पालन और संहार करता रहता हूँ और मैंने ही उन कर्मोंके अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर—ये नाम धारण किये हैं ॥ ५१ ॥

तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि ।
ब्रह्मरुद्रौ^१ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥ ५२

यथा पुमान् स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु^२ क्वचित् ।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥ ५३

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति ॥ ५४

मैत्रेय उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम् ।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत्^३ ॥ ५५

रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः ।
कर्मणोदवसानेन^४ सोमपानितरानपि ।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्त्राववभृथं ततः ॥ ५६

तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे ।
धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः ॥ ५७

एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम् ।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम ॥ ५८

तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका ।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम् ॥ ५९

एतद्भगवतः^५ शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः ।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः ॥ ६०

इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् ।
यो नित्यदाऽऽकर्ण्य^६ नरोऽनुकीर्तयेद्
धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः ॥ ६१

ऐसा जो भेदरहित विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप मैं हूँ, उसीमें अज्ञानी पुरुष ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य समस्त जीवोंको विभिन्न रूपसे देखता है ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार मनुष्य अपने सिर, हाथ आदि अङ्गोंमें 'ये मुझसे भिन्न हैं' ऐसी बुद्धि कभी नहीं करता, उसी प्रकार मेरा भक्त प्राणिमात्रको मुझसे भिन्न नहीं देखता ॥ ५३ ॥ ब्रह्मन् ! हम—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—तीनों स्वरूपतः एक ही हैं और हम ही सम्पूर्ण जीवरूप हैं; अतः जो हममें कुछ भी भेद नहीं देखता, वही शान्ति प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान्के इस प्रकार आज्ञा देनेपर प्रजापतियोंके नायक दक्षने उनका त्रिकपाल-यज्ञके द्वारा पूजन करके फिर अङ्गभूत और प्रधान दोनों प्रकारके यज्ञोंसे अन्य सब देवताओंका अर्चन किया ॥ ५५ ॥ फिर एकाग्रचित्त हो भगवान् शङ्करका यज्ञशेषरूप उनके भागसे यजन किया तथा समाप्तिमें किये जानेवाले उदवसान नामक कर्मसे अन्य सोमपायी एवं दूसरे देवताओंका यजन कर यज्ञका उपसंहार किया और अन्तमें ऋत्विजोंके सहित अवभृथ-स्नान किया ॥ ५६ ॥ फिर जिन्हें अपने पुरुषार्थसे ही सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त थीं, उन दक्षप्रजापतिको 'तुम्हारी सदा धर्ममें बुद्धि रहे' ऐसा आशीर्वाद देकर सब देवता स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५७ ॥

विदुरजी ! सुना है कि दक्षसुता सतीजीने इस प्रकार अपना पूर्वशरीर त्यागकर फिर हिमालयकी पत्नी मेनाके गर्भसे जन्म लिया था ॥ ५८ ॥ जिस प्रकार प्रलयकालमें लीन हुई शक्ति सृष्टिके आरम्भमें फिर ईश्वरका ही आश्रय लेती है, उसी प्रकार अनन्यपरायणा श्रीअम्बिकाजीने उस जन्ममें भी अपने एकमात्र आश्रय और प्रियतम भगवान् शङ्करको ही वरण किया ॥ ५९ ॥ विदुरजी ! दक्ष-यज्ञका विध्वंस करनेवाले भगवान् शिवका यह चरित्र मैंने बृहस्पतिजीके शिष्य परम भागवत उद्धवजीके मुखसे सुना था ॥ ६० ॥ कुरुनन्दन ! श्रीमहादेवजीका यह पावन चरित्र यश और आयुको बढ़ाने-वाला तथा पापपुञ्जको नष्ट करनेवाला है। जो पुरुष भक्तिभावसे इसका नित्यप्रति श्रवण और कीर्तन करता है, वह अपनी पापराशिका नाश कर देता है ॥ ६१ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे

दक्षयज्ञसंधानं^७ नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



अथाष्टमोऽध्यायः

ध्रुवका वन-गमन

मैत्रेय उवाच

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हसोऽरुणिर्यतिः ।
नैते गृहान् ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरितसः^१ ॥ १

मृषाधर्मस्य भार्याऽऽसीदम्भं मायां च शत्रुहन् ।
असूत मिथुनं तत्तु^२ निर्ऋतिर्जगृहेऽप्रजः ॥ २

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते ।
ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यदुरुक्तिः स्वसा कलिः ॥ ३

दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम ।
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा ॥ ४

संग्रहेण मयाऽऽख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ ।
त्रिःश्रुत्वैतत्पुमान् पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम् ॥ ५

अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरुद्वह ।
स्वायम्भुवस्यापि मनोहरिरंशांशजन्मनः ॥ ६

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ ।
वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥ ७

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥ ८

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्गमारोप्य लालयन् ।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥ ९

तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् ।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ॥ १०

न वत्स नृपतेर्धिष्यं भवानारोढुमर्हति ।
न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः ॥ ११

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—शत्रुसूदन विदुरजी ! सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और यति—ब्रह्माजीके इन नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्रोंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं किया (अतः उनके कोई सन्तान नहीं हुई) । अधर्म भी ब्रह्माजीका ही पुत्र था, उसकी पत्नीका नाम था मृषा । उसके दम्भ नामक पुत्र और माया नामकी कन्या हुई । उन दोनोंको निर्ऋति ले गया, क्योंकि उसके कोई सन्तान न थी ॥ १-२ ॥ दम्भ और मायासे लोभ और निकृति (शठता) का जन्म हुआ, उनसे क्रोध और हिंसा तथा उनसे कलि (कलह) और उसकी बहिन दुरुक्ति (गाली) उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥ साधुशिरोमणे ! फिर दुरुक्तिसे कलिने भय और मृत्युको उत्पन्न किया तथा उन दोनोंके संयोगसे यातना और निरय (नरक) का जोड़ा उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥ निष्पाप विदुरजी ! इस प्रकार मैंने संक्षेपसे तुम्हें प्रलयका कारणरूप यह अधर्मका वंश सुनाया । यह अधर्मका त्याग कराकर पुण्य-सम्पादनमें हेतु बनता है; अतएव इसका वर्णन तीन बार सुनकर मनुष्य अपने मनकी मलिनता दूर कर देता है ॥ ५ ॥ कुरुनन्दन ! अब मैं श्रीहरिके अंश (ब्रह्माजी) के अंशसे उत्पन्न हुए पवित्रकीर्ति महाराज स्वायम्भुव मनुके पुत्रोंके वंशका वर्णन करता हूँ ॥ ६ ॥

महारानी शतरूपा और उनके पति स्वायम्भुव मनुसे प्रियव्रत और उत्तानपाद—ये दो पुत्र हुए । भगवान् वासुदेवकी कलासे उत्पन्न होनेके कारण ये दोनों संसारकी रक्षामें तत्पर रहते थे ॥ ७ ॥ उत्तानपादके सुनीति और सुरुचि नामकी दो पत्नियाँ थीं । उनमें सुरुचि राजाको अधिक प्रिय थी; सुनीति, जिसका पुत्र ध्रुव था, उन्हें वैसी प्रिय नहीं थी ॥ ८ ॥

एक दिन राजा उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें बिठाकर प्यार कर रहे थे । उसी समय ध्रुवने भी गोदमें बैठना चाहा, परन्तु राजाने उसका स्वागत नहीं किया ॥ ९ ॥ उस समय घमण्डसे भरी हुई सुरुचिने अपनी सौतेले पुत्र ध्रुवको महाराजकी गोदमें आनेका यत्न करते देख उनके सामने ही उससे डाहभरे शब्दोंमें कहा ॥ १० ॥ 'बच्चे ! तू राजसिंहासनपर बैठनेका अधिकारी नहीं है । तू भी राजाका ही बेटा है, इससे क्या हुआ; तुझको मैंने तो अपनी कोखमें नहीं धारण किया ॥ ११ ॥

बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम्^१ ।
 नूनं वेद भवान् यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः ॥ १२
 तपसाऽऽराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे ।
 गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि^२ नृपासनम् ॥ १३

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिविद्धः
 श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाहिः ।
 हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं
 जगाम मातुः प्ररुदन् सकाशम् ॥ १४

तं निःश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं
 सुनीतिरुत्सङ्ग^३ उदूह्य बालम् ।
 निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं
 सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या ॥ १५

सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक-
 दावाग्निना दावलतेव बाला ।
 वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज-
 श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह ॥ १६

दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पार-
 मपश्यती बालकमाह बाला ।
 मामङ्गलं तात परेषु मंस्था
 भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत् ॥ १७

सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे
 यद् दुर्भगाया उदरे गृहीतः ।
 स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
 भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम् ॥ १८

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
 मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
 आराधयाधोक्षजपादपद्मं
 यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥ १९

तू अभी नादान है, तुझे पता नहीं है कि तूने किसी दूसरी स्त्रीके गर्भसे जन्म लिया है; तभी तो ऐसे दुर्लभ विषयकी इच्छा कर रहा है ॥ १२ ॥ यदि तुझे राजसिंहासनकी इच्छा है तो तपस्या करके परम पुरुष श्रीनारायणकी आराधना कर और उनकी कृपासे मेरे गर्भमें आकर जन्म ले ॥ १३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जिस प्रकार डंडेकी चोट खाकर साँप फुँफकार मारने लगता है, उसी प्रकार अपनी सौतेली माँके कठोर वचनोंसे घायल होकर ध्रुव क्रोधके मारे लंबी-लंबी साँस लेने लगा । उसके पिता चुपचाप यह सब देखते रहे, मुँहसे एक शब्द भी नहीं बोले । तब पिताको छोड़कर ध्रुव रोता हुआ अपनी माताके पास आया ॥ १४ ॥ उसके दोनों होठ फड़क रहे थे और वह सिसक-सिसककर रो रहा था । सुनीतिने बेटेको गोदमें उठा लिया और जब महलके दूसरे लोगोंसे अपनी सौत सुरुचिकी कही हुई बातें सुनी, तब उसे भी बड़ा दुःख हुआ ॥ १५ ॥ उसका धीरज टूट गया । वह दावानलसे जली हुई बेलके समान शोकसे सन्तप्त होकर मुरझा गयी तथा विलाप करने लगी । सौतकी बातें याद आनेसे उसके कमल-सरीखे नेत्रोंमें आँसू भर आये ॥ १६ ॥ उस बेचारीको अपने दुःखपारावारका कहीं अन्त ही नहीं दिखायी देता था । उसने गहरी साँस लेकर ध्रुवसे कहा, 'बेटा ! तू दूसरोंके लिये किसी प्रकारके अमङ्गलकी कामना मत कर । जो मनुष्य दूसरोंको दुःख देता है, उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है ॥ १७ ॥ सुरुचिने जो कुछ कहा है, ठीक ही है; क्योंकि महाराजको मुझे 'पत्नी' तो क्या, 'दासी' स्वीकार करनेमें भी लज्जा आती है । तूने मुझ मन्दभागिनीके गर्भसे ही जन्म लिया है और मेरे ही दूधसे तू पला है ॥ १८ ॥ बेटा ! सुरुचिने तेरी सौतेली माँ होनेपर भी बात बिलकुल ठीक कही है; अतः यदि राजकुमार उत्तमके समान राजसिंहासनपर बैठना चाहता है तो द्वेषभाव छोड़कर उसीका पालन कर । बस, श्रीअधोक्षजभगवान्के चरणकमलोंकी आराधनामें लग जा ॥ १९ ॥

यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-
विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं
पदं जितात्मश्चसनाभिवन्द्यम् ॥ २०

तथा मनुर्वो भगवान् पितामहो
यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः ।
इष्टाभिपेदे दुरवापमन्यतो
भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम् ॥ २१

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥ २२

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतैरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥ २३

मैत्रेय^१ उवाच

एवं संजल्पितं^२ मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः ।
संनियम्यात्मनाऽऽत्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात् ॥ २४

नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्रेण पाणिना प्राह विस्मितः ॥ २५

अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम् ।
बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः ॥ २६

नारद उवाच

नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक ।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु ॥ २७

विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसंतोषहेतवः ।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः ॥ २८

संसारका पालन करनेके लिये सत्त्वगुणको अङ्गीकार करनेवाले उन श्रीहरिके चरणोंकी आराधना करनेसे ही तेरे परदादा श्रीब्रह्माजीको वह सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है, जो मन और प्राणोंको जीतनेवाले मुनियोंके द्वारा भी वन्दनीय है ॥ २० ॥ इसी प्रकार तेरे दादा स्वायम्भुव मनुने भी बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंके द्वारा अनन्यभावसे उन्हीं भगवान्की आराधना की थी; तभी उन्हें दूसरोंके लिये अति दुर्लभ लौकिक, अलौकिक तथा मोक्षसुखकी प्राप्ति हुई ॥ २१ ॥ 'बेटा ! तू भी उन भक्तवत्सल श्रीभगवान्का ही आश्रय ले । जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुलोग निरन्तर उन्हींके चरणकमलोंके मार्गकी खोज किया करते हैं । तू स्वधर्मपालनसे पवित्र हुए अपने चित्तमें श्रीपुरुषोत्तमभगवान्को बैठा ले तथा अन्य सबका चिन्तन छोड़कर केवल उन्हींका भजन कर ॥ २२ ॥ बेटा ! उन कमल-दल-लोचन श्रीहरिको छोड़कर मुझे तो तेरे दुःखको दूर करनेवाला और कोई दिखायी नहीं देता । देख, जिन्हें प्रसन्न करनेके लिये ब्रह्मा आदि अन्य सब देवता ढूँढ़ते रहते हैं, वे श्रीलक्ष्मीजी भी दीपककी भाँति हाथमें कमल लिये निरन्तर उन्हीं श्रीहरिकी खोज किया करती हैं' ॥ २३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—माता सुनीतिने जो वचन कहे, वे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिका मार्ग दिखलानेवाले थे । अतः उन्हें सुनकर ध्रुवने बुद्धिद्वारा अपने चित्तका समाधान किया । इसके बाद वे पिताके नगरसे निकल पड़े ॥ २४ ॥ यह सब समाचार सुनकर और ध्रुव क्या करना चाहता है, इस बातको जानकर नारदजी वहाँ आये । उन्होंने ध्रुवके मस्तकपर अपना पापनाशक कर-कमल फेरते हुए मन-ही-मन विस्मित होकर कहा ॥ २५ ॥ 'अहो ! क्षत्रियोंका कैसा अद्भुत तेज है, वे थोड़ा-सा भी मान-भङ्ग नहीं सह सकते । देखो, अभी तो यह नन्हा-सा बच्चा है; तो भी इसके हृदयमें सौतेली माताके कटु वचन घर कर गये हैं' ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् नारदजीने ध्रुवसे कहा—बेटा ! अभी तो तू बच्चा है, खेल-कूदमें ही मस्त रहता है; हम नहीं समझते कि इस उम्रमें किसी बातसे तेरा सम्मान या अपमान हो सकता है ॥ २७ ॥ यदि तुझे मानापमानका विचार ही हो, तो बेटा ! असलमें मनुष्यके असन्तोषका कारण मोहके सिवा और कुछ नहीं है । संसारमें मनुष्य अपने कर्मानुसार ही मान-अपमान या सुख-दुःख आदिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः ।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः ॥ २९

अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि ।
यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम ॥ ३०

मुनयः पदवीं यस्य निःसङ्गेनोरुजन्मभिः ।
न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना ॥ ३१

अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः ।
यतिष्यति भवान् काले श्रेयसां समुपस्थिते ॥ ३२

यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः ।
आत्मानं तोषयन्देही तमसः पारमृच्छति ॥ ३३

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥ ३४

ध्रुव उवाच

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम् ।
दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः ॥ ३५

अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्रं घोरमुपेयुषः ।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥ ३६

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे ।
ब्रूह्मस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥ ३७

नूनं भवान् भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः ।
वितुदन्नटते वीणां हितार्थं^१ जगतोऽर्कवत् ॥ ३८

मैत्रेय^२ उवाच

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान् नारदास्तदा ।
प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥ ३९

तात ! भगवान्की गति बड़ी विचित्र है ! इसलिये उसपर विचार करके बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि दैववश उसे जैसी भी परिस्थितिका सामना करना पड़े, उसीमें सन्तुष्ट रहे ॥ २९ ॥ अब, माताके उपदेशसे तू योगसाधनद्वारा जिन भगवान्की कृपा प्राप्त करने चला है—मेरे विचारसे साधारण पुरुषोंके लिये उन्हें प्रसन्न करना बहुत ही कठिन है ॥ ३० ॥ योगीलोग अनेकों जन्मोंतक अनासक्त रहकर समाधियोगके द्वारा बड़ी-बड़ी कठोर साधनाएँ करते रहते हैं, परन्तु भगवान्के मार्गका पता नहीं पाते ॥ ३१ ॥ इसलिये तू यह व्यर्थका हठ छोड़ दे और घर लौट जा; बड़ा होनेपर जब परमार्थ-साधनका समय आवे, तब उसके लिये प्रयत्न कर लेना ॥ ३२ ॥ विधाताके विधानके अनुसार सुख-दुःख जो कुछ भी प्राप्त हो, उसीमें चित्तको सन्तुष्ट रखना चाहिये । यो करनेवाला पुरुष मोहमय संसारसे पार हो जाता है ॥ ३३ ॥ मनुष्यको चाहिये कि अपनेसे अधिक गुणवान्को देखकर प्रसन्न हो; जो कम गुणवाला हो, उसपर दया करे और जो अपने समान गुणवाला हो, उससे मित्रताका भाव रखे । यो करनेसे उसे दुःख कभी नहीं दबा सकते ॥ ३४ ॥

ध्रुवने कहा—भगवन् ! सुख-दुःखसे जिनका चित्त चञ्चल हो जाता है, उन लोगोंके लिये आपने कृपा करके शान्तिका यह बहुत अच्छा उपाय बतलाया । परन्तु मुझ-जैसे अज्ञानियोंकी दृष्टि यहाँतक नहीं पहुँच पाती ॥ ३५ ॥ इसके सिवा, मुझे घोर क्षत्रियस्वभाव प्राप्त हुआ है, अतएव मुझमें विनयका प्रायः अभाव है; सुरुचिने अपने कटुवचनरूपी बाणोंसे मेरे हृदयको विदीर्ण कर डाला है; इसलिये उसमें आपका यह उपदेश नहीं ठहर पाता ॥ ३६ ॥ ब्रह्मन् ! मैं उस पदपर अधिकार करना चाहता हूँ, जो त्रिलोकीमें सबसे श्रेष्ठ है तथा जिसपर मेरे बाप-दादे और दूसरे कोई भी आरुढ़ नहीं हो सके हैं । आप मुझे उसीकी प्राप्ति का कोई अच्छा-सा मार्ग बतलाइये ॥ ३७ ॥ आप भगवान् ब्रह्माजीके पुत्र हैं और संसारके कल्याणके लिये ही वीणा बजाते सूर्यकी भाँति त्रिलोकीमें विचरा करते हैं ॥ ३८ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—ध्रुवकी बात सुनकर भगवान् नारदजी बड़े प्रसन्न हुए और उसपर कृपा करके इस प्रकार सदुपदेश देने लगे ॥ ३९ ॥

नारद उवाच

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते ।
भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥ ४०

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥ ४१

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि ।
पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः ॥ ४२

स्नात्वानुसवनं तस्मिन् कालिन्ध्याः सलिले शिवे ।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः ॥ ४३

प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ॥ ४४

प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम्^१ ।
सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम् ॥ ४५

तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम् ।
प्रणताश्रयणं नृप्यं शरण्यं करुणार्णवम् ॥ ४६

श्रीवत्साङ्गं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ४७

किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम् ।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम् ॥ ४८

काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ ४९

पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्^२ ।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ठयमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम् ॥ ५०

स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥ ५१

श्रीनारदजीने कहा—बेटा ! तेरी माता सुनीतिने तुझे जो कुछ बताया है, वही तेरे लिये परम कल्याणका मार्ग है। भगवान् वासुदेव ही वह उपाय है, इसलिये तू चित्त लगाकर उन्हींका भजन कर ॥ ४० ॥ जिस पुरुषको अपने लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थकी अभिलाषा हो, उसके लिये उनकी प्राप्तिका उपाय एकमात्र श्रीहरिके चरणोंका सेवन ही है ॥ ४१ ॥ बेटा ! तेरा कल्याण होगा, अब तू श्रीयमुनाजीके तटवर्ती परम पवित्र मधुवनको जा। वहाँ श्रीहरिका नित्य-निवास है ॥ ४२ ॥ वहाँ श्रीकालिन्दीके निर्मल जलमें तीनों समय स्नान करके नित्यकर्मसे निवृत्त हो यथाविधि आसन बिछाकर स्थिरभावसे बैठना ॥ ४३ ॥ फिर रेचक, पूरक और कुम्भक—तीन प्रकारके प्राणायामसे धीरे-धीरे प्राण, मन और इन्द्रियके दोषोंको दूरकर धैर्ययुक्त मनसे परमगुरु श्रीभगवान्का इस प्रकार ध्यान करना ॥ ४४ ॥

भगवान्के नेत्र और मुख निरन्तर प्रसन्न रहते हैं; उन्हें देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि वे प्रसन्नतापूर्वक भक्तको वर देनेके लिये उद्यत हैं। उनकी नासिका, भौंहें और कपोल बड़े ही सुहावने हैं; वे सभी देवताओंमें परम सुन्दर हैं ॥ ४५ ॥ उनकी तरुण अवस्था है; सभी अङ्ग बड़े सुडौल हैं; लाल-लाल होठ और रतनारे नेत्र हैं। वे प्रणतजनोंको आश्रय देनेवाले, अपार सुखदायक, शरणागतवत्सल और दयाके समुद्र हैं ॥ ४६ ॥ उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है; उनका शरीर सजल जलधरके समान श्यामवर्ण है; वे परम पुरुष श्यामसुन्दर गलेमें वनमाला धारण किये हुए हैं और उनकी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म सुशोभित हैं ॥ ४७ ॥ उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग किरीट, कुण्डल, केयूर और कङ्कणादि आभूषणोंसे विभूषित हैं; गला कौस्तुभमणिकी भी शोभा बढ़ा रहा है तथा शरीरमें रेशमी पीताम्बर है ॥ ४८ ॥ उनके कटिप्रदेशमें काञ्चनकी करधनी और चरणोंमें सुवर्णमय नूपुर (पैजनी) सुशोभित हैं। भगवान्का स्वरूप बड़ा ही दर्शनीय, शान्त तथा मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है ॥ ४९ ॥ जो लोग प्रभुका मानस-पूजन करते हैं, उनके अन्तःकरणमें वे हृदयकमलकी कर्णिकापर अपने नख-मणिमण्डित मनोहर पादारविन्दोंको स्थापित करके विराजते हैं ॥ ५० ॥ इस प्रकार धारणा करते-करते जब चित्त स्थिर और एकाग्र हो जाय, तब उन वरदायक प्रभुका मन-ही-मन इस प्रकार ध्यान करे कि वे मेरी ओर अनुरागभरी दृष्टिसे निहारते हुए मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं ॥ ५१ ॥

एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥ ५२
जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज ।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ॥ ५३

“ॐ नमो भगवते वासुदेवाय” ।
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद् द्रव्यमयीं बुधः ।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित् ॥ ५४

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः ।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चैस्तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥ ५५

लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्बादिषु वार्चयेत् ।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक् ॥ ५६

स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।
करिष्यत्युत्तमश्लोकस्तद्ध्यायेद्धृदयङ्गमम्^१ ॥ ५७

परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः ।
ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुज्यान्मन्त्रमूर्तये ॥ ५८

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम् ।
परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्यया ॥ ५९

पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धनः ।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम् ॥ ६०

विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा ।
तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये ॥ ६१

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्धकः ।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्वरणचर्चितम् ॥ ६२

तपोवनं गते तस्मिन्नाविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः ।
अर्हितार्हणको^२ राजा सुखासीन उवाच तम् ॥ ६३

भगवान्की मङ्गलमयी मूर्तिका इस प्रकार निरन्तर ध्यान करनेसे मन शीघ्र ही परमानन्दमें डूबकर तल्लीन हो जाता है और फिर वहाँसे लौटता नहीं ॥ ५२ ॥

राजकुमार ! इस ध्यानके साथ जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना चाहिये, वह भी बतलाता हूँ—सुन । इसका सात रात जप करनेसे मनुष्य आकाशमें विचरनेवाले सिद्धोंका दर्शन कर सकता है ॥ ५३ ॥ वह मन्त्र है—‘ॐ नमो भगवते वासुदेवाय’ । किस देश और किस कालमें कौन वस्तु उपयोगी है—इसका विचार करके बुद्धिमान् पुरुषको इस मन्त्रके द्वारा तरह-तरहकी सामग्रियोंसे भगवान्की द्रव्यमयी पूजा करनी चाहिये ॥ ५४ ॥ प्रभुका पूजन विशुद्ध जल, पुष्पमाला, जंगली मूल और फलादि, पूजामें विहित दूर्वादि अङ्कुर, वनमें ही प्राप्त होनेवाले वल्कल वस्त्र और उनकी प्रेयसी तुलसीसे करना चाहिये ॥ ५५ ॥ यदि शिला आदिकी मूर्ति मिल सके तो उसमें, नहीं तो पृथ्वी या जल आदिमें ही भगवान्की पूजा करे । सर्वदा संयतचित्त, मननशील, शान्त और मौन रहे तथा जंगली फल-मूलादिका परिमित आहार करे ॥ ५६ ॥ इसके सिवा पुण्यकीर्ति श्रीहरि अपनो अनिर्वचनीया मायाके द्वारा अपनी ही इच्छासे अवतार लेकर जो-जो मनोहर चरित्र करनेवाले हैं, उनका मन-ही-मन चिन्तन करता रहे ॥ ५७ ॥ प्रभुकी पूजाके लिये जिन-जिन उपचारोंका विधान किया गया है, उन्हें मन्त्रमूर्ति श्रीहरिको द्वादशाक्षर मन्त्रके द्वारा ही अर्पण करे ॥ ५८ ॥

इस प्रकार जब हृदयस्थित हरिका मन, वाणी और शरीरसे भक्तिपूर्वक पूजन किया जाता है, तब वे निश्छलभावसे भलीभाँति भजन करनेवाले अपने भक्तोंके भावको बढ़ा देते हैं और उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षरूप कल्याण प्रदान करते हैं ॥ ५९-६० ॥ यदि उपासकको इन्द्रियसम्बन्धी भोगोंसे वैराग्य हो गया हो, तो वह मोक्षप्राप्तिके लिये अत्यन्त भक्तिपूर्वक अविच्छिन्नभावसे भगवान्का भजन करे ॥ ६१ ॥

श्रीनारदजीसे इस प्रकार उपदेश पाकर राजकुमार ध्रुवने परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया । तदनन्तर उन्होंने भगवान्के चरणचिह्नोंसे अङ्कित परम पवित्र मधुवनकी यात्रा की ॥ ६२ ॥ ध्रुवके तपोवनकी ओर चले जानेपर नारदजी महाराज उत्तानपादके महलमें पहुँचे । राजाने उनकी यथायोग्य उपचारोंसे पूजा की; तब उन्होंने आरामसे आसनपर बैठकर राजासे पूछा ॥ ६३ ॥

नारद उवाच

राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता ।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥ ६४

राजोवाच

सुतो मे बालको ब्रह्मन् स्त्रैणेनाकरुणात्मना ।
निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान्कविः ॥ ६५

अप्यनाथं वने ब्रह्मन्मास्मादन्यर्भकं^१ वृकाः ।
श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम् ॥ ६६

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय ।
योऽङ्गं प्रेम्णाऽऽरुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः ॥ ६७

नारद उवाच

मा^२ मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्यते ।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृद्धे यद्यशो जगत् ॥ ६८

सुदुष्करं^३ कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः ।
ऐष्यत्यचिरतो राजन् यशो विपुलयंस्तव ॥ ६९

मैत्रेय^४ उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः ।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥ ७०

तत्राभिषिक्तः प्रबतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
समाहितः पर्यचरदृष्ट्यादेशेन पूरुषम् ॥ ७१

त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः ।
आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन्हरिम् ॥ ७२

द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने ।
तृणपर्णादिभिः^५ शीर्णैः कृतात्रोऽभ्यर्चयद्विभुम् ॥ ७३

श्रीनारदजीने कहा—राजन् ! तुम्हारा मुख सूखा हुआ है, तुम बड़ी देरसे किस सोच-विचारमें पड़े हो ? तुम्हारे धर्म, अर्थ और काममेंसे किसीमें कोई कमी तो नहीं आ गयी ? ॥ ६४ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैं बड़ा ही स्त्रैण और निर्दय हूँ। हाय, मैंने अपने पाँच वर्षके नन्हेसे बच्चेको उसकी माताके साथ घरसे निकाल दिया। मुनिवर ! वह बड़ा ही बुद्धिमान् था ॥ ६५ ॥ उसका कमल-सा मुख भूखसे कुम्हला गया होगा, वह थककर कहीं रास्तेमें पड़ गया होगा। ब्रह्मन् ! उस असहाय बच्चेको वनमें कहीं भेड़िये न खा जायँ ॥ ६६ ॥ अहो ! मैं कैसा स्त्रीका गुलाम हूँ ! मेरी कुटिलता तो देखिये—वह बालक प्रेमवश मेरी गोदमें चढ़ना चाहता था, किन्तु मुझ दुष्टने उसका तनिक भी आदर नहीं किया ॥ ६७ ॥

श्रीनारदजीने कहा—राजन् ! तुम अपने बालककी चिन्ता मत करो। उसके रक्षक भगवान् हैं। तुम्हें उसके प्रभावका पता नहीं है, उसका यश सारे जगत्में फैल रहा है ॥ ६८ ॥ वह बालक बड़ा समर्थ है। जिस कामको बड़े-बड़े लोकपाल भी नहीं कर सके, उसे पूरा करके वह शीघ्र ही तुम्हारे पास लौट आयेगा। उसके कारण तुम्हारा यश भी बहुत बढ़ेगा ॥ ६९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—देवर्षि नारदजीकी बात सुनकर महाराज उत्तानपाद राजपाटकी ओरसे उदासीन होकर निरन्तर पुत्रकी ही चिन्तामें रहने लगे ॥ ७० ॥ इधर ध्रुवजीने मधुवनमें पहुँचकर यमुनाजीमें स्नान किया और उस रात पवित्रतापूर्वक उपवास करके श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकाग्रचित्तसे परमपुरुष श्रीनारायणकी उपासना आरम्भ कर दी ॥ ७१ ॥ उन्होंने तीन-तीन रात्रिके अन्तरसे शरीरनिर्वाहके लिये केवल कैथ और बेरके फल खाकर श्रीहरिकी उपासना करते हुए एक मास व्यतीत किया ॥ ७२ ॥ दूसरे महीनेमें उन्होंने छः-छः दिनके पीछे सूखे घास और पत्ते खाकर भगवान्का भजन किया ॥ ७३ ॥

तृतीयं चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि ।
 अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना ॥ ७४
 चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि ।
 वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन्देवमधारयत् ॥ ७५
 पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः ।
 ध्यायन् ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः ॥ ७६
 सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
 ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ॥ ७७
 आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम् ।
 ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥ ७८
 यदैकपादेन स पार्थिवार्भक-
 स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही ।
 ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता
 तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥ ७९
 तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
 द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया ।
 लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
 सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥ ८०

देवा ऊचुः

नैवं विदामो भगवन् प्राणरोधं
 चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
 विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
 प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम् ॥ ८१

श्रीभगवानुवाच^१

मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
 त्रिवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम ।
 यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
 दौत्तानपादिर्मयि संगतात्मा ॥ ८२

तीसरा महीना नौ-नौ दिनपर केवल जल पीकर समाधियोगके द्वारा श्रीहरिकी आराधना करते हुए बिताया ॥ ७४ ॥ चौथे महीनेमें उन्होंने श्वासको जीतकर बारह-बारह दिनके बाद केवल वायु पीकर ध्यानयोगद्वारा भगवान्की आराधना की ॥ ७५ ॥ पाँचवाँ मास लगानेपर राजकुमार ध्रुव श्वासको जीतकर परब्रह्मका चिन्तन करते हुए एक पैरसे खंभेके समान निश्चल भावसे खड़े हो गये ॥ ७६ ॥ उस समय उन्होंने शब्दादि विषय और इन्द्रियोंके नियामक अपने मनको सब ओरसे खींच लिया तथा हृदयस्थित हरिके स्वरूपका चिन्तन करते हुए चित्तको किसी दूसरी ओर न जाने दिया ॥ ७७ ॥ जिस समय उन्होंने महदादि सम्पूर्ण तत्त्वोंके आधार तथा प्रकृति और पुरुषके भी अधीश्वर परब्रह्मकी धारणा की, उस समय (उनके तेजको न सह सकनेके कारण) तीनों लोक काँप उठे ॥ ७८ ॥ जब राजकुमार ध्रुव एक पैरसे खड़े हुए, तब उनके अँगूठेसे दबकर आधी पृथ्वी इस प्रकार झुक गयी, जैसे किसी गजराजके चढ़ जानेपर नाव पद-पदपर दायीं-बायीं ओर डगमगाने लगती है ॥ ७९ ॥ ध्रुवजी अपने इन्द्रियद्वार तथा प्राणोंको रोककर अनन्यबुद्धिसे विश्वात्मा श्रीहरिका ध्यान करने लगे । इस प्रकार उनकी समष्टि प्राणसे अभिन्नता हो जानेके कारण सभी जीवोंका श्वासप्रश्वास रुक गया । इससे समस्त लोक और लोकपालोंको बड़ी पीड़ा हुई और वे सब घबराकर श्रीहरिकी शरणमें गये ॥ ८० ॥

देवताओंने कहा—भगवन् ! समस्त स्थावर-जङ्गम जीवोंके शरीरोंका प्राण एक साथ ही रुक गया है ऐसा तो हमने पहले कभी अनुभव नहीं किया । आप शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले हैं, अपनी शरणमें आये हुए हमलोगोंको इस दुःखसे छुड़ाइये ॥ ८१ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—देवताओ ! तुम डरो मत । उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने अपने चित्तको मुझ विश्वात्मामें लीन कर दिया है, इस समय मेरे साथ उसकी अभेदधारणा सिद्ध हो गयी है, इसीसे उसके प्राणनिरोधसे तुम सबका प्राण भी रुक गया है । अब तुम अपने-अपने लोकोंको जाओ, मैं उस बालकको इस दुष्कर तपसे निवृत्त कर दूँगा ॥ ८२ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
 चतुर्थस्कन्धे ध्रुवचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥



अथ नवमोऽध्यायः

ध्रुवका वर पाकर घर लौटना

मैत्रेय उवाच

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम् ।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥ १

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥ २

तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत् ।
दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्धक-
श्रुम्बन्निवास्येन भुजैरिवारिलषन् ॥ ३

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः ।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले ॥ ४

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः ।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः १ ॥ ५

ध्रुव उवाच

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ ६

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! भगवान्‌के इस प्रकार आश्वासन देनेसे देवताओंका भय जाता रहा और वे उन्हें प्रणाम करके स्वर्गलोकको चले गये। तदनन्तर विराट्‌स्वरूप भगवान्‌ गरुड़पर चढ़कर अपने भक्तको देखनेके लिये मधुवनमें आये ॥ १ ॥ उस समय ध्रुवजी तीव्र योगाभ्याससे एकाग्र हुई बुद्धिके द्वारा भगवान्‌की विजलीके समान देदीप्यमान जिस मूर्तिका अपने हृदयकमलमें ध्यान कर रहे थे, वह सहसा विलीन हो गयी। इससे घबराकर उन्होंने ज्यों ही नेत्र खोले कि भगवान्‌के उसी रूपको बाहर अपने सामने खड़ा देखा ॥ २ ॥ प्रभुका दर्शन पाकर बालक ध्रुवको बड़ा कुतूहल हुआ, वे प्रेममें अधीर हो गये। उन्होंने पृथ्वीपर दण्डके समान लोटकर उन्हें प्रणाम किया। फिर वे इस प्रकार प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देखने लगे मानो नेत्रोंसे उन्हें पी जायेंगे, मुखसे चूम लेंगे और भुजाओंमें कस लेंगे ॥ ३ ॥ वे हाथ जोड़े प्रभुके सामने खड़े थे और उनकी स्तुति करना चाहते थे, परन्तु किस प्रकार करें यह नहीं जानते थे। सर्वान्तर्यामी हरि उनके मनकी बात जान गये; उन्होंने कृपापूर्वक अपने वेदमय शङ्खको उनके गालसे छुआ दिया ॥ ४ ॥ ध्रुवजी भविष्यमें अविचल पद प्राप्त करनेवाले थे। इस समय शङ्खका स्पर्श होते ही उन्हें वेदमयी दिव्यवाणी प्राप्त हो गयी और जीव तथा ब्रह्मके स्वरूपका भी निश्चय हो गया। वे अत्यन्त भक्तिभावसे धैर्यपूर्वक विश्वविख्यात कीर्तिमान् श्रीहरिकी स्तुति करने लगे ॥ ५ ॥

ध्रुवजीने कहा—प्रभो! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं; आप ही मेरे अन्तःकरणमें प्रवेशकर अपने तेजसे मेरी इस सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतनता देते हैं। मैं आप अन्तर्यामी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥ भगवन्! आप एक ही हैं, परन्तु अपनी अनन्त गुणमयी मायाशक्तिसे इस महदादि सम्पूर्ण प्रपञ्चको रचकर अन्तर्यामीरूपसे उसमें प्रवेश कर जाते हैं और फिर इसके इन्द्रियादि असत्‌ गुणोंमें उनके

सुध्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥ ७

त्वद्वत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥ ८

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि^१ नृणाम् ॥ ९

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवजनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥ १०

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्बणामुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥ ११

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥ १२

तिर्यङ्मनसोऽसृपदेवदैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।
रूपं स्थविष्ठमज^२ ते महदाद्यनेकं
नातः परं परम वेद्यं न यत्र वादः ॥ १३

अधिष्ठातृ-देवताओंके रूपमें स्थित होकर अनेकरूप भासते हैं—ठीक वैसे ही जैसे तरह-तरहकी लकड़ियोंमें प्रकट हुई आग अपनी उपाधियोंके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें भासती है ॥ ७ ॥ नाथ ! सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माजीने भी आपकी शरण लेकर आपके दिये हुए ज्ञानके प्रभावसे ही इस जगत्को सोकर उठे हुए पुरुषके समान देखा था । दीनबन्धो ! उन्हीं आपके चरणतलका मुक्त पुरुष भी आश्रय लेते हैं, कोई भी कृतज्ञ पुरुष उन्हें कैसे भूल सकता है ? ॥ ८ ॥ प्रभो ! इन शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला, इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे उत्पन्न सुख तो मनुष्योंको नरकमें भी मिल सकता है । जो लोग इस विषयसुखके लिये लालायित रहते हैं और जो जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा देनेवाले कल्पतरुस्वरूप आपकी उपासना भगवत्-प्राप्तिके सिवा किसी अन्य उद्देश्यसे करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी मायाके द्वारा ठगी गयी है ॥ ९ ॥ नाथ ! आपके चरणकमलोंका ध्यान करनेसे और आपके भक्तोंके पवित्र चरित्र सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिल सकता । फिर जिन्हें कालकी तलवार काटे डालती है उन स्वर्गीय विमानोंसे गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है ॥ १० ॥

अनन्त परमात्मन् ! मुझे तो आप उन विशुद्धहृदय महात्मा भक्तोंका सङ्ग दीजिये, जिनका आपमें अविच्छिन्न भक्तिभाव है; उनके सङ्गमें मैं आपके गुणों और लीलाओंकी कथा-सुधाको पी-पीकर उन्मत्त हो जाऊँगा और सहज ही इस अनेक प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण भयङ्कर संसारसागरके उस पार पहुँच जाऊँगा ॥ ११ ॥ कमलनाभ प्रभो ! जिनका चित्त आपके चरणकमलकी सुगन्धमें लुभाया हुआ है, उन महानुभावोंका जो लोग सङ्ग करते हैं—वे अपने इस अत्यन्त प्रिय शरीर और इसके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, गृह और स्त्री आदिकी सुधि भी नहीं करते ॥ १२ ॥ अजन्मा परमेश्वर ! मैं तो पशु, वृक्ष, पर्वत, पक्षी, सरीसृप (सर्पादि रेंगनेवाले जन्तु), देवता, दैत्य और मनुष्य आदिसे परिपूर्ण तथा महदादि अनेकों कारणोंसे सम्पादित आपके इस सदसदात्मक स्थूल विश्वरूपको ही जानता हूँ; इससे परे जो आपका परम स्वरूप है, जिसमें वाणीकी गति नहीं है, उसका मुझे पता नहीं है ॥ १३ ॥

कल्पान्त^१ एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
 शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदङ्गे ।
 यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
 गर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥ १४

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
 कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।
 यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
 दृष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्ते ॥ १५

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
 विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
 तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
 मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥ १६

सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
 माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
 अप्येवमर्य^२ भगवान् परिपाति दीनान्
 वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥ १७

मैत्रेय उवाच

अथाभिष्टुत एवं वै सत्संकल्पेन धीमता ।
 भृत्यानुरक्तो भगवान् प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १८

श्रीभगवानुवाच

वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक ।
 तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत ॥ १९

नान्यैरधिष्ठितं भद्रं^३ यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति^४ ।
 यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम् ॥ २०

मेढ्रां गोचक्रवत्स्थास्तु परस्तात्कल्पवासिनाम् ।
 धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः ।
 चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः ॥ २१

भगवन् ! कल्पका अन्त होनेपर योगनिद्रामें स्थित जो परमपुरुष इस सम्पूर्ण विश्वको अपने उदरमें लीन करके शेषजीके साथ उन्हींकी गोदमें शयन करते हैं तथा जिनके नाभि-समुद्रसे प्रकट हुए सर्वलोकमय सुवर्णवर्ण कमलसे परम तेजोमय ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, वे भगवान् आप ही हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ १४ ॥

प्रभो ! आप अपनी अखण्ड चिन्मयी दृष्टिसे बुद्धिकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हैं तथा नित्यमुक्त शुद्धसत्त्वमय, सर्वज्ञ, परमात्मस्वरूप, निर्विकार, आदिपुरुष, षडैश्वर्य-सम्पन्न एवं तीनों गुणोंके अधीश्वर हैं। आप जीवसे सर्वथा भिन्न हैं तथा संसारकी स्थितिके लिये यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरूपसे विराजमान हैं ॥ १५ ॥ आपसे ही विद्या-अविद्या आदि विरुद्ध गतियोंवाली अनेकों शक्तियाँ धारावाहिक रूपसे निरन्तर प्रकट होती रहती हैं। आप जगत्के कारण, अखण्ड, अनादि, अनन्त, आनन्दमय निर्विकार ब्रह्मस्वरूप हैं। मैं आपकी शरण हूँ ॥ १६ ॥ भगवन् ! आप परमानन्दमूर्ति हैं—जो लोग ऐसा समझकर निष्कामभावसे आपका निरन्तर भजन करते हैं, उनके लिये राज्यादि भोगोंकी अपेक्षा आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही भजनका सच्चा फल है। स्वामिन् ! यद्यपि बात ऐसी ही है, तो भी गौ जैसे अपने तुरंतके जन्मे हुए बछड़ेको दूध पिलाती और व्याघ्रादिसे बचाती रहती है, उसी प्रकार आप भी भक्तोंपर कृपा करनेके लिये निरन्तर विकल रहनेके कारण हम-जैसे सकाम जीवोंकी भी कामना पूर्ण करके उनकी संसार-भयसे रक्षा करते रहते हैं ॥ १७ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! जब शुभ सङ्कल्पवाले मतिमान् ध्रुवजीने इस प्रकार स्तुति की तब भक्तवत्सल भगवान् उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे ॥ १८ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजकुमार ! मैं तेरे हृदयका सङ्कल्प जानता हूँ। यद्यपि उस पदका प्राप्त होना बहुत कठिन है, तो भी मैं तुझे वह देता हूँ। तेरा कल्याण हो ॥ १९ ॥

भद्र ! जिस तेजोमय अविनाशी लोकको आजतक किसीने प्राप्त नहीं किया, जिसके चारों ओर ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र उसी प्रकार चक्र काटता रहता है जिस प्रकार मेढीके* चारों ओर दैवरीके बैल घूमते रहते हैं। अवान्तर कल्पपर्यन्त रहनेवाले अन्य लोकोंका नाश हो जानेपर भी जो स्थिर रहता है तथा तारागणके सहित धर्म, अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि नक्षत्र एवं सप्तर्षिगण जिसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं, वह ध्रुवलोक मैं तुझे देता हूँ ॥ २०-२१ ॥